संकाय पत्रिका

श्रमणविद्या

[भाग - ३]

संस्कृतवर्ष - विशेषाङ्क

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

SAṄKĀYA PATRIKĀ

ŚRAMAṆAVIDYĀ

[Vol. 3]

BOARD OF EDITORS

DR. RĀJĪVA RAÑJANA SINGH

DR. RAMEŚA KUMĀRA DVIVEDĪ

DR. FŪLACANDA JAINA

EDITED BY

PROF. BRAHMADEVA NĀRĀYAṆA ŚARMĀ

Head, Pali and Theravāda Department

&

Dean, Faculty of Śramaṇa-Vidyā

SAMPURNANAND SANSKRIT UNIVERSITY, VARANASI

2000

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

❐

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❐

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❐

First Edition, 500 Copies

Price : Rs. 280.00

❐

Printed by—
Shreejee Computer Printers
Nati Imali, Varanasi-221 002

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकाय पत्रिका

श्रमणविद्या

[भाग- ३]

सम्पादक-मण्डल

डॉ० राजीव रंजन सिंह

डॉ० रमेश कुमार द्विवेदी

डॉ० फूलचन्द जैन

सम्पादक

प्रो० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा

अध्यक्ष, पालि एवं थेरवाद विभाग

एवं

अध्यक्ष, श्रमणविद्या-संकाय

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

२०००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक —
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

❐

प्रकाशक —
डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी
निदेशक, प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

❐

प्राप्ति-स्थान —
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

❐

प्रथम संस्करण – ५०० प्रतियाँ

मूल्य – २८०.०० रूपये

❐

मुद्रक —
श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी-२२१००२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

डॉ. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा द्वारा सम्पादित '**श्रमणविद्या**' संकाय-पत्रिका के तृतीय भाग की प्रस्तावना लिखते हुए मुझे अत्यन्त हर्षानुभूति हो रही है। प्रो. शर्मा जी ने '**श्रमणविद्या**' के इस तृतीय भाग का सम्पादन बड़ी तल्लीनता से किया है। जैसा कि उन्होंने अपने सम्पादकीय में लिखा है कि विगत कई वर्षों से यह पत्रिका प्रकाशित नहीं होती रही है। फलस्वरूप शोधार्थियों को इस पत्रिका के अनेक अङ्क अप्राप्य रहे हैं, जिनसे शोध-जगत् की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान हो सकता था। अस्तु।

मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि परम्पराएँ ही इतिहास के रूप में परिणत होती हैं। परम्पराओं का पुङ्खानुपुङ्ख भाव से अनुशीलन ही इतिहास का उन्मीलन माना जाता है। **प्रो. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा** हमारे विशेषरूप से साधुवाद के अधिकारी हैं, जिन्होंने परम्पराओं के टूटे हुए सेतु को सम्पृक्त करने का श्लाघनीय कार्य किया है। ऐसे ही कार्यों को ध्यान में रखते हुए महाकवि कालिदास ने लिखा है कि—"**ततान सोपानपरम्परामिव**"।

'**श्रमणविद्या**' संकाय-पत्रिका का यह तृतीय पुष्प-स्तबक पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होकर विद्वानों के करकमलों में प्रस्तुत है, जिसके सुवास से चतुर्दिक् सुवासित हो सकेगा। महाकवि श्रीहर्ष ने अपने नैषधीय महाकाव्य में लिखा है कि जिस प्रकार वृक्ष बाल-पल्लव, पुष्प तथा फलयुक्त मञ्जरी का प्रस्फुटन करता हुआ दिग्दिगन्त को सुवासित करता है, उसी प्रकार नाना विद्याओं के नव-पल्लव, पुष्प तथा फलयुक्त मंजरियाँ ग्रन्थ के आकार में परिणत होकर अपने सुवास से मानव-चेतना की अतल गहराइयों को भी सुवासित एवं प्रस्फुटित कर देती हैं। यथा—

अनर्घ्यरत्नौघमयेन मण्डितो रराज राजा मुकुटेन मूर्धनि ।
वनीपकानां स हि कल्पभूरुहस्ततो विमुञ्चन्निव मञ्जुमञ्जरीम् ।।

(नै.च. १५।६०)

'**श्रमणविद्या**' संकाय-पत्रिका का यह तृतीय स्तबक उस मणि-काञ्चन संयोग का निर्माण कर रहा है, जिसकी चर्चा किये विना नहीं रहा जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस पत्रिका का यह तृतीय पुष्प-स्तबक अपने में १८ निबन्धों एवं ६ लघु-ग्रन्थों को समेटे हुए **संस्कृत-वर्षाङ्क** के रूप में प्रकाशित हो रहा है, जो निश्चय ही मणि-काञ्चन संयोग के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। विद्वज्जन सुपरिचित हैं कि भारत सरकार ने **५१०१ युगाब्द** को **संस्कृत-वर्ष** के रूप में घोषित किया है। इस संस्कृत-वर्ष में जितने सारस्वत अनुष्ठान इस विश्वविद्यालय में अनुष्ठित हुए हैं, उनका आलेख-पत्र भी इस पुष्प-स्तबक में अनुस्यूत है। वस्तुत: संस्कृत-वर्ष ने प्राच्य भारतीय विद्याओं एवं संस्कृत-भाषा के विकास की दिशा में नव-नवोन्मेष का सुअवसर प्रदान किया है। '**श्रमणविद्या**' संकाय-पत्रिका के तृतीय पुष्प-स्तबक को संस्कृत-वर्षाङ्क के रूप में प्रकाशित हुआ देखना हमारे लिए अतिशय सुखद अनुभूति है।

मैं यहाँ इस पत्रिका के लिए महनीय निबन्धों को प्रदान करने वाले विद्वानों एवं लघु-ग्रन्थों के रूप में अपने नव-पल्लव के समान रोमन, सिंहली, बर्मी आदि लिपियों से देवनागरी लिपि में रूपान्तरित करके सम्पादित करने वाले मनीषियों को हार्दिक साधुवाद प्रदान करना अपना अहोभाग्य समझता हूँ और इस पुष्प-स्तबक के सम्पादक-मण्डल के सदस्यों के साथ ही साथ इसके सम्पादक **प्रो. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा** को पौन:पुन्येन धन्यवाद प्रदान करता हूँ, जिनके अथक परिश्रम से इस परम्परा की कड़ी अग्रेसर हो रही है।

इसी प्रकार इस पुष्प-स्तबक को शीघ्र एवं हृदयावर्जक रूप में प्रकाशित करने के लिए प्रकाशन-संस्थान के निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी**, प्रकाशन सहायक **श्री कन्हई सिंह कुशवाहा**, ईक्ष्यशोधन-प्रवीण **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय**, सहायक सम्पादक **डॉ. ददन उपाध्याय**, ईक्ष्यशोधक **श्री अशोक कुमार शुक्ल** एवं **श्री अतुल कुमार भाटिया** को सधन्यवाद आशीर्वाद प्रदान करता हूँ। अथ च इसके आकर्षक मुद्रण हेतु श्रीजी-मुद्रणालय के संचालक **श्री अनूप कुमार नागर** को भी सधन्यवाद आशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

अन्त में सान्नपूर्णा श्रीकाशी-विश्वेश्वर के कर-कमलों में इस पुष्प-स्तबक को समर्पित करते हुए उनसे प्रार्थना करता हूँ कि '**श्रमणविद्या**' के नव-दिगुन्मीलन में यह पुष्प-स्तबक कृतकार्य हो।

राममूर्ति शर्मा

वाराणसी
श्रावण-कृष्ण एकादशी,
वि.सं. २०५७

राममूर्ति शर्मा
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

'श्रमणविद्या' संकाय-पत्रिका 'संस्कृतवर्ष-विशेषाङ्क' ज्ञानोपायन के रूप में मनीषी विद्वज्जनों एवं सुधी अध्येताओं के हाथों में समर्पित करते हुए मुझे हर्षातिरेक की अनुभूति हो रही है। विशेष आनन्द की अनुभूति इसलिए हो रही है कि इस ज्ञान-यज्ञ के सम्पादन में प्राच्यविद्या के विशेषज्ञों, विद्वानों एवं धर्मधुरीण विचारकों का सहयोग मुझे निरायास मिला है। इसमें जिन विद्वानों के शोधपरक अधिनिबन्धों का समाकलन हुआ है, वे अपने क्षेत्र के अधीति विद्वान् और सुविचारक हैं, इसमें किञ्चित् आशङ्का का कोई अवकाश नहीं है। शोध-निबन्धों के अतिरिक्त इसमें लघुग्रन्थों को भी प्रकाशित किया जा रहा है, जो सर्वथा अप्राप्य एवं दुर्लभ थे। सिंहली, बर्मी, रोमन आदि लिपियों में ये पुस्तकें उपनिबद्ध थीं; किन्तु देवनागरी लिपि में इन ग्रन्थों का कोई संस्करण उपलब्ध नहीं था, जिससे अध्येताओं एवं गवेषकों को कठिनाई का अनुभव हो रहा था। इन्हीं कठिनाइयों के अपाकरण के लिए इन ग्रन्थों को पाठ-संशोधन तथा सारभूत भूमिकाओं के साथ **'श्रमणविद्या'** संकाय-पत्रिका में प्रकाशित कर पाठकों के लिए सुलभ किया जा रहा है। दुर्लभ एवं अप्रकाशित लघु-ग्रन्थों का प्रकाशन इस पत्रिका का महान् लक्ष्य रहा है।

विगत कई वर्षों में **'श्रमणविद्या'** संकाय-पत्रिका अपरिहार्य कारणों से प्रकाशित नहीं हो सकी। संकाय एवं अन्य विद्वानों के सहयोग से इसका प्रकाशन किया जा रहा है, जिससे अध्येताओं एवं गवेषकों को महत्त्वपूर्ण शोध-निबन्धों तथा लघुग्रन्थों के द्वारा शोध-क्षेत्र में सहायता मिलेगी, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत **'श्रमणविद्या'** संकाय-पत्रिका में अट्ठारह शोध-निबन्ध प्रकाशित किये जा रहे हैं। 'बौद्धवाङ्मय में मङ्गल की अवधारणा' आचार्य श्री ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन' द्वारा लिखित शोध-निबन्ध सम्पूर्ण पालि वाङ्मय में मङ्गल की क्या अवधारणा रही है, इस पर प्रकाश डालता है तथा आध्यात्मिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिप्रेक्ष्य में इसकी उपयोगिता को प्रदर्शित करता है, इससे शोधार्थियों को अत्यन्त लाभ मिल सकेगा।

'वर्तमान समय में बुद्धवचन की प्रासङ्गिकता' प्रो.विश्वनाथ बनर्जी, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-पालि-प्राकृत विभाग, शान्ति निकेतन द्वारा प्रस्तुत शोध एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गवेषणापूर्ण निबन्ध है, जिसमें वर्तमान काल में बुद्धवचन की प्रासङ्गिकता पर प्रकाश डाला गया है। प्रो. रामशंकर त्रिपाठी जी द्वारा प्रस्तुत 'बौद्धदर्शन में कालतत्त्व' जिज्ञासुवों के लिए अत्यन्त उपादेय एवं शोधपरक है। इसमें बौद्धदर्शन के चार प्रस्थानों—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक दृष्टिकोण से कालतत्त्व पर प्रकाश डाला गया है, जो बौद्ध-विद्या के गवेषकों के लिए अत्यन्त उपादेय एवं पथ-निर्देशक बन सकते हैं। इसी प्रकार 'बौद्धधर्म में मानवतावादी विचार', 'अभिधर्म और माध्यमिक दर्शन', 'थेरवाद बौद्धदर्शन में निर्वाण', 'बोधिसत्त्व अवधारणा के उदय में बौद्धेतर प्रवृत्तियों का योगदान' आदि निबन्ध अत्यन्त मौलिक एवं गवेषणापूर्ण हैं। संस्कृतविद्या से सम्बन्धित 'काव्यशास्त्र की प्रशाखा के रूप में कवि-शिक्षा का मूल्याङ्कन', 'शोभाकर मित्र की काव्यदृष्टि' नवीन चिन्तन से ओत-प्रोत तथा अत्यन्त उपयोगी निबन्ध हैं। संस्कृत में लिखित ''नेपालराष्ट्रे बौद्धदर्शनस्याध्ययनाध्यापनयोर्व्यवस्था तद्विश्लेषणं च'' शीर्षक निबन्ध नेपाल में बौद्ध अध्ययन-अध्यापन की स्थितियों का मूल्याङ्कन प्रस्तुत करता है। यह निबन्ध डॉ. रमेश कुमार द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत किया गया है। 'बंगाल के प्राचीन बौद्धविहारों में श्रमणों के नियम और शिक्षा व्यवस्था', 'भोटदेश में बौद्धधर्म एवं श्रमणपरम्परा का आगमन' अत्यन्त सूचनाप्रद तथा खोजपरक निबन्ध हैं।

प्राकृत एवं जैनविद्या से सम्बन्धित 'जैनदर्शन में कर्म-सिद्धान्त', 'जैनदर्शन का व्यावहारिक पक्ष', 'जैन श्रमण परम्परा और अनेकान्त दर्शन' जैन सिद्धान्तों तथा जैनदर्शन को उजागर करते हैं। ये सभी निबन्ध अत्यन्त मौलिक तथा गवेषकों के लिए मार्गदर्शक हो सकते हैं। प्राकृत विद्या से सम्बन्धित 'प्राकृत-कथा-साहित्य—उद्भव, विकास एवं व्यापकता', 'शौरसेनीप्राकृत साहित्य के प्रमुख आचार्य और उनका योगदान' प्राकृत साहित्य के गवेषकों के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं उपादेय हैं। अन्त में 'काशी और जैन श्रमणपरम्परा' नामक शोध-निबन्ध काशी से सम्बद्ध जैन परम्परा का परिचय प्रस्तुत करता है। इस प्रकार ये सभी निबन्ध अत्यन्त मौलिक एवं शोधार्थियों के लिए उपादेय हैं। ये सभी निबन्ध उन सम्भावनाओं को उजागर करते हैं, जो भारतीय विद्याओं की समग्रता में अनुशीलन का पाथेय बन सकती हैं।

पालि गाथाओं में उपनिबद्ध **'सच्चसङ्खेप'** देवनागरी लिपि में प्रथम बार प्रस्तुत है। **प्रो. लक्ष्मी नारायण तिवारी** ने रोमन, बर्मा के छट्ठसंगायन संस्करण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से पाठ का सम्यक् रूप से मिलान करते हुए इसका मूलपाठ निर्धारित किया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि जर्नल आफ पालि टेक्स्ट सोसायटी के रोमन लिपि में इसका जो संस्करण हुआ था, वह समीचीन नहीं था। इसके साथ ही प्रो. तिवारी ने महत्त्वपूर्ण थेरवाद की दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों पर अन्य पूर्ववर्ती ग्रन्थों से टिप्पणियाँ भी प्रस्तुत की हैं। इस ग्रन्थ के आलोडन से यह ज्ञात होता है कि यह 'अभिधम्मत्थसंगहो' के बाद का और इस पर लिखी गई 'विभाविनी' टीका के पूर्व की रचना है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु सम्पूर्ण स्थविरवादी अभिधर्म की है। इसके इस देवनागरी संस्करण से अध्येताओं तथा शोधार्थियों को अपने शोध-कार्य में अत्यन्त सहायता प्राप्त होगी।

पालि गद्य में उपनिबद्ध **'बुद्धघोसुप्पत्ति'** एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक रचना है, जिसमें पालि-साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वाले आचार्य बुद्धघोष का जीवनवृत्त वर्णित है। प्रो.जेम्स ने एक हस्तलिखित ताड़पत्र पर इस ग्रन्थ को प्राप्त किया था, जिसका इन्होंने १८९२ ई. में अंग्रेजी अनुवाद के साथ रोमन लिपि में सम्पादन किया था। जो १८९२ ई. के जर्नल आफ पालि टेक्स्ट सोसायटी में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। उसी को आधार मानकर **डॉ. वीरेन्द्र पाण्डेय** ने परिश्रम एवं सावधानीपूर्वक इसका देवनागरीकरण किया है। पाठभेद भी पादटिप्पणी में उद्धृत किया गया है। साथ ही इन्होंने हिन्दी के माध्यम से इसका सङ्क्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी देवनागरी लिपि में अनुपलब्ध एवं अप्राप्य है। इसके प्रकाशन से आचार्य बुद्धघोष के जीवनवृत्त को जानने में बौद्धविद्या के अध्येताओं एवं गवेषकों को प्रभूत सहायता मिलेगी।

'सद्दबिन्दु' बीस कारिकाओं में रचित एक व्याकरण ग्रन्थ है। इसे 'पेगन' के राजा 'क्यचवा' ने १२५० ई. के आस-पास राजमहल की स्त्रियों के प्रयोग हेतु बनाया था। पुनः सद्दकीर्ति महाफुस्सदेव ने इस पर ग्रन्थसार नामक सद्दबिन्दु-विनिच्छयो नाम से एक अनुटीका की रचना की थी, यह टीका एवं अनुटीकाएँ 'कच्चायन व्याकरण' पर आधारित हैं। प्रस्तुत संस्करण का आधार ग्रन्थ जर्नल आफ पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन है। इस दुर्लभ लघु-ग्रन्थ का सम्पादन **डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद** ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक किया है। इससे बौद्धविद्या के सामान्य अध्येताओं को पालि-व्याकरणशास्त्र के अध्ययन में सहायता मिलेगी।

'क्रियासङ्ग्रह' क्रियातन्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें एक अंश देवतायोग का ही यहाँ प्रकाशन किया जा रहा है। इस तरह यह अपूर्ण रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रकाशित है। श्री हितोशी इनोई ने इसका सम्पादन किया था और रोमन अक्षरों में इसका जापान से प्रकाशन हुआ था। भारतीय जिज्ञासुवों के हित की दृष्टि से इसका यहाँ देवनागरी में लिप्यन्तरण प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, इससे तन्त्रसम्बन्धी जानकारी में अभिवृद्धि होगी। इसका सम्पादन **प्रो. रामशङ्कर त्रिपाठी** जी ने किया है।

आचार्य नागार्जुन द्वारा विरचित **'निरौपम्यस्तव'** एवं **'परमार्थस्तव'** अत्यन्त दुर्लभ लघुग्रन्थ है। इसका सम्पादन **प्रो. थुबतन छोगडुब** जी ने परिश्रमपूर्वक किया है। निरौपम्यस्तव में १५ कारिकाएँ हैं, जिन्हें अंग्रेजी अनुवाद के साथ यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें धर्मकाय-स्वरूप-शून्यता का मुख्यरूप से वर्णन करते हुए भक्तिपूर्ण शब्दों द्वारा तथागत की स्तुति की गयी है। परमार्थस्तव में केवल ११ कारिकाएँ हैं। इसमें परमार्थ या शून्यता के यथार्थ ज्ञाता होने की दृष्टि से बुद्ध की स्तुति की गयी है। आचार्य थुबतन छोगडुब जी ने हिन्दी में इनका सारांश भी प्रस्तुत किया है, जिससे सामान्य लोग भी लाभान्वित हो सकेंगे और श्रद्धालुजन इन स्तोत्रों के द्वारा भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धा अर्पित कर सकेंगे।

'षड्दर्शनेषु प्रमाण-प्रमेय-समुच्चयः' एक महत्त्वपूर्ण लघु-ग्रन्थ है। इसका सम्पादन **कुमार अनेकान्त जैन** ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक किया है। इस लघु-ग्रन्थ का प्रणयन अनन्तवीर्याचार्य नामक जैनाचार्य ने १२ वीं सदी में किया था। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित एवं अप्राप्य है। इसके सम्पादन एवं प्रकाशन से सभी दर्शनों के प्रमाण और प्रमेय को सरल भाषा में सामान्य और जिज्ञासु जन को समझने में सहायता मिलेगी। इससे शोधकर्त्ता भी लाभ उठा सकेंगे।

'श्रमणविद्या' भाग-३ में प्रकाशित उपर्युक्त सामग्री प्राच्यविद्याओं के अनुशीलन एवं शोध में कितनी उपयोगी सिद्ध होगी, यह इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों एवं गवेषकों के प्रयत्नों पर निर्भर करेगी।

भारत सरकार ने १९९९-२००० वर्ष को संस्कृतवर्ष घोषित किया। माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** जी के प्रयास से **सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय** को संस्कृत के प्रचार-प्रसार हेतु एक योजना की स्वीकृति मिली। फलस्वरूप इस विश्वविद्यालय में अनेक कार्य-क्रम आयोजित हुए। कुलपति जी के सत्सङ्कल्प के अनुरूप प्राच्यविद्या के डेढ़ सौ विद्वानों का सम्मान किया गया,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसमें देश के विभिन्न स्थानों से विद्वानों ने भाग लिया। अनेक गोष्ठियाँ सम्पन्न हुईं, जिनमें प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शास्त्रों पर गम्भीर चर्चाएँ हुईं। अनेक शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये। इसीलिए इस पत्रिका को 'संस्कृतवर्ष-विशेषाङ्क' के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। कुलपति **प्रो. राममूर्त्ति शर्मा** के सौजन्य एवं मार्गदर्शन से ही **'श्रमणविद्या'** संकाय-पत्रिका आज इस रूप में प्रस्तुत हो सकी है। उन्होंने कृपापूर्वक इस पर अपनी शुभाशंसा लिखकर इसका गौरव बढ़ाया है, अतः उनके प्रति विनम्र भाव से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

श्रमणविद्या संकाय के सामूहिक प्रयत्न की प्रस्तुति एवं पारस्परिक सौहार्द और सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हुआ है। अतः इस भाग के सम्पादक-मण्डल तथा लेखन-सम्पादन सहयोग के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। प्राच्यविद्या के विश्रुत विद्वानों ने अपने निबन्धों से '**श्रमणविद्या**' पत्रिका को समृद्ध बनाया है, उनके प्रति विनतभाव से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। प्रकाशन संस्थान के निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** के हम विशेष आभारी हैं, जिन्होंने संस्कृतवर्ष के कार्य-क्रमों का सङ्क्षिप्त विवरण देकर पत्रिका के सार्थकभाव को सिद्ध किया है, साथ ही जिनके सहयोग से **'श्रमणविद्या'** पत्रिका का तीसरा भाग सुसज्जित रूप में प्रकाशित हो सका है। प्रकाशन से सम्बन्धित **डॉ. हरिवंश पाण्डेय**, **डॉ. ददन उपाध्याय** एवं अन्य सहयोगीगण को साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने प्रूफ संशोधन आदि में सहायता की है। 'श्रमणविद्या' पत्रिका के इस अंक को स्वल्प समय में इतने आकर्षक रूप में मुद्रित करने हेतु श्रीजी कम्प्यूटर प्रिंटर्स के संचालक **श्री अनूप कुमार नागर** को सस्नेह साधुवाद प्रदान करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अन्य जिनका भी सहयोग रहा है, उन सबके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। सभी प्रकार की सावधानी रखने के बाद भी त्रुटियाँ सम्भव हैं, विद्वज्जन उनके परिमार्जनपूर्वक इसे स्वीकार करेंगे।

वाराणसी
गुरुपूर्णिमा,
वि.सं. २०५७

ब्रह्मदेव नारायण शर्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पणाम-गाथा

सब्बञाणगुणोपेतं बुद्धं धम्मं अनाविलं।
नमामि अरियसङ्घञ्च पठमं सुसमाहितं ।।
महाकारुणिको बुद्धो धम्मिस्सरो अनुत्तरो ।
सेट्ठो तिलोकमहितो सुरियो 'व विरोचति ।।
उप्पाटितमोहपटलो, सम्बुद्धो सुदेसको ।
पुण्णचन्दो व संसुद्धो, भाति लोके अनासवो ।।
धम्मो समुद्दो' 'व गम्भीरो विमलो संसोभनो ।
अब्भामुत्तो सुचन्दो' व, एकायनो पभस्सरो ।।
बुद्धेन देसितो धम्मो सब्बलोकोपकारको ।
पवाहेति मलं सब्बं, सब्बपापविसोधको ।।
दिट्ठिसीलसंघातो संघो तु सुसंहतो ।
खेमन्तभूमिप्पत्तो व, सङ्घो लोके पकासति ।।
संघो' यं पणीतो च पीणितो धम्मगोचरो ।
पुञ्ञक्खेत्तसंभूतो, सुद्धो सल्लविनासको ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृतवर्ष-समारोहों की फलश्रुतियाँ

भारत सरकार ने युगाब्द ५१०१ को '**संस्कृत-वर्ष**' के रूप में घोषित कर पूरे वर्ष संस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिए विविध कार्य-क्रम आयोजित करने की एक योजना बनायी। भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मन्त्रालय ने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय को विविध कार्य-क्रम आयोजित करने के लिए स्वीकृति प्रदान की। कर्मठ एवं उत्साही कुलपति माननीय **प्रो. राममूर्ति शर्मा** ने पूर्ण उत्साह के साथ वि.सं. २०५६, १९९९-२००० ई. में संस्कृत-वर्ष मनाने के लिए **शुभारम्भ करने की** घोषणा की।

७ सितम्बर, १९९९ ई. को शताब्दी-भवन में '**संस्कृतवर्ष-शुभारम्भ-समारोह**' बड़े धूम-धाम से मनाया गया। इस समारोह की अध्यक्षता माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** ने की। माननीय **प्रो. रामकरण शर्मा** ने मुख्य अतिथि एवं **प्रो. सुधांशुशेखर शास्त्री** ने विशिष्ट अतिथि के आसन को सुशोभित किया। पण्डित **श्री शिवजी उपाध्याय** के नवरचित गीत '**जयति सुवर्षं संस्कृतवर्षम्**' के गान से सम्पूर्ण सभा भाव-विभार हो गयी। माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** ने मुख्य अतिथि एवं विशिष्ट अतिथि को परम्परा के अनुसार नारिकेल, चन्दन एवं माल्यार्पण के साथ उत्तरीय प्रदान कर अभिनन्दन करते हुए कहा कि इस संस्कृत-वर्ष में ख्यातिप्राप्त दो सौ संस्कृत के विशिष्ट विद्वानों को सम्मानित किया जायेगा। सभा का सञ्चालन पण्डित श्री शिवजी उपाध्याय ने किया।

[क] त्रिदिवसीय संस्कृत-पत्रकारिता-सङ्गोष्ठी एवं 'सारस्वती सुषमा' स्वर्णजयन्ती-समारोह

युगाब्द ५१०१ (वि.सं.२०५६, १९९९-२००० ई.) को संस्कृत-वर्ष के रूप में मनाने के लिए २१ सितम्बर से २३ सितम्बर, १९९९ तक 'त्रिदिवसीय संस्कृत-पत्रकारिता-सङ्गोष्ठी एवं 'सारस्वती सुषमा' स्वर्णजयन्ती-समारोह का आयोजन किया गया। इसका उद्घाटन समारोह पूर्व-काशीनरेश माननीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ. विभूतिनारायण सिंह शर्मदेव की अध्यक्षता एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति **प्रो. वाई.सी. सिम्हाद्रि** के मुख्यातिथित्व में सम्पन्न हुआ।

प्रकाशन संस्थान के निदेशक ने मञ्चस्थ सभाध्यक्ष एवं अन्य अतिथियों को माल्यार्पण कर स्वागत किया। इसके बाद विभिन्न संघों के अधिकारियों एवं विद्वानों ने माल्यार्पण किया। 'सारस्वती सुषमा' पत्रिका का परिचय देते हुए प्रकाशन निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** ने कहा कि इसका इतिहास बहुत पुराना है। इस विश्वविद्यालय की पूर्व-संस्था राजकीय संस्कृत कालेज के द्वारा सन् १८६६ ई.में 'दि पण्डित पत्रिका' (काशीविद्यासुधानिधि) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। १९१७ ई. तक अविच्छिन्न रूप से इसका प्रकाशन चलता रहा। उसके बाद यह पत्रिका '**सरस्वतीभवन-ग्रन्थमाला**' एवं '**सरस्वतीभवन-अध्ययनमाला**' के रूप में प्रचलित हुई और १९४२ ई. से वही शृङ्खला '**सारस्वती सुषमा**' के नाम से परिणत हुई, जो आज तक निरन्तर प्रकाशित हो रही है। आज इसका ५१वाँ अङ्क स्वर्णजयन्ती-विशेषाङ्क के रूप में प्रकाशित हो रहा है।

इसके बाद माननीय कुलपति जी के सत्सङ्कल्पानुसार लब्धप्रतिष्ठ संस्कृत के पच्चीस मूर्धन्य विद्वानों के सम्मान की शृङ्खला प्रारम्भ हुई। कुलपति प्रो.शर्मा ने चन्दन, माल्यार्पण के साथ नारिकेल, उत्तरीय, सम्मानपत्र एवं रू.५१०० (पाँच हजार एक सौ रूपये) प्रदान कर विद्वानों का सम्मान एवं अभिनन्दन किया। सम्मानित होने वाले विद्वानों में पण्डित श्रीविद्यानिवास मिश्र, प्रो.वि. वेङ्कटाचलम्, पण्डित श्रीकुबेरनाथ शुक्ल, प्रो. रामजी उपाध्याय, प्रो. विश्वनाथ भट्टाचार्य, पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते, प्रो. सुधांशुशेखर शास्त्री, पं. विश्वनाथ शास्त्री दातार, पं. श्रीवासुदेव द्विवेदी, पं. श्रीकमलाकान्त शुक्ल, पं. परमहंस मिश्र, पं. केदारनाथ त्रिपाठी आदि के नाम सम्मिलित हैं। मुख्य अतिथि के रूप में अपने उद्‌बोधन में **प्रो. वाई.सी. सिम्हाद्रि** ने कहा कि संस्कृत का महत्त्व केवल भारत में ही नहीं, अपितु पूरे विश्व में है। संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषा है, जो सहस्राब्दियों से मानव-समाज का मार्गदर्शन करती आ रही है। सभा की अध्यक्षता करते हुए पूर्व-काशीनरेश एवं विश्वविद्यालय के प्रतिकुलाधिपति माननीय **डॉ. विभूतिनारायण सिंह शर्मदेव** ने वर्तमान स्थिति में केन्द्र एवं राज्य सरकार के संस्कृत के प्रचार-प्रसार एवं उत्थान की दिशा में अपेक्षाकृत उदासीनता पर चिन्ता व्यक्त की। संस्कृत विद्वानों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के सम्मान पर हर्ष व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि यह अत्यन्त गौरव का विषय है कि विश्वविद्यालय सरकार के भरोसे न रहकर अपने बल पर विद्वानों का सम्मान कर रहा है, इससे संस्कृत के विद्वानों में आत्मविश्वास बढ़ा है और वे अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं।

उद्घाटन समारोह के पश्चात् २१ से २३ सितम्बर तक चार व्याख्यान-सत्र चले, जिनमें 'पत्रकारिता में संस्कृत का अवदान', 'संस्कृत-पत्रकारिता की ऐतिहासिक परम्परा', 'दैनिक संस्कृत-पत्रकारिता का मार्ग-निर्देशन' एवं 'संस्कृतपत्रकारिता की लोकमङ्गल-भावना' विषय पर विभिन्न विद्वानों ने अपने गम्भीर व्याख्यान एवं निबन्ध प्रस्तुत किये। व्याख्यानकर्ताओं में **प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, पण्डित श्री शिवजी उपाध्याय, श्री केदारनाथ त्रिपाठी, प्रो. राधेश्यामधर द्विवेदी, प्रो. रामजी उपाध्याय, प्रो. श्रीकान्त पाण्डेय,** 'माया' मासिक पत्रिका के पत्रकार **श्री वसिष्ठ मुनि ओझा, डॉ. सोमनाथ त्रिपाठी** आदि विद्वान् प्रमुख थे।

२३ सितम्बर, १९९९ को अपराह्न ३ बजे से शताब्दी-भवन में त्रिदिवसीय सङ्गोष्ठी का सम्पूर्तिमङ्गल एवं **'सारस्वती सुषमा स्वर्णजयन्ती-विशेषाङ्क'** का लोकार्पण-समारोह प्रारम्भ हुआ। इस सत्र के अध्यक्ष माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** जी एवं मुख्य-अतिथि पूर्वकुलपति माननीय **प्रो. वि. वेङ्कटाचलम्** जी थे। अतिथियों का स्वागत करते हुए माननीय कुलपति प्रो. शर्मा ने संस्कृत-वर्ष में सम्पन्न होने वाली अपनी योजनाओं से लोगों को अवगत कराया एवं 'सारस्वती सुषमा' की गुणवत्ता पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि यह मात्र पत्रिका नहीं है, बल्कि ग्रन्थमाला है। इसमें संस्कृतवाङ्मय की सम्पूर्ण शाखाओं के विषय उपलब्ध होते हैं। सारस्वती सुषमा के स्वर्णजयन्ती-विशेषाङ्क का परिचय देते हुए पत्रिका के सम्पादक एवं प्रकाशन निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** ने बताया कि विद्वानों के चिन्तन-मनन के लिए संस्कृत-वाङ्मय की सभी शाखाओं के लेख इसमें संयोजित किये गये हैं। इसमें वैदिकी, तान्त्रिकी, शाब्दिकी, ज्यौतिषी, दार्शनिकी, साहित्यिकी, पौराणिकी, सांस्कृतिकी एवं प्राकीर्णिकी सुषमा का निवेश है।

इस विश्वविद्यालय की त्रैमासिकी अनुसन्धान-पत्रिका का एकावनवाँ वर्ष का यह अङ्क स्वर्णजयन्ती-विशेषाङ्क के रूप में आप लोगों के करकमलों में समर्पित करता हुआ प्रकाशन-संस्थान गौरवान्वित हो रहा है। स्मरणीय है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके पूर्व भी रजतजयन्ती, म.म.गोपीनाथकविराज, विश्वसंस्कृतसम्मेलन एवं शङ्कराचार्य आदि विशेषाङ्क प्रकाशित हुआ है। विश्वविद्यालय के कुलसचिव **श्री राणाप्रताप सिंह** ने आगत अतिथियों एवं सम्पूर्ण सहयोगियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापन किया। सभा का सञ्चालन पण्डित **श्री शिवजी उपाध्याय** ने किया। सामूहिक राष्ट्रगान से सभा का विसर्जन हुआ।

[ख] चतुर्दिवसीय षड्दर्शन-सङ्गोष्ठी

'संस्कृतवर्ष' के उपलक्ष्य में आयोजित समारोहों के क्रम में १९-२२ नवम्बर, १९९९ तक विश्वविद्यालय द्वारा शताब्दी-भवन में चतुर्दिवसीय षड्दर्शनसङ्गोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें माननीय कुलपति जी द्वारा सङ्कल्पित दो सौ में से २५ विद्वानों को सम्मानित करने का कार्यक्रम भी आयोजित हुआ।

इस कार्यक्रम के उद्घाटन समारोह के अध्यक्ष माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा,** मुख्य-अतिथि महामहिम राज्यपाल **श्री सूरजभान जी** एवं सम्मानित अतिथि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति **प्रो. वाई.सी. सिम्हाद्रि** तथा विशिष्ट सम्मानित अतिथि **डॉ. पी.सी. पतञ्जलि** जी रहे। महामहिम राज्यपाल महोदय ने दीप प्रज्वलित कर कार्यक्रम के शुभारम्भ की विधिवत् घोषणा की। इसके बाद कुलपति जी ने महामहिम राज्यपाल महोदय को उत्तरीय एवं नारिकेल प्रदान करते हुए माल्यार्पण कर स्वागत अभिनन्दन किया।

तदनन्तर '**भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा**' ग्रन्थ के लोकार्पण का कार्य प्रारम्भ हुआ। ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार का परिचय कराते हुए **प्रो. श्रीकान्त पाण्डेय** ने बताया कि इस ग्रन्थ के महनीय लेखक माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** जी हैं। आपने अनेकों ग्रन्थों के लेखन का कार्य सम्पन्न किया है, जिसमें 'शङ्कराचार्य, उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन', 'विश्व-संस्कृति', 'वैदिक-साहित्य का इतिहास', 'न्यायवैशेषिक एवं चिन्तन' आदि प्रमुख हैं।

आप विश्वसंस्कृतसम्मेलनों में भारत का प्रतिनिधित्व करते रहे हैं। **'भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा'** एक महनीय ग्रन्थ है। इसमें ऋग्वेद से प्रारम्भ कर आधुनिक काल तक के दार्शनिक चिन्तन का अपूर्व विश्लेषणात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में दार्शनिक चिन्तन के विकास के अध्ययन, सभी दार्शनिक सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों के प्रवर्तक आचार्यों एवं उनके ग्रन्थों का परिचयात्मक विश्लेषण हुआ है। इसके बाद करतलध्वनि के बीच महामहिम राज्यपाल **श्री सूरजभान** जी ने ग्रन्थ को लोकार्पित किया। ग्रन्थकार **प्रो. राममूर्ति शर्मा** जी ने प्रशासक, चिन्तनपरायण, परमसम्माननीय महामहिम राज्यपाल जी के प्रति ग्रन्थ के लोकार्पण के लिए कृतज्ञता ज्ञापन किया।

इसके बाद महामहिम राज्यपाल महोदय ने मूर्धन्य विद्वानों को चन्दना-नुलेपन, माल्यार्पण एवं उत्तरीय वस्त्र प्रदान करते हुए सम्मानपत्र एवं रू. ५१०० की धनराशि प्रदान की। सम्मानित होने वाले विद्वानों के नाम निम्नलिखित हैं— प्रो. कृष्णचन्द्र द्विवेदी, प्रो. चन्द्रशेखर शुक्ल, डॉ. एस. रङ्गनाथ, प्रो. वशिष्ठ त्रिपाठी, प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी, प्रो. पारसनाथ द्विवेदी (पुराण), प्रो. श्रीकृष्ण सेमवाल, डॉ. रामरङ्ग शर्मा, प्रो. वागीशदत्त पाण्डेय, प्रो. आद्या प्रसाद मिश्र, प्रो. भोलाशङ्कर व्यास, प्रो. लक्ष्मी नारायण तिवारी, प्रो. हर्षस्वरूप शास्त्री, डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी, प्रो. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा आदि प्रमुख हैं। इसी क्रम में वेदान्तादि शास्त्रों के मूर्धन्य विद्वान् वेदान्तविभाग के आचार्य **प्रो. पारसनाथ द्विवेदी** जी को **सर डॉ. राधाकृष्णन्** पुरस्कार से सम्मानित किया गया। सम्मानित करने वालों में महामहिम राज्यपाल के साथ-साथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति **प्रो. वाई.सी.सिम्हाद्रि** एवं **प्रो. राममूर्ति शर्मा** जी भी सम्मिलित थे।

मुख्य-अतिथि पद से बोलते हुए महामहिम राज्यपाल ने कहा कि **भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा** ग्रन्थ का लोकार्पण करते हुए मैं हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। भारतीय दर्शन मानवतावादी दर्शन है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना होने के कारण समस्त विश्व को एक सूत्र में बाँधने की इसमें क्षमता है। विद्वानों को सम्मानित करते हुए अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हुए उन्होंने कहा कि आज पूरे विश्व की दृष्टि संस्कृत की ओर लगी है। अमेरिका के कम्प्यूटर वैज्ञानिक भी अनुभव कर रहे हैं कि संस्कृत ही कम्प्यूटर के लिए सक्षम भाषा हो सकती है। संस्कृत के उत्थान के लिए हर सम्भव प्रयास होना चाहिए। **प्रो. वशिष्ठ त्रिपाठी** ने धन्यवाद ज्ञापन किया। सभा की परिणति **'पाणिनि कन्या महाविद्यालय'** की कन्याओं के राष्ट्रगान से हुई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्दिवसीय षड्दर्शन सङ्गोष्ठी चार सत्रों में चली, जिसमें अनेक विद्वानों ने अनुसन्धानात्मक निबन्धों का वाचन किया। **प्रो. रहस बिहारी द्विवेदी** का 'रसास्वादः', **प्रो. भोलाशङ्कर व्यास** का 'संस्कृतकाव्येषु सङ्केतिताः सांख्ययोगयोर्दार्शनिकराद्धन्ताः', **डॉ. महेशप्रकाश शर्मा** का 'शब्दब्रह्मवादः', **प्रो. बलिराम शुक्ल** का 'असदर्थविषये शाब्दबोधविचारः', **प्रो.उमाशङ्कर शुक्ल** का 'भारतीय-ज्योतिषे गणितज्योतिषस्यावधारणा' आदि निबन्ध बहुत चर्चित रहे।

[ग] त्रिदिवसीय शास्त्रसङ्गोष्ठी

संस्कृतवर्ष-समारोह की शृङ्खला में दि. १-३ फरवरी, २००० तक त्रिदिवसीय शास्त्रसङ्गोष्ठी, विद्वत्सम्मान एवं **'प्राची पत्रिका'** का लोकार्पण समारोह सम्पन्न हुआ।

प्राची पत्रिका का लोकार्पण-समारोह दि.१ फरवरी, २००० को पूर्वाह्ण १० बजे से माननीय कुलपति **प्रो.राममूर्ति शर्मा** की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। इस सभा के मुख्य अतिथि **श्री राकेशधर त्रिपाठी,** उच्च शिक्षा राज्यमन्त्री थे। छात्रसंघ के अध्यक्ष **श्री सदानन्द चौबे** ने छात्रसंघ द्वारा प्रकाशित होने वाली प्राची पत्रिका का परिचय प्रस्तुत किया।

श्री राकेशधर त्रिपाठी ने प्राची पत्रिका का लोकार्पण कर अपने उद्‌गार में सर्वप्रथम विश्वविद्यालय के विद्वानों के बीच में अपने आमन्त्रण के लिए आभार व्यक्त किया। मन्त्री महोदय ने कहा कि सरस्वती के मन्दिर में विद्वानों का सम्मान एक सङ्गम का प्रतीक है। उन्होंने कहा कि आगे कम्प्यूटर युग आ रहा है, उसमें संस्कृत के विद्यार्थियों की पूर्ण आवश्यकता होगी; क्योंकि संस्कृत ही कम्प्यूटर की भाषा बनने में पूर्ण सक्षम है। छात्रों से अनुरोध करते हुए उन्होंने कहा कि गुरु को गुरु का स्थान देते रहने पर ही छात्रों को भी भविष्य में सम्मान मिलेगा। माननीय श्री त्रिपाठी जी ने कहा कि अध्यापक तथा छात्र दोनों एक-दूसरे के दर्पण हैं, जिनका मलिनता दूर करना काम है। आपने शिक्षा-प्रणाली में सुधार की चर्चा करते हुए शिक्षाविदों से नेक सलाह लेने की आवश्यकता बतायी।

विद्वत्सम्मान के क्रम में तुलसीपीठाधीश्वर जगद्‌गुरु श्री १००८ **रामभद्राचार्य**, **प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी**, पद्मश्री **डॉ. कपिलदेव द्विवेदी** आदि १८ विद्वानों को सम्मानित किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके बाद छः सत्रों में अनेक विद्वानों ने अपने गवेषणात्मक शोध-निबन्ध प्रस्तुत किये, जिसमें तृतीय सत्र दि. २ फरवरी को पूर्वाह्न १० बजे से प्रारम्भ हुआ, जिसके मुख्य अतिथि सङ्कटमोचन मन्दिर के महन्थ **प्रो. वीरभद्र मिश्र** थे। इस सत्र में विभिन्न विद्याओं के विशिष्ट बीस विद्वानों को नारिकेल, उत्तरीय, सम्मानपत्र एवं रू. ५१०० (पाँच हजार एक सौ रूपये) प्रदान कर सभाध्यक्ष माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** ने सम्मानित किया। शोध-निबन्ध-वाचन के क्रम में **श्री वेदप्रकाश शास्त्री**, **प्रो. वीरेन्द्र कुमार वर्मा** आदि विद्वानों ने निबन्ध प्रस्तुत किया। 'रसप्रदीप' नामक ग्रन्थ की समीक्षात्मक व्याख्या करते हुए पण्डित **श्री मानिकचन्द्र मिश्र** ने बताया कि यह ग्रन्थ लगभग १६ वर्ष पूर्व प्रकाश में आया है। इस ग्रन्थ के लेखक **प्रभाकर भट्ट** हैं।

३ फरवरी, २००० को अपराह्ण ३ बजे से माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** की अध्यक्षता में समापन सत्र प्रारम्भ हुआ। इस सत्र में उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष **श्री केशरीनाथ त्रिपाठी** मुख्य अतिथि के आसन पर विराजमान थें। **'देवो भूत्वा देवं यजेत'** इस सूक्ति को चरितार्थ करते हुए विद्वानों को सम्मानित करने के पूर्व माननीय कुलपति महोदय ने चन्दन लेपन, नारिकेल एवं उत्तरीय के साथ अभिनन्दन-पत्र प्रदान कर मुख्य अतिथि का सम्मान किया। विश्वविद्यालय द्वारा अभिनव प्रकाशित ग्रन्थों का एक सेट उन्हें समर्पित किया गया।

इसके बाद अपने-अपने क्षेत्र के मूर्धन्य विद्वानों के सम्मान का क्रम प्रारम्भ हुआ। प्रत्येक विद्वान् को चन्दनानुलेप, नारिकेल एवं उत्तरीय के साथ सम्मान-पत्र एवं पाँच हजार एक सौ रूपये नकद राशि प्रदान करते हुए श्री त्रिपाठी एवं माननीय कुलपति प्रो. शर्मा जी पूर्ण आनन्द की अनुभूति कर रहे थे। सम्मानित होने वाले विद्वानों में **प्रो. हरेराम त्रिपाठी, डॉ. लालविहारी पाण्डेय, डॉ. कुबेरनाथ पाठक, पण्डित श्री मानिकचन्द्र मिश्र** आदि १८ विद्वान् सम्मिलित थे। इसके बाद विद्यावारिधि उपाधि से विभूषित विशिष्ट योग्यता धारण करने वाले विश्वविद्यालय के कर्मचारियों को भी सम्मानित किया गया, जिसमें **डॉ. विजय प्रसाद त्रिपाठी डॉ. राजेन्द्रप्रताप त्रिपाठी, डॉ. रामहर्ष पाण्डेय, डॉ. रामेश्वर शर्मा, डॉ. रविशङ्कर भार्गव, डॉ. अरुण कुमार पाण्डेय, डॉ. हरिशङ्कर त्रिपाठी, डॉ. रानी ओझा, डॉ. कृपाशङ्कर पाण्डेय, डॉ. हरि उपाध्याय, डॉ. रामगोपाल मिश्र, डॉ. श्रीधर ओझा, डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय, डॉ. ददन उपाध्याय** एवं **डॉ. मारकण्डेय नाथ तिवारी** के नाम उल्लेखनीय हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख्य अतिथि पद से उद्‌गार व्यक्त करते हुए **श्री केशरीनाथ त्रिपाठी** जी ने कहा कि संस्कृत-भाषा इस देश की प्राण है। हमारे जीवन की हर विधा एवं परम्परा को जीवित रखने का श्रेय संस्कृत को है। विडम्बना है कि यह जिस देश की भाषा है, वहीं इसकी उपेक्षा हो रही है। अमेरिका आदि देशों में जो शोध हुआ है, उससे यह सिद्ध हो गया है कि कम्प्यूटर के लिए संस्कृत से बढ़कर कोई अन्य भाषा नहीं है। उन्होंने कहा कि शेक्सपीयर एवं कालिदास की तुलना में मैं कालिदास को कई गुना अधिक मानता हूँ। हमारी कमी है कि कालिदास के नाटकों का प्रचार सामान्य जन तक नहीं कर पाये हैं। आयुर्वेद की शिक्षा-प्रणाली को विश्व स्वीकार कर रहा है, वह संस्कृत में है। श्री त्रिपाठी ने अपने को विधि का छात्र बताया। धर्मशास्त्र के इतिहास में आपने म.म. प्रो. काणे की चर्चा की। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि न्याय के सम्बन्ध में हमसे ५० प्रतिशत विदेशियों ने लिया है। हममें निषेध की प्रवृत्ति है, यह हमारी कमी है। हमारे देश के दुर्लभ ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ विदेशों में चली गयी हैं, उन्हें लाने का प्रयास होना चाहिए। उन्होंने कहा कि हमें पथ का निर्माण एवं पथ-प्रदर्शक का काम करना है। इस कार्य को संस्कृत के लोग ही कर सकते हैं। श्री त्रिपाठी ने कहा कि जीवन के व्यावहारिक दर्शन को मैंने कहा है। अपनी पीड़ा को मैंने व्यक्त किया है।

प्रो. वशिष्ठ त्रिपाठी के धन्यवाद ज्ञापन एवं सामूहिक राष्ट्रगान के पश्चात् सभा की सम्पूर्ति हुई। इस सभा का सञ्चालन **डॉ. राजीव रंजन सिंह** ने किया।

[घ] चतुर्दिवसीय अखिलभारतीय शास्त्रभाषणमाला-समारोह

दि. १४-१७ फरवरी, २००० तक संस्कृतवर्ष के उपलक्ष्य में चतुर्दिवसीय शास्त्रसम्भाषण-माला का आयोजन हुआ, जिसका उद्‌घाटन-समारोह दि. १४ फरवरी, २००० को अपराह्ण २ बजे से माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। इसके मुख्य अतिथि केन्द्रीय संस्कृत मण्डल के अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायमूर्ति **श्री रङ्गनाथ मिश्र** महोदय थे।

स्वागत भाषण के क्रम में माननीय कुलपति जी ने कहा कि **श्री रङ्गनाथ मिश्र** जी विश्व के गौरव हैं। इनका व्यक्तित्व अध्यात्म, विद्या, प्रतिष्ठा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सज्जनता एवं उदात्तता से ओत-प्रोत है। उन्होंने मुख्य अतिथि को नारिकेल, उत्तरीय के साथ अभिनन्दन-पत्र प्रदान कर स्वागत-अभिनन्दन किया।

मुख्य अतिथि **श्री रङ्गनाथ मिश्र** जी ने कहा कि मैं संस्कृत नहीं जानता, लेकिन संस्कृत से मेरा लगाव है। संस्कृत-भाषा की सेवा करने के लिए मैं तत्पर हूँ। संस्कृत से ही विश्व को ज्ञान मिला है। आप उसे आगे बढ़ाएँ, मैं उसमें सहयोग करने के लिए तैयार हूँ। संस्कृत की धारा में गति लाने के लिए ही इस वर्ष को संस्कृत-वर्ष के रूप में मनाने का प्रयास है। संस्कृत राष्ट्रभाषा बने यह प्रयास होना चाहिए। इसके लिए संस्कृतज्ञों को सैनिक बनना होगा। संस्कृत एक ऐसी भाषा है, जिसमें थोड़े शब्दों के द्वारा बहुत कहने की क्षमता है। आपने संस्कृत को आगे बढ़ाने के लिए संस्कृतज्ञों को आगे आने का आह्वान किया।

प्रो. गङ्गाधर पण्डा ने आगत अतिथियों के प्रति आभार व्यक्त किया। इसके बाद छः सूत्रों में चतुर्दिवसीय शास्त्र-सम्भाषणमाला चली, जिसमें देश के अनेक भागों से आये विद्वानों ने अपने शोध-निबन्ध प्रस्तुत किये। व्याख्याताओं में **प्रो. पारसनाथ द्विवेदी, प्रो. वशिष्ठ त्रिपाठी, प्रो. सत्यकाम वर्मा, डॉ. परमहंस मिश्र, प्रो. राधेश्यामधर द्विवेदी, डॉ. शङ्कर जी झा** आदि के नाम प्रमुख हैं।

१७ फरवरी को अपराह्ण ३ बजे व्याख्यानमाला के सम्पूर्ति-सत्र का शुभारम्भ माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** की अध्यक्षता में हुआ। इस सत्र के मुख्य अतिथि महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के कुलपति **प्रो. राकेशचन्द्र शर्मा** थे। **प्रो. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा** ने चार दिनों में चर्चित विषयों का सारांश प्रस्तुत किया। **प्रो. राकेश चन्द्र शर्मा** ने अपने वक्तव्य में कहा कि सङ्गोष्ठी के माध्यम से अनेक विद्वानों को सुनने का अवसर मिलता है। आपने कहा कि इस विश्वविद्यालय एवं संस्कृत के विद्वानों के ऊपर भारतीय संस्कृति की रक्षा का गुरुतर भार है। विश्व में इस संस्कृति को लुप्त करने का प्रयास चल रहा है। अपने उद्‌गार में प्रो.शर्मा ने आगे कहा कि भाषा और संस्कृति को बचाने में हमारा विश्वास साथ देगा। सन्तोष, त्याग और विश्वास के कारण हमारी व्यवस्था बनी है। आज उपभोगवादी संस्कृति के बढ़ने से हमारे देश की संस्कृति प्रभावित हुई है। आज लोग दया और दान में विश्वास न कर भोग में विश्वास कर रहे हैं। यह विघटन की जड़ है। आपने कहा कि पहले व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने को अनुशासित रखता था; क्योंकि पाप-पुण्य की मर्यादा से समाज प्रतिबन्धित था। संस्कृत-ज्ञान को मीडिया के माध्यम दूरदर्शन आदि से प्रचारित करने पर आपने बल दिया। आपने इस विरासत को जन सामान्य को सुलभ कराने की आवश्यकता बतायी।

विशिष्ट अतिथि के व्याख्यान में जिलाधिकारी **श्री आलोक कुमार** ने संस्कृत को लोकप्रिय बनाने के लिए पर्याप्त प्रयास करने पर बल दिया। आपने संस्कृत विश्वविद्यालय में कम्प्यूटर की शिक्षा देने की आवश्यकता बतायी।

अध्यक्षीय भाषण में माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** जी ने सरस्वतीभवन-पुस्तकालय को इण्टरनेट से जोड़ने की योजना से लोगों को अवगत कराया। आपने यह भी बताया कि अग्रिम वर्ष से 'कम्प्यूटर-डिप्लोमा' कोर्स विश्वविद्यालय में प्रारम्भ किया जाएगा।

सभा की परिणति राष्ट्रगान से हुई। सभा का सञ्चालन **डॉ. कुंजबिहारी शर्मा** ने किया।

सन्ध्या समय कुलपति जी के आवास पर आयोजित लघु जलपान गोष्ठी का दृश्य अत्यन्त मनमोहक रहा। इसमें आगत अतिथियों के साथ सभी विभागाध्यक्ष आमन्त्रित थे।

[ङ] अखिल भारतीय संस्कृत-छात्र-सम्मेलन

संस्कृत वर्ष के उपलक्ष्य में अखिल भारतीय संस्कृत-छात्र-सम्मेलन का आयोजन २९-३१ मार्च, २००० तक हुआ। यह सम्मेलन संस्कृतभारती एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में सम्पन्न हुआ। इसके कार्य-क्रम अनेक सत्रों में पृथक्-पृथक् स्थानों पर चले। मुख्य मंच विश्वविद्यालय के प्राङ्गण में मनमोहक ढ़ंग से बना था। प्रथम सत्र में 'संस्कृत का अतीत एवं ह्रास का कारण' विषय पर चर्चा **डॉ. के. सूर्यनारायण राव** की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इसके मुख्य वक्ता पण्डित **श्री वासुदेव द्विवेदी** एवं **डॉ. चमू कृष्ण शास्त्री** रहे। इसके अनेक सत्रों में विद्वत्सङ्गोष्ठी, छात्रों के शास्त्रीय भाषण, श्लोक-अन्त्याक्षरी, सूत्रान्त्याक्षरी आदि विविध प्रतियोगिताएँ हुई। प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्थान प्राप्त करनेवाले छात्रों के साथ-साथ सान्त्वना पुरस्कारों से भी छात्रों को पुरस्कृत किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१ मार्च को पूर्वाह्न ११ बजे से माननीय कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा** जी की अध्यक्षता में सम्पूर्ति-समारोह का आयोजन हुआ। इस सत्र के विशिष्ट अतिथि **प्रो. सुधांशुशेखर शास्त्री** थे। अन्त में संस्कृत-वर्ष-समारोह के प्रधान संयोजक **प्रो. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा** ने अखिल भारतीय संस्कृत-छात्र-सम्मेलन की सफलता के लिए सभी के प्रति आभार प्रदर्शित किया। सामूहिक राष्ट्रगान के पश्चात् सम्मेलन की सम्पूर्ति हुई।

साभार प्रस्तुति

हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी

निदेशक, प्रकाशन संस्थान

संयोजक, संस्कृतवर्ष-आयोजन-समिति

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

१. **बौद्ध वाङ्मय में मङ्गल की अवधारणा**
डॉ. ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन' १-५०

२. **वर्तमान समय में बुद्ध-वचन की प्रासंगिकता**
प्रो. विश्वनाथ बनर्जी ५१-६१

३. **बौद्धदर्शन में कालतत्त्व**
प्रो. रामशंकर त्रिपाठी ६२-७३

४. **बौद्धधर्म में मानवतावादी विचार : एक अनुशीलन**
प्रो. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा ७४-८१

५. **अभिधर्म और माध्यमिक**
प्रो. थुबतन छोगडुब ८२-८८

६. **थेरवाद बौद्धदर्शन में निर्वाण की अवधारणा**
डॉ. हरप्रसाद दीक्षित ८९-९६

७. **बोधिसत्त्व-अवधारणा के उदय में बौद्धेतर प्रवृत्तियों का योगदान**
डॉ. उमाशङ्कर व्यास ९७-११३

८. **काव्यशास्त्र की प्रशाखा के रूप में कवि-शिक्षा का मूल्याङ्कन**
डॉ. राजीव रंजन सिंह ११४-११९

९. **शोभाकर मित्र की काव्यदृष्टि**
डॉ. काली प्रसाद दुबे १२०-१२७

१०. **नेपालराष्ट्रे बौद्धदर्शनस्याध्ययनाध्यापनयोर्व्यवस्था तद्विश्लेषणं च**
डॉ. रमेश कुमार द्विवेदी १२८-१३२

११. **बंगाल के प्राचीन बौद्धविहारों में श्रमणों के नियम और शिक्षा व्यवस्था**
श्री षष्ठीपद चक्रवर्ती १३३-१४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. **भोट देश में बौद्धधर्म एवं श्रमणपरम्परा का आगमन**
श्री पेमा गारवङ्ग १४१-१४४

१३. **जैनदर्शन में कर्म-सिद्धान्त**
डॉ. सुदीप जैन १४५-१५५

१४. **जैनाचारदर्शन का व्यावहारिक पक्ष**
डॉ. कमलेश कुमार जैन १५६-१६१

१५. **जैन श्रमण परम्परा और अनेकान्त दर्शन**
डॉ. अशोक कुमार जैन १६२-१६८

१६. **प्राकृत कथा-साहित्य : उद्भव, विकास एवं व्यापकता**
डॉ. जिनेन्द्र जैन १६९-१७६

१७. **शौरसेनी प्राकृत साहित्य के प्रमुख आचार्य और उनका योगदान**
डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' १७७-२१३

१८. **काशी और जैन श्रमण परम्परा**
डॉ. सुरेश चन्द्र जैन २१४-२२४

लघु-ग्रन्थमाला

१. **सच्चसङ्खेपो**
सं. प्रो. लक्ष्मी नारायण तिवारी १-५६

२. **बुद्धघोसुप्पत्ति**
सं. डॉ. वीरेन्द्र पाण्डेय १-३९

३. **क्रियासङ्ग्रहः**
सं. प्रो. रामशङ्कर त्रिपाठी १-१५

४. **षड्दर्शनेषु प्रमाणप्रमेयसमुच्चयः**
सं. कुमार अनेकान्त जैन १-१९

५. **सद्दबिन्दु**
सं. डॉ. सुरेन्द्र कुमार १-३२

६. **निरौपम्य स्तव एवं परमार्थ स्तव**
सं. प्रो. थुबतन छोगडुब १-१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध वाङ्मय में मङ्गल की अवधारणा

डॉ. ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन'

मङ्गल की कामना मनुष्य के अन्त:करण में सर्वदा परिव्याप्त रहती है। मङ्गल शब्द मङ्ग अथवा मगि धातु से 'अलच्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न है—'मङ्गलेरलच्'। यह शब्द तीनों लिङ्गों में व्यवहृत होता है—मङ्गलम् (नपुंसकलिङ्ग), मङ्गलः (पुलिङ्ग), मङ्गला (स्त्रीलिङ्ग)। जिससे अभीष्ट की प्राप्ति होती है उसे मङ्गल कहते हैं—'मङ्गयते प्राप्यते अभीष्टमनेन इति मंगलम्। अथवा जिससे दुर्दृष्ट का अपसर्पण या निवारण होता है, उसे मंगल कहते हैं— 'मङ्गति अपसर्पति दुर्दृष्टमनेन इति मङ्गलम्'। प्रशस्त आचरण का अनुष्ठान तथा अप्रशस्त आचरण के परिवर्जन को ऋषियों तथा तत्त्वदर्शियों ने 'मङ्गल' कहा है—

प्रशस्ताचरणं नित्यं अप्रशस्तविवर्जनम् ।
एतच्च मङ्गलं प्रोक्तं ऋषिभिः तत्त्वदर्शिभिः ।।

बौद्ध वाङ्मय में मङ्गल शब्द का निर्वचन तथा अर्थावधारण विभिन्न रूपों में किया गया है—महन्ति इमेहि सत्ता ति मङ्गलानि इद्धिं वुद्धिं पापुणातीति अत्थो' अर्थात् सत्त्व जिससे ऋद्धि, वृद्धि को प्राप्त करता है, उसे मङ्गल कहते हैं, अथवा 'मङ्गं पापं लुनाति छिन्दतीति मङ्गलं' के अनुसार जो पापों को काटता है, उसे मङ्गल कहते हैं, अथवा 'मङ्गति सत्ता विसुज्झन्तीति मङ्गलं' अर्थात् सत्त्व जिससे विशुद्धि को प्राप्त करते हैं उसे मङ्गल कहते हैं। महाकवि कालिदास ने लिखा है जो विपत्तियों का प्रतिकार करना चाहते हैं अथवा ऐश्वर्य तथा वर्चस्व का अधिगम करना चाहते हैं, वे मङ्गल का सेवन करते हैं—'विपत्प्रतीकारपरेन मङ्गलं निषेव्यते भूति समुत्सुकेन वा'।

संस्कृत वाङ्मय के आचार्यों एवं महाकवियों ने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्रन्थ के आदि मध्य तथा अन्त में मङ्गलाचरण के विधान का निर्देश किया है—ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्तं च मङ्गलमाचरणीयमिति शिष्टाचारः।' समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत् फलावश्यं भावनियमात्' तथा मङ्गलं कर्त्तव्यं समाप्तिफलकत्वात् (नील. १, मङ्गल, पृ.२) के अनुसार समाप्ति की कामना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाले को मङ्गल का विधान करना चाहिए। यदि कहीं मंगल का विधिपूर्वक अनुष्ठान किए जाने पर भी ग्रन्थ की विर्विघ्न समाप्ति नहीं होती है तो वहाँ विघ्नों की प्रचुरता माननी चाहिए, उसके लिए जितना मङ्गल अपेक्षित था, वह वहाँ नहीं किया जा सका। किञ्च जहाँ नास्तिकों के ग्रन्थों में मङ्गलाचरण का विधान न होने पर भी ग्रन्थ समाप्तिं रूप फल देखा जाता है, वहाँ विघ्नों का अभाव, पूर्वजन्मजन्य मङ्गल आदि की परिकल्पना या अनुमान कर लेना चाहिए। ऐसी नवीनाचार्यों की मान्यता है।

कुछ आचार्यों की अवधारणा है कि ग्रन्थादि की समाप्ति पुरुषार्थ का फल है, मङ्गल का फल विघ्नविध्वंस नहीं है—'समाप्तिरेव सुखसाधनतया पुरुषार्थत्वात्फलं, न तु विघ्नध्वंसो मङ्गलस्य फलम्, तस्यापुरुषार्थत्वात् इति' (वै.उ. १।१।१)।

संस्कृत वाङ्मय के आचार्यों ने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए शिष्टों के आचरण के अनुरुप मङ्गल का विधान किया है। आचार्यों ने तीन प्रकार के मङ्गल का निर्देश किया है—'आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक तथा वस्तुनिर्देशात्मक—

आशीर्वादनमस्कार वस्तुनिर्देशभेदतः ।

मङ्गलं त्रिविधं प्रोक्तं शास्त्रादीनां मुखादिषु[१] ।।

आशीर्वादात्मक मङ्गल उसे कहा जाता है जिसमें कवि ईश्वर से यह अभ्यर्थना करता है कि वे आप सवों की रक्षा करें—

जम्भारिमौलिमन्दारमालिकमधुचुम्बिनः ।

पिनेयुरन्तरायाब्धिं हेरम्बपदपांसवः ।। (कुन्दमाला १।१)

जम्भदैत्य के शत्रु इन्द्र के मुकुट की मान्दारमालिका के मधुमकरन्द का पान करने वाले हेरम्ब (गणेश) के पद-पांसु विघ्न के समुद्र का पान करें। यहाँ देवतासंस्मरणात्मक एवं आशीर्वचनात्मक मङ्गल है।

नमस्कारात्मक मंङ्गल वहाँ होता है जहाँ कवि विघ्नों के व्यूहोपशम के लिए ईश्वर का नमन करता है—

---

१. आचरियानं गन्थारम्भो तिविधो—आसिसपुब्बको, वत्थुपुब्बकोपणामपुब्बकोति। सङ्खेप, पि. २१४; आचरियो पञ्चगुणे बड्ढेन्तो ताव रत्नत्तयपणाममारभते रतनत्तयपणामेन हि आचरियस्स अन्तरायाभावो, तदभावेन च आयुवण्णसुखबलपटिभानसङ्खातापञ्चगुणा बड्ढन्ति तब्बड्ढनेन च कारियसन्निट्ठानंति। मणि.पि. १।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीलक्ष्मीरमणं नौमि गौरीरमणरूपिणम् ।
स्फोटरूपं यतः सर्वं जगदेतत् विवर्तते ।।

वस्तुनिर्देशात्मकमङ्गल वहाँ होता है जहाँ कवि या नाटककार समस्त ग्रन्थ की वस्तु का निर्देश करता है—

पालि वाङ्मय के टीकाकारों, अट्ठकथाकारों, तथा वैयाकरणों ने त्रिरत्न के वन्दनारूप नमस्कारात्मक मङ्गल का विधान किया है। पालि वाङ्मय के प्रसिद्ध अट्ठकथाकार आचार्य बुद्धघोष ने समन्तपासादिका की गन्थारम्भकथा में त्रिरत्न की वन्दना इस प्रकार की है—

यो कप्पकोटीहि पि अप्पमेय्यं कालं करोन्तो अतिदुक्करानि ।
खेदं गतो लोकहिताय नाथो नमो महाकारुणिकस्स तस्स ।।
असम्बुधं बुद्धनिसेवितं यं भवाभवं गच्छति जीवलोको ।
नमो अविज्जादिकिलेसजाल विद्धंसिनो धम्मवरस्स तस्स ।।
गुणेहि यो सीलसमाधिपञ्ञाविमुत्तिञाणपभुतीहि युत्तो ।
खेत्तं जनानं कुसलत्थिकानं तमरियसंघं सिरसा नमामि ।।
इच्चेवमच्चन्तनमस्सनेय्यं नमस्समानो रतनत्तयं यं ।
पुञ्ञाभिसन्दं विपुलं अलत्थं तस्सानुभावेन हतन्तरायो ।।

आचार्य बुद्धघोष ने त्रिरत्न-वदना के प्रयोजन का विवेचन करते हुए लिखा है कि रत्नत्रय नमस्य हैं इसलिए मैने त्रिरत्न के प्रणाम के परिणामस्वरूप विपुल पुण्य का अधिगम किया है उसके आनुभाव से सभी विघ्न दूर हों और यह रचना विर्विघ्न सम्पन्न हो, टीकाकार शारिपुत्र ने संकल्पित कार्य निर्विध्न सम्पन्न हो, इसी आशय से त्रिरत्न की वन्दना की है—

'अनन्तरायेन परिसमापनत्थं ति पयोजनं वेदितब्बं।

स्थविर महाविजातावी ने 'कच्चायनवण्णना' में अन्तरायों, प्रत्यूहों एवं विघ्नों के विघातन के लिए ग्रन्थारम्भ में प्रणामादि का विधान किया है—

अन्तरायविघातत्थं मङ्गलादीनमत्थाय।
तेसं गन्थानमारम्भे पणमादीनि वुच्चरे ।।

संस्कृत बौद्धसाहित्य में भी आगम ग्रन्थों के परवर्ती ग्रन्थों के प्रारम्भ में शास्त्र के प्रति नमस्कारात्मक मङ्गल का विधान किया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवं ।
देशयामास सम्बुद्धस्तं बन्दे वदतां वरं ।।

(नागार्जुन मूलमध्यमकारिका १)।

यः सर्वथा सर्वहतान्धकरः संसारपङ्काज्जगदुज्जहार ।
तस्मै नमस्कृत्य यथार्थशास्त्रे शास्त्रं प्रवक्ष्याम्यभिधर्मकोशम् ।।

(वसुबन्धु, अभिधर्मकोश १।१)।

बौद्धवाङ्मय में विशेषकर पालि वाङ्मय में मङ्गल क्या है? तथा मङ्गल किसे कहते हैं? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान बुद्ध ने मङ्गल के विविध रूपों का वर्णन किया है। मङ्गल प्रसन्नता तथा विप्रसन्न जीवन का मूल कारण है। यह एक उत्तम मार्ग या साधन है जिसके द्वारा लोगों के जीवन में प्रसन्नता तथा सफलता की प्राप्ति होती है। प्रत्येक व्यक्ति मङ्गल की कामना करता है। कल्याण की अपेक्षा करता है। जीवन में मङ्गल का अधिगम किसी के आशीर्वचन नहीं, अपि तु शुभात्मक कर्म, सत्यनिष्ठा, सदा-चरण तथा सम्यक् कर्म से ही संभव है। बौद्ध जीवन पद्धति स्वयंकृत शुभात्मक कर्मों पर निर्भर है।

भगवान् बुद्ध ने जिन अड़तीस प्रकार के मङ्गलों का प्रज्ञापन किया है वे इस प्रकार हैं—

१. मूर्खों का असाहचर्य (**असेवना च बालानं**)।

२. गुणवान् तथा शीलसम्पन्न पुरुषों एवं पण्डितों का साहचर्य (**पण्डितानं च सेवना**)।

३. पूजनीय जनों का सम्पूजन (**पूजा च पूजनीयानं**)।

४. वैसे स्थान मे रहना जहाँ पण्डित, शीलवान् तथा गुणज्ञ लोगों का अधिवास हो और जहाँ सम्यक् आजीविका के सुन्दर साधन एवं मार्ग प्रशस्त हों (**पतिरूपदेसवासो**)।

५. पूर्व में किया गया पुण्यकर्म (**पुब्बे च कतपुञ्ञता**)।

६. शारीरिक तथा मानसिक रूप से स्वयं को अधिष्ठित करना (**अत्तसम्मापणिधि**)।

७. बहुश्रुत होना, बहुविस्तीर्ण अनुभवों के आधार पर तत्त्विक दृष्टि को प्राप्त करना (**बाहुसच्चं**)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. कार्य में दक्ष होना, शिल्पनिपुण होना (**सिप्पञ्च**)।

९. शीलसम्पन्न होना, व्यवहार कुशल होना (**विनयो च सुसिक्खितो**)।

१०. सत्याश्रित सुभाषित का प्रयोग करना (**सुभासिता च या वाचा**)।

११. माता-पिता का उपस्थान (सेवा) करना (**मातापितु-उपट्ठानं**)।

१२. परिवार का परिरक्षण, स्त्री-बच्चों को आश्रय प्रदान करना, पुत्रदारसंग्रह (पुत्तदारस्स सङ्गहो)।

१३. अनाकुल अर्थात् द्वन्दरहित कर्म करना (**अनाकुला च कम्मन्ता**)।

१४. दूसरों के कल्याण के लिए दान देना (**दानञ्च**)।

१५. धर्माचरण करना, काय, मन तथा वचन से प्रशस्त आचरण करना (**धम्मचरिया च**)।

१६. कुटुम्बों, सम्बन्धियों तथा अन्य सम्बद्ध लोगों अर्थात् परिचारकों एवं अनुयायिवर्गों को सहयोग प्रदान करना (**ञातकानं च संगहो**)।

१७. वैसे कर्मों को करना जो दूसरों के लिए हानिकर न हो, अनवद्य कर्मों को करना (**अनवज्जानि च कम्मानि**)।

१८. पाप से विरति

१९. कार्यों, शब्दों तथा चित्त में बुरे विचारोंका स्थगन (**अरतीविरतीपापा**)।

२०. मद्यपान न करना, अथवा मादक एवं मदनीय द्रव्यों के साहचर्य से विरमण (**मज्जपाना च संयमो**)।

२१. धर्मों में प्रमाद न करना (**अप्पमादो च धम्मेसु**)।

२२. दूसरों को गौरव प्रदान करना, आदरणीयों को आदर देना (**गारवो च**)।

२३. विनम्र होना, विनयिता से युक्त होना (**निवातो च**)।

२४. सुन्दर एवं अनवद्य साधनों से अर्जित वस्तुओं से संतुष्ट रहना, दूसरों की वस्तुओं में स्पृहा न करना (**सुन्तुट्ठी च**)।

२५. कृतज्ञता ज्ञापित करना (**कतञ्ञुता**)।

२६. समय-समय पर धर्म-श्रवण करना (**कालेन धम्मसवनं**)।

२७. क्षान्ति (धैर्यवान्) होना, सहिष्णुता, तितिक्षा (**खन्ती च**)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८. सुन्दरवचन का प्रयोग करना, सुवचन करणता (**सोवचस्सता**)।

२९. यथाकाल श्रमणों का दर्शन करना (**समणानञ्च दस्सनं**)।

३०. यथाकाल धर्मसंलाप करना (**कालेन धम्मसाकच्छ**)।

३१. तपश्चरण करना, उद्योगपरायण होना (**तपो च**)।

आतापी होना (तप इन्द्रिय संयम है, यह अभिध्या, दौर्मनस्य तथा कौसीद्य को भस्मीभूत कर देता है।

३२. ब्रह्मचर्य का पालन करना (**ब्रह्मचरियञ्च**)।

३३. चार आर्यसत्य का दर्शन करना, उसका सम्यक् प्रतिवेध प्राप्त करना (**अरियसच्चान दस्सनं**)।

३४. अमोस धर्म, प्रपञ्चोपशम धर्म निर्वाण का साक्षात्कार करना (**निब्बानसच्छिकिरिया च**)।

३५. मान-अपमान, सुख-दुःख, हानि-लाभ निन्दा-प्रशंसा तथा आदर-अनादर में विचलित न होना (**फुट्ठस्स लोकधम्मेहि चित्तं यस्स न कम्पति**)।

३६. शोक में विचलित न होना (**असोकं**)।

३७. संक्लेशों से चित्त को मुक्त करना (**विरजं**)।

३८. चित्त को क्षेमयुक्त करना (**खेमं**)।

उपर्युक्त अड़तीस प्रकार के मङ्गलों को निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—

१. सामाजिक सिद्धान्त

२. सामाजिक आचारदर्शन

३. धर्मिक जीवन के सिद्धान्त

४. निर्वाण के अधिगम का मार्ग

सामाजिक सिद्धान्त

व्यक्तियों के समूह को समाज कहते है। 'समाज' शब्द का अर्थ है— समान से जाना, सबों के अनुकूल व्यवहार करना, समान आदर्शों एवं नियमों तथा नीतियों का पालन करना। समाज एक समुन्नत संस्था है जिसका जन्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामूहिक हितों एवं आदर्शों के पालन के लिए होता है। सामाजिक सिद्धान्त जो सामाजिक संस्था के संचालन के लिए निर्मित होते हैं, उनसे सामाजिक नियन्त्रण, अनुशासन, आदर्शों का स्वरूप परिज्ञापन, निश्चित जीवनमूल्यों का सम्पादन, जीवन मर्यादाओं और धारणाओं का अन्तर्वेशन होता है। भगवान् बुद्ध ने जिन सामाजिक सिद्धान्तों का निरूपण किया है, वे इस प्रकार हैं—

१. असेवना च बालानं (मूर्खों का साहचर्य अथवा संगति न करना)।

२. पण्डितानं च सेवना (पण्डितों एवं ज्ञानियों की सेवा करना)।

३. पूजा च पूजनीयानं (पूजनीयों की पूजा करना)।

४. पतिरूपदेसवासो (प्रतिरूपप्रदेश में वास करना)।

५. पुब्बे च कतपुञ्ञता (पूर्व में किया गया पुण्यकर्म)।

६. अत्तसम्मापणिधि (शारीरिक तथा मानसिक रूप से स्वयं को अधिष्ठित करना)।

७. बाहुसच्चं (बहुश्रुत होना, बहुविस्तीर्ण अनुभवों के आधार तात्त्विक दृष्टि को प्राप्त करना)।

८. सिप्पं (कला तथा विज्ञान का ज्ञान)।

९. सुभासिता च वाचा (सुभाषित वचन का प्रयोग)।

१०. विनयो च सुसिक्खितो (सुशिक्षित विनय)।

१. असेवना च बालानं

भगवान् बुद्ध के अनुसार मूर्खों का असाहचर्य अर्थात् मूर्खों की संगति का न होना उत्तम मङ्गल है। मूर्ख वह है जो अकुशलकर्मों का सम्पादन करता है, असत्य बोलता है, प्राणियों की हिंसा करता है। सद्धर्म के प्रतिश्रद्धा नहीं रखता है तथा कदाचारपरायण रहता है। मूर्ख स्वयं को विनष्ट करता है और उन लोगों को भी विनष्ट करता है जो उनके अतिवाक्यों से प्रभावित होता है। मूर्खों के दर्शन न होने से मनुष्य सदा सुखी रहता है—

अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया' (धम्मपद २०६)।

मूर्खों का संवास सर्वदा 'अमिच्च' अर्थात् शत्रु के समान दुःखदायक होता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बालसंगतचारी हि दीघमद्धान सोचति ।
दुक्खो बाले हि संवासो अमित्तेनेव सब्बदा ।। (धम्मपद २०९)।

अकेले चलना श्रेयस्कर है किन्तु मूर्खों की संगति अच्छी नहीं है। 'एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता' (धम्मपद ३३०) भगवान् बुद्ध ने कहा है कि यदि साथ विचरण करने वाला अनुकूल पण्डित न मिले तो राजा के समान विजित राष्ट्र को छोड़कर हस्तिराज के समान अकेला विचरण करे—

नो चे लभेथ निपकं सहायं सद्धिचरं साधुविहारिधीरं ।
राजा' व रट्ठं विजितं पहाय एको चरे मातङ्गरञ्ञेव नागो ।।
(धम्मपद ३२९)।

'अकित्तिजातक' में कहा गया है कि मूर्ख को न देखे, न उसकी बात सुने, न उसके साथ संवास करे, न उसके साथ आलाप संलाप करे, वह सर्वदा अनय का प्रवर्तन करता है। उत्तरदायित्वहीनता में नियोजित करता है। अन्याय को अधिमान देता है, यथोचित या ठीक कहने पर क्रोध करता है। वह विनय (शील, सदाचार) को नहीं जानता है। अत: मूर्खों का अदर्शन ही अच्छा है—

बालं न पस्से न सुणे, न च बालेन संवसे ।
बालेनल्लापसंलापं न करे न च रोचये ।।

अनयं नयति दुम्मेधो अधुरायं नियुञ्जति ।
दुन्नयो सेय्यसो होति, सम्मवुत्तो पकुप्पति ।।

विनयं सो न जानाति, साधु तस्स अदस्सनं ।।
(अकित्तिजातक पृ. २५९)

इसलिए तत्त्वदर्शी भगवान् बुद्ध ने असेवना च बालानं अर्थात् मूर्खों के असाहचर्य को उत्तम मङ्गल कहा है।

२. पण्डितानं च सेवना

भगवान् बुद्ध ने पण्डितों के साहचर्य को उत्तम मङ्गल कहा है। पण्डित सम्यक् विचार, सम्यक् भाषण, शुभ एवं मङ्गलकारी वचन तथा शुभकर्म करने वाला होता है। पण्डित पाण्डित्य से समन्वागत (पण्डिच्चेन समन्नता) होता है, ज्ञानवान्, विवेकी, धर्मपरायण, विनयसम्पन्न तथा सत्यसन्ध होता है। वह मान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपमान में, निन्दा-प्रशंसा में कभी विचलित नहीं होता है, वह शान्त, धीर तथा निरावेग होता है—

सेलो यथा एकघनो, वातेन न समीरति ।

एवं निन्दा-पसांसु न समिञ्जन्ति पण्डिता ।। (धम्मपद ८१)

पण्डित गंभीर जलाशय के समान स्वच्छ और निर्मल होता है, वह धर्म को सुनकर विप्रसन्न होता है—

यथापि रहदो गम्भीरो विप्पसन्नो अनाविलो ।

एवं धम्मानि सुत्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता ।। (धम्मपद ८२)

अकित्तिजातक में अकित्ति ने शक्र से वर माँगा वह धीर (ज्ञानी) को देखे, उसकी बात सुने, उसके साथ निवास करे, उसके साथ आलाप-संलाप करे और उसी की बात में अभिरुचि रखे। उसके लिए सत्कर्म अच्छा होता है, उचित बात करने पर वह क्रोध नहीं करता है। वह विनय (शील) को जानता है, अतः उसके साथ समागम अच्छा है—

धीरं पस्से सुणे धीरं, धीरेन सह संवसे ।

धीरेनल्लापसंलापं तं करे तञ्च रोचये ।।

नयं नयति मेधावी, अधुरायं न युञ्जति ।

सुनयो सेय्यसो होति, सम्मा वुत्तो न कुप्पति ।।

विनयं सो पजानाति, साधु तेन समागमो ।।

(अकित्तिजातक २५९)

इस प्रकार भगवान् बुद्ध के अनुसार पण्डितों की पर्युपासना और उनका साहचर्य उत्तम मङ्गल है, क्योंकि उनके साहचर्य से वृत्ति सन्मार्गगामिनी होती है और अभ्युदय एवं नैश्रेयस् का अधिगम होता है।

३. पूजा च पूजनीयानं

पूजनीय जनों की पूजा, अभ्यर्चा उत्तम मङ्गल है। पूजा का अर्थ है—सम्मान, पूजन, अभ्यर्चन, भक्त्यात्मक अवधानता, सत्कार, गौरवभाव प्रदर्शन (सक्कारगरुकारमानन वन्दना)। पूजनीय का अर्थ है—सम्मान के योग्य पुदगल, आदर के योग्य व्यक्ति (पूजनीय पुग्गल)। पूजनीय पुद्गल हैं—प्रत्येक बुद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(जिन्होंने स्वयं बोधिलाभ किया है, आर्यश्रावक, बुद्ध के श्रावक। भगवान् बुद्ध के अनुसार तथागत, प्रत्येक बुद्ध, उभयतोभाग विमुक्त, प्रज्ञाविमुक्त, काय साक्षी, दृष्टिप्राप्त, श्रद्धाविमुक्त, धर्मानुसारी तथा गोत्रभू-आदर, पूजा, दान आदि के योग्य एवं साञ्जलि नमस्य हैं। पूजनीय जनों की पूजा दो प्रकार से की जाती है—१. आमिषपूजा—(अन्नपानादि से पूजा) तथा २. प्रतिपत्तिपूजा इन दोनों पूजाविधियों में प्रतिपत्ति पूजा श्रेयस्कर है। प्रतिपत्ति पूजा अपरिहार्य है। पूजनीय जन इसलिए संपूज्य होते हैं, क्योंकि वे सभी प्रकार के दोषों से सर्वथा मुक्त रहते हैं तथा सभी गुण धर्मों से समलंकृत रहते हैं। पूजनीय जनों की पूजा का फल अप्रमेय, अगण्य और दीर्घ कालिक कल्याण तथा आनन्द का प्रतिमान है।

४. प्रतिरूपदेसवासो च—

अर्थात् सुयोग्य क्षेत्र में निवास करना उत्तम मंगल है। प्रतिरूपदेश उसे कह सकते हैं जहाँ ज्ञानी, विवेकी, सच्चरित्र, सर्वभूतहितानुकम्पी तथा निर्वैर लोग रहते हैं। बौद्ध वाङ्मय में बोधगया, सारनाथ, श्रावस्ती, राजगृह, कुशीनारा, कपिलवस्तु, लुम्बिनी, आदि को प्रतिरूपदेश कहा गया है क्योंकि इन देशों में भगवान् बुद्ध का निवास रहा है। इन स्थानों में रहने से अनतिक्रमणीय दृष्टि (दस्सनानुत्तरीय) अनतिक्रमणीय श्रवण (सवनानुत्तरीय), अनतिक्रमणीय लाभ (लाभनुत्तरीय), अनतिक्रमणीय शिक्षा (सिक्खानुत्तरीय) अनतिक्रमणीय परिचर्या (परिचरियानुत्तरीय) तथा अनतिक्रमणीय अनुस्मृति का लाभ होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि प्रतिरूपदेशवास से मनुष्य के विचार समुन्नत होते हैं। उसकी वृत्तियां ऊर्ध्वगामिनी तथा पर्यवदात होती हैं। संस्कृत वाङ्मय के अनुसार धनिक, श्रोत्रिय, राजा, नदी तथा वैद्य, ये पाँच जहाँ नहीं रहते हैं, वहाँ एक दिन का भी निवास श्रेयस्कर नहीं है।

५. पुब्बे च कतपुञ्ञता

पूर्व के जीवन में किया गया पुण्य उत्तम मङ्गल है—'**पुब्बे च कतपुञ्ञता**'। पूर्व में किये गये पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप मङ्गल की प्राप्ति होती है। अकस्मात् इसका सृजन या अधिगम नहीं होता। पुण्य धीरे-धीरे सञ्चित होता है। इस संचित पुण्य को न तो कोई चुरा सकता है, न तो कोई बाँट सकता है। पूर्व के पुण्य के कारण अलभ्य एवं अप्राप्य वस्तुएँ भी प्राप्त होती हैं। यह पूर्वकृत संचित पुण्य देवों तथा मनुष्यों की सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली निधि है। देवगण जिन वस्तुओं की कामना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं, इससे प्राप्त हो जाते हैं। इससे सुवर्णता, सुस्वरता, स्वरूपता, आधिपत्य, परिवार, प्रदेशराज्य, ऐश्वर्य, चक्रवर्ती सम्राट का सुख, देवराज्य, प्रत्येक मानवीय उत्तमता, देवलोक का आनन्द, निर्वाण-सम्पदा, मित्रसम्पदा, ज्ञानसम्पदा, विद्याविमुक्ति तथा वशीभाव, प्रतिसंविदा (विवेक), विमोक्ष, श्रावक पारमी प्रत्येक बोधि तथा बुद्धभूमि आदि की प्राप्ति होती है। यह पुण्यसम्पदा महत्तर पुरस्कार प्रदान करती है। यही कारण है ज्ञानी जन कृतपुण्यता (पुण्यसञ्चय) की प्रशंसा करते हैं—

एस देवमनुस्सानं सब्बकामददो निधि ।
यं यं देवाभिपत्थेन्ति सब्बमेतेन लब्भति ।।

सुवण्णता सुसरता सुसण्ठाना सुरूपता ।
अधिपच्च परिवारो सब्बमेतेन लब्भति ।।

पदेसरज्जं इस्सरियं चक्कवत्तिसुखं पियं ।
देवरज्जम्पि दिब्बेसु सब्बमेतेन लब्भति ।।

मानुस्सिका च सम्पत्ति देवलोके च या रति ।
या च निब्बानसम्पत्ति सब्बमेतेन लब्भति ।।

मित्तसम्पदमागम्म योनिसो च पयुञ्जतो ।
विज्जाविमुत्तिवसीभावो सब्बमेतेन लब्भति ।।

पटिसम्भिदा विमोक्खा च या च सावक पारमी ।
पच्चेकबोधि बुद्धभूमि सब्बमेतेन लब्भति ।।

एवं महत्थिका एसा यदिदं पुञ्ञसम्पदा ।
तस्मा धीरा पसंसन्ति पण्डिता कतपुञ्ञतं ति ।।

(खुद्दकपाठ, निधिकण्डसुत्त)

६. आत्मसम्यक्प्रणिधि को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है— (अत्तसम्मापणिधि)

यहाँ कुछ लोग ऐसे हैं जो शीलविपन्न होने पर भी अपने को शीलसम्पन्न एवं शीलसमलंकृत के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। श्रद्धारहित होने पर भी अपने को श्रद्धान्वित कहते हैं, अर्थवशाच धनलोलुप, कृपण लेने पर भी अपने को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमोदार के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। आत्मसम्यक् प्रणिधि का अर्थ है— अपने को सम्यक् कर्म में व्यवस्थित एवं प्रतिष्ठित करना। यहाँ अत्त शब्द चित्त के अर्थ में प्रयुक्त है—'**एत्थ अत्तति चित्तं, सकलो अत्तभावो**'।

दु:शील, शीलविपन्न और असमाहित का शतवर्षपर्यन्त जीना श्रेयस्कर नहीं है, ध्यायी एवं प्रज्ञावान का एक दिन का जीना ही श्रेयस्कर है—

यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञावन्तस्स झायिनो ।।

(धम्मपद १११)

चित्त दुर्रक्ष्य और दुर्निवार्य होता है। चित्त से ही लोक का प्रवर्तन होता है, चित्त के कारण ही संसार के लोग परिकर्षित होते हैं। संसार के सभी लोग चित्त के अधीन हैं—

चित्तेन नीयति लोको चित्तेन परिकस्सति ।
चित्तस्स एकधम्मस्स सब्बे'व वसमन्वगू'ति ।।

(सं.नि. १। पृ.६)

यदि चित्त सुसमाहित हो जाय तो उसमें राग का प्रवेश नहीं होता है। और वह चित्त ऐश्वर्यों एवं गुणों का प्रापक हो जाता है। सन्मार्ग पर आरूढ़ चित्त सभी अपूर्व सम्पदाओं को देने वाला हो जाता है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जितना उपकार माता-पिता या दूसरे भाई-बन्धु नहीं कर पाते, उससे कहीं अधिक उपकार ठीक मार्ग पर अर्थात् सम्यक् प्रणिहित लगा हुआ चित्त करता है—

न तं माता-पिता कयिरा अञ्ञे वापि च ञातका ।
सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो नं ततो करे ।। (धम्मपद ४३)

जितनी हानि या अपकार शत्रु शत्रु की या वैरी वैरी की करता है, उससे कहीं अधिक अनैतिक कार्यों में लगा हुआ चित्त करता है। मिथ्या प्रणिहित चित्त सभी प्रकार के दु:खों का कारण हैं—

दिसो दिसो यं तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं ।
मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो नं ततो करे ।। (धम्मपद ४२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसने अपने चित्त को दमित कर लिया है, वह सबसे श्रेष्ठ है—अत्तदन्तो ततो वरं (धम्मपद ३२२)। इन यानों से कोई निर्वाण की ओर नहीं जा सकता। अपने चित्त को जिसने दमित कर लिया है, वही सुदान्तचित्त वहाँ पहुँच सकता है—

न हि एतेहि यानेहि गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथात्तना सुदन्तेन दन्तो दन्तेन गच्छति ।। (धम्मपद ३२३)

चित्त सर्वथा प्रभास्वर होता है, वह आगन्तुक मलों से संक्लिष्ट हो जाता है—पकति पभस्सरमिदं चित्तं, तं च खो आगन्तुकेहि मलेहि उपकिलिट्ठं ति (अं.नि. १।१०)। चित्त के संकिलष्ट होने से सत्त्व भी प्रदूषित हो जाता है तथा चित्त के विशुद्ध होने पर सत्त्व भी विशुद्ध एवं प्रभास्वर हो जाता है—'चित्तसंकिलेसा सत्ता संकिलिस्सन्ति, चित्त वोदाना सत्त विसुज्झन्ति' (सं. ३।१५१)।

६. बाहुसच्चं अर्थात् बहुश्रुत होना, बहुविस्तीर्ण अनुभवों के आधार पर तात्त्विक दृष्टि के अधिगम को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मंगल कहा है।

जो सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण (व्याख्या), गाथा, उदान (समुन्नयन गाथा) इतिवुत्तक (ऐसा कहा उपदेश), जातक (पूर्वजन्म की कथा), अब्भुतधम्म (समुन्नत विचार) तथा वदेल्ल (प्रश्न-और उत्तर) अर्थात् नवङ्ग बुद्ध शासन मे प्रवीण है, वही बहुश्रुत है। यह बहुश्रुतता ही उत्तम मङ्गल है। यह बहुश्रुतत्व अलाभकर को निराकृत करता है और लाभकर को प्राप्त कराता है। यह परमार्थसत्य के साक्षात्कार का परम कारण है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जो श्रुतवान् (सुतवा) है, वह अलाभकर को छोड़ता है, निन्दनीय को छोड़ता है और अनिन्द्य की रक्षा करते हुए अपने को विशुद्ध रखता है (अ.नि.च.नि. मेत्तावग्ग, २३।९६।१६०)। पुनः यह कहा गया है कि वह धारण किये धर्म की परीक्षा करता है, क्योंकि अर्थपरीक्षित धर्म ही ध्यान करने योग्य बनते हैं। धर्म के ध्यान देने योग्य होने से उसमें अभिरुचि (छन्द) उत्पन्न होती है। अभिरुचि से उसमें उत्साह की प्रकृति का जागरण होता है। उत्साह करते-करते वह उसका उत्थान करता है। उत्थान से अकुशल धर्मों का प्रदहन होता है। प्रदहन करते करते वह अपने इसी जन्म में परम सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। प्रज्ञा से इसे बेध कर देखता है। गृहजीवन से सम्बद्ध बहुश्रुतता भी उत्तम मङ्गल है, यदि यह दोषरहित है दोनों लोकों में मंगल और आनन्द का प्रापक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. कला और विज्ञान के ज्ञान को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है— (सिप्पं)। जहाँ तक शिल्प का सम्बन्ध है, वह दो प्रकार का है—गृह-शिल्प तथा अनागारिक शिल्प। गृहशिल्प में अनेक प्रकार शिल्पों का समावेश होता है। स्वर्णकारों का शिल्प, लौहकारों का शिल्प, किन्तु नैतिक दृष्टि से लाभकारी नहीं है। अनागारिक शिल्प में भिक्षुओं का परिस्कारों की गणना होती है। ये दोनों प्रकार के शिल्प दोनों लोकों के लिए तथा सबों के लिए मंगल एवं आनन्द के प्रापक हैं।

कला मानव-संस्कृति की उपज है। मानव ने श्रेष्ठ संस्कार के रूप में जो कुछ सौन्दर्यबोध प्राप्त किया है। उसका अन्तर्भाव 'कला' शब्द में होता है। कला मनुष्य के भावजगत् को निरन्तर तरलता और सुन्दरता प्रदान करती है। कर्म की कुशलता ही कला है। मानव के द्वारा कला की प्रतिष्ठा हुई है और कला के द्वारा मानव ने आत्मचैतन्य एवं आत्मगौरव प्राप्त किया है। कला की निर्मिति में कलाकार को एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द की उपलब्धि होती है और आनन्द दान ही अप्रतिम कला का उद्देश्य है। कला का एकमात्र लक्ष्य सौन्दर्य का अनुसन्धान तथा रसानुभूति है। कलाएँ विविध हैं किन्तु समस्त कलाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। कला वस्तु को सौन्दर्यप्रवण बनाती है और आँखों तथा कानों को आनन्द पहुँचाती है। कलाओं में काव्यकला, चित्रकला, संगीतकला, नाट्यकला तथा वास्तुकला आदि की गणना की जाती है। काव्यकला में ललित एवं कोमल भावप्रवण शब्दों की प्रधानता है, संगीत में स्वर की परन्तु श्रेष्ठ काव्य में गेयता का एवं सांगीतिक मधुरिमा का अन्तर्वेशन होता है। संगीत स्वतन्त्र कला है किन्तु काव्य में वह रस-परिपोषक बनकर ही सार्थक बन पाता है। चित्रकला की भाषा है रंग और रेखा चित्रकला आँखों को सम्मोहित करती है और अन्तःकरण को आनन्द-सागर में निमज्जित कर देती है। किन्तु चित्रकला में श्रुतिमाधुर्य के अनुभव का भाव नहीं होता है। नाट्यकला एक ऐसी सार्वजनीन कला है, जिसमें संगीत, नृत्य, शिल्प और वाङ्मय सबकी संहिति है इसीलिए नाट्यकला जैसी सार्वजनीनता अन्य कलाओं में नहीं होती। नाट्यकला भिन्न रुचि वाले रसिकों के समाराधन का साधन हैं। कला की अनुभूति एकरस ओर अखण्ड है। कला सौन्दर्यानुभूति और रसास्वादन की प्रक्रिया को जन्म देती है। वास्तुकला भवननिर्माण की कला है।

इन शिल्पों एवं कलाओं का ज्ञान मंगल का प्रापक है। अतः भगवान् बुद्ध ने शिल्प को उत्तम मंगल कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. विनयसुसिक्खिता अर्थात् सुशिक्षित शील को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है। जहाँ तक शील अर्थात् विनय का सम्बन्ध है, वह एक आचारसंहिता है जिसमें नियमों के समूह प्रज्ञप्त है और जो मानव के कायिक एवं वाचिक आचरण को सुशिक्षित करता है ताकि वह निर्धारित रीतियों का अनुसरण करे और आदर्शों और मर्यादाओं से संयमित समाज का एक आदर्श सदस्य के रूप में प्रतिष्ठित हो सके। समाज में सहभाव से एक साथ रहने वाले मनुष्यों के विनय (शील) का होना अनिवार्य है। कायिक, वाचिक तथा मानसिक दोषों से सर्वथा विमुक्त होने के लिए अलाभकारी क्रियाकलापों से सर्वथा मुक्त रहना अनिवार्य है।

कायिक अवद्यता अर्थात् दोष में हिंसा (पाण-वध), पाणघात है। जीवितेन्द्रिय का उच्छेद करना ही हिंसा है। अदत्तादान अनैतिक कार्य है। अदत्त वस्तु का आदान (ग्रहण) करना चोरी है। काममिथ्याचार निन्दनीय कार्य है परदाराभिमर्शन कायद्वार से ही होता है जो सर्वथा नियमविरुद्ध हैं। अगम्यागमनं परस्त्रीगमनं काममिथ्याचारः चतुर्विधः)।

वाचिक दोष चार प्रकार के हैं—मृषावाद (असत्यवचन) पिशुनवाक्, परूषवाक् और सम्फप्पलाप (सभिन्नप्रलाप)—ये चार कर्म वाग्द्वार में बहुलतया प्रवृत्त होते हैं।

मनः कर्म (मनोकम्म) में अभिध्या, व्यापाद तथा मिथ्यादृष्टि की गणना होती है। ये कायविज्ञप्ति तथा वाग्विज्ञप्ति के बिना भी मनोद्वार में बहुलतया प्रवृत्त होने के कारण मनःकर्म कहे जाते हैं।

जब मनुष्य इन अकुशल कर्म पथों को विशुद्ध कर लेता है, उसमें सुशिक्षिता को प्राप्त कर लेता है और शुद्धाचरण के गुणों को प्राप्त कर लेता है तो वह उसके लिए वह सुशिक्षिता मांगलिक हो जाती है। और यह उसके लिए उत्तम मङ्गल बन जाती है।

भिक्षुजीवन में वह प्रातिमोक्षसूत्र में वर्णित नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करता है, और पाराजिक, संघादिसेस, पाचित्तिय, निसग्गिय पाचित्तिय पाटिदेसनीय, दुक्कट (दुष्कृत), थुल्लच्चय (गुरूतर अपराध) तथा दुब्भासित (दुर्भाषित) से विरत रहता है। प्रातिमोक्ष के नियमों का पालन करता हुआ भिक्षु अर्हत्व को प्राप्त कर लेता है। अर्हत्व प्रापण से लौकिक और लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. सुभासितवाचा

सुभाषितवचन को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मंगल कहा है। मृषावाद, परुषवाक्, पिशुनवाक् तथा सभिन्नप्रलाप से मुक्त होने को सुभाषितवचन कहते हैं। सुभाषित और सुन्दर वचन के प्रयोग से मन में प्रासादिकता अनुस्यूत होती है। सुभाषित को सन्तों ने उत्तम कहा है। मनुष्य को धर्म कहना चाहिए। अधर्म नहीं। प्रिय बोलना चाहिए, अप्रिय नहीं, सत्य का सर्वदा संभाषण करना चाहिए, असत्य का कभी आश्रय नहीं लेना चाहिये—

सुभासितं उत्तममाहु सन्तो
धम्मं भणे नाधम्मं तं दुतियं ।
पियं भणे नाप्पियं तं ततियं
सच्चं भणे नालिकं तं चतुत्थं ।। (सुभासित सूत्र पृ ११०)

क्षेमकारी निर्वाण की प्राप्ति के लिए तथा दु:ख का अन्त करने के लिए भगवान् बुद्ध जिस वचन का प्रयोग करते हैं। वही वचन अनुत्तम एवं श्रेयस्कर है—

यं बुद्धो भासति वाचं खेमं निब्बाणपत्तिया ।
दुक्खस्सन्तकिरियाय सा वे वाचानमुत्तमं ।। (सुभासितसुत्र सू।पृ.११२)

मनुष्य को सर्वदा सर्वत्र दुर्भाषित से विरत रहना चाहिये। और प्रियतर वचन का ही प्रयोग करना चाहिए। प्रियतर वचन ओर सुन्दर सुभाषित के प्रयोग से मनुष्य के अन्त:करण में विप्रसन्नता आती है। और दूसरे लोग भी विप्रसन्न होते हैं। शास्ता के समक्ष वङ्गीस कहता है—

तमेव वाचं भासेय्य यायत्तानं न तापये ।
परे च न विहिंसेय्य सा वे वाचा सुभासिता ।। (सृ.नि.पृ.११२।)

कहने का तात्पर्य यह है कि उसी वाणी का प्रयोग करना चाहिए जो न तो स्वयं को संतप्त करे और न दूसरों को ही कष्ट पहुँचाए। ऐसी वाणी को ही सुभाषित कहते हैं। वस्तुत: आह्लादकारी सत्यवचन का ही प्रयोग करना चाहिए। जो सबों के लिए सुखद और प्रियकर हो। पुन: आगे वङ्गीस कहता है—

पियवाचमेव भासेय्य या वाचा पटिनन्दिता ।
यं अनादाय पापानि परेसं भासते पियं ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सच्चं वे अमतावाचा एस धम्मो सनन्तनो ।
सच्चे अत्थे च धम्मे च आहु सन्तो पतिट्ठिता ।।१।।

किसी को भी प्रियवचन का ही प्रयोग करना चाहिए जिसे दूसरे लोग आनन्दपूर्वक ग्रहण कर सकें। वह पापरहित हो दूसरों के लिए प्रियवचन का प्रयोग करता है। सत्य ही अमृत वचन है, यही सनातन धर्म है। सत्य, अर्थ और धर्म में सन्त प्रतिष्ठित रहते हैं।

इस प्रकार बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध तथा बुद्ध के सुयोग्य शिष्य सुभाषित का प्रयोग करते हैं। धर्मवचन, प्रियवचन तथा सत्यवचन का प्रयोग को ही सुभाषित कहते हैं।

२. सामाजिक आचारदर्शन

भगवान् बुद्ध मानव-कल्याण के प्रति विशेष रूप से अभिरुचि रखते थे और वस्तुतः उन्होंने उन सिद्धान्तों को अभिगृहीत किया जो मानव समुदाय के सामाजिक जीवन के लिए लाभकारी है। हम यह पाते हैं कि भगवान बुद्ध तात्त्विक गूढ़ समस्याओं के प्रति सम्बद्ध उतने नहीं थे जितना कि वे समाज में नैतिक आदर्शों के समुन्नयन में प्रयत्नशील थे। समस्त बुद्ध की धर्मदेशना से हमें यही शिक्षा मिलती है कि कहींभी उन्होंने तात्त्विक दृष्टिकोण का प्रज्ञापन नहीं किया। पोट्ठपाद के द्वारा पूछे गये तात्त्विक एवं गूढ़ प्रश्नों को उन्होंने व्याकृत नहीं किया और उन प्रश्नों को अव्याकृत इसलिए कहा क्योंकि इस प्रकार के प्रश्न न अर्थयुक्त हैं न धर्मयुक्त, न आदि ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त हैं, न निर्वेद के लिए हैं, न वैराग्य के लिए न निरोध के लिए, न उपशम के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न परमार्थज्ञान एवं सम्बोधि के लिए और न निर्वाण के लिए ही हैं। भगवान् बुद्ध अनन्त करुणा के प्रतिमान थे, संसार के सभी जीवों के प्रति वे दयावान् थे। समाज में परिव्याप्त रूढ़ियों, अन्धविश्वासों को निरस्त कर उन्होंने विशुद्ध, नैतिक जीवन-यापन के समुन्नत मार्ग को प्रशस्त किया। गृहस्थ जीवन तथा मठीय जीवन दोनों के लिए उन्होंने सामाजिक आचारदर्शन का प्रवर्तन किया तथा मनुष्यों एवं उनके सामाजिक सम्बन्धों के बीच उन भावनाओं और विचारों को स्थापित किया जो विश्वबन्धुता, दयालुता तथा परस्पराश्रयिता पर आश्रित था। उन्होंने मधुर सामाजिक भावसंवेगों के संवर्धन और संपोषण के लिए आग्रह किया ताकि वे एक दूसरे के साथ सुमनस्क और विप्रसन्न हो रह सकें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. माता-पिता अर्थात् पितरों के उपस्थापन (सेवा) को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है—'माता-पितु-उपट्ठानं'। अपनी सन्तान के प्रति माता-पिता के हृदय में वात्सल्य की भावना सर्वदा वर्त्तमान रहती है और वे अपनी सन्तान की सुख-समृद्धि के लिए सर्वदा सचेष्ट रहते हैं। अतः सन्तान के लिए अनिवार्य है कि सन्तान पूरी निष्ठा के साथ माता-पिता का भरण-पोषण करे ताकि वे विप्रसन्न जीवन यापन कर सकें। जो सन्तान माता-पिता की निष्ठापूर्वक सेवा नहीं करती है, वह पाप के भागी होती है। माता सर्वदा अनुकम्पा करने वाली होती है, वह प्रतिष्ठा है, वह क्षीररूपी प्रथम रस की दायिका है। स्वर्ग का मार्ग है। प्रथम क्षीररूपी रस का पान कराने वाली, विपत्तियों से रक्षा करने वाली, पुण्य को उपसंहृत करने वाली माता ही है—

अनुकम्पा पतिट्ठा च पुब्बेरसददी च नो ।
मग्गो सग्गस्स सोपानं माता ते वरते इसे ।।

पुब्बे रसददी गोत्ती माता पुञ्ञूपसंहिता ।
मग्गो सग्गस्स लोकस्स माता तं वरते इसे ।।

माता सन्तान रूपी फल की प्राप्ति के लिए अनेक दुष्कर क्रियाएँ करती हैं। पुत्रफल की कामना करती हुई वह देवताओं को नमस्कार करती है, नक्षत्रों के बारे में पूछती है, ऋतु तथा संवत्सर के बारे में पूछती है। ऋतुनी होने पर गर्भ स्थापन होता है उससे वह दोहदवाली होती है और सुहृदया कहलाती है। वर्ष भर या उससे कम समय तक गर्भधारण किए रहकर, वह सन्तान को जन्म देती है, उसीसे वह जननी (जनिका) कहलाती है। स्तन पान कराकर, गीतगाकर, अंगों का संचालन कर वह रोती हुई सन्तान को सन्तुष्ट करती है, इसलिए वह संतुष्ट करने वाली कहलाती है। माता ममता के साथ अबोध बच्चे को घोर वात-आतप (हवा, धूप) से रक्षा करती हुई पुत्रों का पोषण करती है। माता-पिता का जो धन होता है, वह दोनों की रक्षा करती हुई, यह मेरे पुत्र का धन होगा, समझकर उसकी रक्षा करती है। इस प्रकार पुत्र को विभिन्न कर्म करने की शिक्षा देती हुई कष्ट पाती है। इस प्रकार कठिनाई से संपोषित पुत्र जब माता-पिता की सेवा नहीं करता है, तब वह निरयलोक में जाता है।

आकङ्खमाना पुत्तफलं देवताय नमस्सति ।
नक्खत्तानि च पुच्छति उतुसंवच्छरानि च ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्सा उतुसिनाताय होति गब्भस्स अवक्कमो ।
ते दोहलिनी होति सुहदा तेन वुच्चति ।।
संवच्छरं च ऊनं वा परिहरित्वा विजायति ।
तेन सा जनयन्ती जनेत्ती तेन वुच्चति ।।
थनखीरेन गीतेन अङ्गपापुरणेन च ।
रोदन्तं एव तोसेति तोसेन्ती तेन वुच्चति ।।
तसो वातातपे घोरे ममिं कत्वाव दारकं ।
अप्पजानन्त पोसेति पोसेन्ती तेन वुच्चति ।।
यं च मातुधनं होति यञ्ञ होति पितुधनं ।
उभयं एतस्स गोपेति, अपि पुत्तस्स नो सिया ।।
एवं पुत्त अदु पुत्त इति माता विहञ्ञति ।
पमत्तं परदारेसु निसीथे पत्तयोब्बने
सायं पुत्तं अनायन्तं इति माता विहञ्ञति ।।

(जातक-५ सोणनन्दजातक)

पुत्र माता-पिता के ऋण से कभी मुक्त नहीं होता, क्योंकि दोनों मिलकर पुत्र के चतुरस्र विकास के लिए, सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं और वात्सल्य की ऊर्जस्वित धारा निरन्तर प्रवाहित करते रहते हैं। माता-पिता दोनों महनीय एवं प्रशंसनीय होते हैं, वे ब्रह्म हैं, प्रथम आचार्य हैं। वे पुत्रों द्वारा आदरणीय हैं, वे सन्तान पर अनुकम्पा करने वाले होते हैं। इसलिए पण्डित को चाहिए कि उन्हें नमस्कार करें तथा उनका आदर करें। जो पण्डित जन अन्न-पान से, वस्त्र से, संमर्दन, संवाहन से, स्नान, पाद-प्रक्षालन से सेवा करता है, उसकी यहाँ प्रशंसा होती है, और स्वर्ग में जाने पर वह आनन्द को प्राप्त होता है—

ब्रह्मा हि माता-पितरो पुब्बचरिया ति वुच्चरे ।
आहुनेय्या च पुत्तानं पजानं अनुकम्पका ।।
तस्मा हि ते नमस्सेय्य सक्करेय्य च पण्डितो ।
अन्नेन अथोपानेन वत्थेन सयनेन च ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तायं न परिचरियाय मातापितुसु पण्डिता ।
इध चेव नं पसंसन्ति पेच्च सग्गे च मोदति ।।

(सोनन्द जातक ९।९३)

सिगालावाद सुत्त के अनुसार पाँच प्रकार से माता-पिता की सेवा (प्रत्युपस्थान) करनी चाहिए—१. इन्होंने मेरा भरण-पोषण किया है, अतः मुझे उनका भरण पोषण करना चाहिए। २. इन्होंने मेरा कार्य किया है अतः मुझे इनका कार्य करना चाहिए ३. इन्होंने कुल-वंश को कायम रखा है अतः कुलवंश को कायम रखना चाहिए। ४. इन्होंने मुझे दायाद (दायज्ज) विरासत दिया है। अतः मुझे दायाद प्रतिपादन करना चाहिए। मृत पितरों के निमित्त श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए। इस प्रकार पाँच तरह से सेवित माता पिता पुत्र पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते है। (क) पाप कर्मों से निवारित करते हैं (ख) पुण्यकर्मों में नियोजित करते हैं। (ग) शिल्प सिखलाते हैं। (घ) योग्य स्त्री से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कराते हैं। (त) समय पाकर दायज्ज का निष्पादन करते हैं। इस पाँच बातों से पुत्र की पूर्वदिशा प्रतिच्छन्न, क्षेमयुक्त एवं भयरहित होती है। सिंगालोवाद सुत्त, (दी. नि३।२।)

सचमुच पाँच वस्तुओं को देखकर माता-पिता पुत्र की कामना करते है। वह भरण-पोषण करेगा, करणीयकर्मों का सम्पादन करेगा, वह कुलवंश को प्रतिष्ठित करेगा, वह दायाद को सुरक्षित रखेगा और मरणोपरान्त प्रेतों को उपायन भेंट करेगा इन पाँच बातों को देखकर पण्डित पुत्र की कामना करते है। पूर्वकृत कार्यों का अनुस्मरण कर कृतज्ञ एवं कतवेदी पुत्र अपने माता-पिता की सेवा करते है, विप्रसन्न हो भरण-पोषण करते है, वे आज्ञाकारी भृतपोषी तथा कुलवंश के रक्षक होते हैं। श्रद्धावान् एवं शीलसम्पन्न पुत्र प्रशंसनीय होते हैं—

पञ्चट्ठानानि सम्पस्सं पुत्तं इच्छन्ति पण्डिता ।
भतो वा नो भरिस्सति किच्चं वा नो करिस्सति ।।
कुलवंसो चिरं तिट्ठे दायज्जं पटिपज्जति
अथवा पन पेतानं दक्खिणंनुपदस्सति ।
ठानञ्चेतानि सम्पस्सं पुत्तं इच्छन्ति पण्डिता ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मा सन्तो सप्पुरिसा कत्तञ्ञू कतवेदिनो ।
भरन्ति मातापितरो पुब्बे कतमनुस्सरं ।।
करोन्ति नेसं किच्चानं यथातं पुब्बकारिने ।
ओवादकारी भतपोसी कुलवसं अहापये ।
सद्धो सीलेनसम्पन्नो पुत्तो होति पसंसियो ।।

(अं. नि. सुमनवग्ग)

जो माता पिता की मन से सेवा नही करते हैं, वे निरयलोक को जाते हैं। धन की कामना करने वालों का धन भी विनष्ट हो जाता है और कष्ट पाते हैं किन्तु जो माता-पिता की विप्रसन्न मन से सेवा करते हैं वे जीवन में आमोद, प्रमोद, हास्य क्रीड़ा एवं आनन्द पाते हैं। जो माता-पिता की सेवा करते हैं वे यहाँ सब कुछ पाते हैं, और प्रशंसित होते हैं—

एवं किच्छाभतो पोसो मातु अपरिचारको ।
मातरि मिच्छा चरित्वान निरयं सो उपपज्जति ।
एवं किच्छाभतो पोसो पितु अपरिचारको ।
पितरि मिच्छा चरित्वान निरयं सो उपपज्जति ।।
धनं पि धनकामानं नस्सति इति मे सुतं ।
मातरं अपरिचरित्वान किच्छं वा सो निगच्छति ।।
धनं पि धनकामानं नस्सति इति मे सुतं ।
पितरं अपरिचरित्वान किच्छं वा सो निगच्छति ।।
आनन्दो च पमोदो च सदाहसितकीळितं ।
मातरं परिचरित्वान लभमेतं विजानतो ।।
आनन्दो च पमोदो च सदाहसितकीळितं ।
पितरं परिचरित्वान लभमेतं विजानतो ।।
धनं च पियवाचं च अत्थचरिया च या इध ।
समानत्तता च धम्मेसु तत्थ तत्थ यथारहं ।।
एते खो संगहा लोके रथस्साणीव जायतो ।
एते च संगहा नास्सु न मातापितुकारणा ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लमेथ मानं पूजं च पिता वा पुत्तकारणा ।
यस्मा च संगहा एते समवेक्खन्ति पण्डिता ।
तस्मा महत्तं पप्पोन्ति पसंसा च भवन्ति ते ।।

इस प्रकार हित चाहने वाले अपने माता-पिता की निष्ठापूर्वक सेवा करते हैं' वे सदा सुखपूर्वक जीवन-यापन करते हैं और मनोवांछित फल को प्राप्त करते हुए सर्वदा विप्रसन्न रहते हैं। जो प्रभूत धन रहने पर भी वृद्ध माता-पिता (जिण्णकं गतयोब्बनं) की सेवा नहीं करते हैं उसे वृषल समझना चहिए—

यो मातरं पितरं वा जिण्णकं गतयोब्बनं ।
पहु सन्तो न भरति, तं जञ्ञा वसलो इति।। सु. नि. वसलसुत्त

इस प्रकार भगवान बुद्ध ने माता-पिता की सेवा को उत्तम मंगल कहा है क्योंकि माता-पिता की सेवा करने से दोनों लोकों में लोगों की प्रतिष्ठा होती है और वे अपरिमित आनन्द के भागी होते हैं।

(२) **पुत्तदारस्ससङ्गहो** अर्थात पुत्र तथा स्त्री का संग्रह अर्थात् पालन करना उत्तम मङ्गल है। 'पुत्र' (पुत्र) शब्द का प्रयोग यहाँ पुत्रों दुहिताओं दोनों के लिए हुआ हैं। इतिवुत्तक के पुत्रसुत्त में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि पुत्र तीन प्रकार के होते हैं—अतिजात, अनुजात तथा अवजात—'इमे खो भिक्खवे, तयो पुत्ता सन्तो संविज्जमाना लोकस्मिं—

अतिजातं अनुजातं पुत्तमिच्छन्ति पण्डिता ।
अवजातं न इच्छान्ति यो होति कुलमन्धिनो ।। (इति वु.-पुत्त सुत्त)

जो पुत्र अतिजात प्रणीतोत्पन्न और अनुजात समानोत्पन्न होते हैं, उन्हें पण्डित चाहते हैं और जो अवजात हीनोत्पन्न होते हैं उन्हें पण्डित लोग नहीं चाहते हैं। क्योंकि वे कुल के उच्छेदक होते हैं।

सङ्गहो संग्रह का अर्थ है—सहयता प्रदान करना, ठीक ढंग से पुत्र दारा का अनुपालन करना। इसे उत्तम मङ्गल कहा गया हैं। जो माता-पिता अपने बच्चों का भरण-पोषण करते हैं। उनके कृत्यों का सम्पादन करते हैं। मृत प्रेतों के निमित्त श्राद्ध-दान करते हैं। कुलवंश की परम्परा को सुरक्षित रखते हैं पुत्रों के दायाद को सुरक्षित रखते हैं। उनके पुत्र भी अपने माता-पिता की भरण-पोषण करते है। कुलवंश की परम्परा को बनाए रखते हैं, उत्तराधिकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को सुरक्षित रखते हैं। मृतप्रेतों के निमित्त श्राद्धदान देते हैं (दी. नि. सिगालोवादसुत्त)

दारा (भरिया) बीस प्रकार की कही गयी है—(१) मातृरक्षिता (२) सारक्षा (३) पितृरक्षिता (४) मात-पितृरक्षिता (५) भ्रातृरक्षिता (६) भगिनीरक्षिता (७) ज्ञातिरक्षिता (८) गोत्ररक्षिता (९) धर्मरक्षिता (१०) सपरिदण्डा (११) धनक्रीता (१२) छन्दवासिनी (१३) भोगवासिनी (१४) उदकपात्री (१५) पटवासिनी (१६) अवभृतचुम्बटा (१७) ध्वजाहृता (१८) कर्मकारी (१९) दासीभार्या (२०) गोत्ररक्षिता।

अन्यत्र सात प्रकार की पत्नियों का भी निरूपण किया गया है—(१) वधिकापत्नी (२) चोरापत्नी (३) आर्या-पत्नी (४) माता-पत्नी (५) भगिनी-पत्नी (६) सखा-पत्नी तथा (७) दासी-पत्नी। इनमें से जो माता-पत्नी, भगिनी-पत्नी तथा दासी-पत्नी हैं वे मरने के बाद सुगति को प्राप्त होती हैं तथा जो वधिका-पत्नीं, चोरा-पत्नी, आर्या-भार्या, दुश्शीलरूपा, परुषा तथा अनादरा हैं, वे मरने के बाद दुर्गति को प्राप्त होती हैं (अं.नि. अव्याकतवग्ग)।

भार्या को पश्चिम दिशा की संज्ञा दी गयी है, अतः स्वामी को सम्मान से, अनादर न करने से, अतिचार अर्थात् परदारा गमन न करने से, ऐश्वर्य प्रदान से, अलंकार आभूषण, वस्त्राभरण प्रदान से भार्या रूपी पश्चिम दिशा का उपस्थान होने से वह स्वामी पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करती है— (१) वह ठीक ढंग से गृहकार्यों का सम्पादन करती है, (२) परिजनों दासकर्मियों को वश में रखती है (३) स्वयं अतिचार नहीं करती हैं। (४) अर्जित द्रव्यादि की रक्षा करती है सब कार्यों में दक्ष तथा निरालस्य रहती है। (दी. नि. सिगालोवाद सुत्त)

इस प्रकार पुत्रदारसंग्रह उत्तम मंगल है। शक्र ने मातलि से कहा है कि जो पुण्यकारी, शीलवान् गृहस्थ उपासक धर्म के द्वारा नियमपूर्वक दारा का सम्पोषण करते हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ—

ये गहट्ठा पुञ्ञकरा सीलवन्तो उपासको ।
धम्मेन दारं पोसेन्ति तं नमस्सामि मातलि ।। (सं. नि. सक्कसुत्त)

(३) अनाकुल कर्मान्त को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा हैं। कृषिकर्म, गोरक्षा तथा वाणिज्य पर मनुष्यों की अजीविका निर्भर करती है। अनेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार की उलझनों तथा समस्याओं से रहित आजीविका को अनाकुल कर्मान्त कहते हैं। अनाकुल कर्मान्त समाननिष्ठा, सम्यककर्म, उद्योगपरायणता तथा प्रातरुत्थान को जन्म देता है और अवद्य कर्मों से मुक्त रखता है। कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य का सम्पादन यदि विवेक से अथवा पत्नी-बच्चों तथा परिचरों के सहयोग से किया जाता है, तो वह धनार्जन का मूल कारण बनता है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जो अनुरूप कार्य करने वाला है, उत्साही तथा उद्योगपरायण एवं आरब्धवीर्य है, वह धन को प्राप्त करता है—'पतिरूपकारी धुरवा उट्ठाता विन्दते धनं (आलवक सुत्त)

सिगालोवाद सुत्त में भगवान् ने कहा है कि जो दिन में सोने वाला है, रात में उठने को बुरा मानता है, मद पीकर जो मदोन्मत्त रहने वाला है,वह घर-गृहस्थी नहीं चला सकता है। बहुत शीत है बहुत उष्ण है अब बहुत संध्या हो गयी है, इस तरह विचार करते हुए मनुष्य निर्धन हो जाते हैं किन्तु जो पुरुष काम करतें हुए शीत उष्ण को तृण से अधिक नहीं मानते है, वह पुरुष कृत्यों को करने वाला कभी सुख से वञ्चित नहीं होते हैं।

न दिवासुप्प सीलेन रत्तिनुट्ठान दस्सिना ।
निच्चं मत्तेन सोण्डेन सक्का आविसितुं घरं ।
अतिसीतं अतिउण्हं अतिसायमिदं अहु ।
इति निस्सट्ठकम्मन्ते अत्था अच्चेन्ति माणवे ।
यो च सीतं च उण्हञ्च तिणा भिय्यो न मञ्ञति
करं पुरिसकिच्चानि सो सुखा न विहायतीति ।।

(दी.नि. सिंगाल सुत्त)

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जो निद्राशील है, सभाशील है, अनुद्यमी है, क्रोधी है, उस मनुष्य का पराभव होता है—

निद्दासीली सभासीली अनुट्ठाता च यो नरो ।
अलसो कोधपञ्ञाणो तं पराभवतो मुखं ।।

अन्यत्र भगवान् बुद्ध ने कहा है कि मधुमक्खी के समान भोगों का संचय करने वाला है, उसके भोग वल्मीक की तरह बढ़ते हैं—

भोगे संहरमानस्स भमरस्सेव इरीयतो ।
भोगा सन्निचयं यन्ति वम्मीकोवूपचीयति ।। (दी. नि. सिंगालसुन्त)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) दान–

भगवान् बुद्ध ने दान को उत्तम मङ्गल कहा है। दान का अर्थ है— सम्प्रदान, उपायन, उदारता, दयालुता आदि। दान में त्याग की चेतना अनुस्यूत रहती है। दान को सम्प्रदान की संज्ञा दी जा सकती है जिसमें अतिशय दयालुता तथा उदारता की भावना के साथ संतोष की वृत्ति सम्पृक्त रहती है। दूसरे की हितैषिता के लिए स्व धन का समर्पण ही दान है। दान देने योग्य वस्तुओं में अन्न, पान, वसन, पुष्प, गन्ध, शयनासन, उपवेशनाशन, निवेसन तथा प्रदीप हैं। दान में अभिध्या नही होती, स्व का पूर्ण समर्पण होता है। दान उत्तम मङ्गल है क्योंकि यह विशेष फल के अधिगम का कारण है। दान देने वाला सबो के लिए प्रिय होता है। वह सबों का हृदयानुरञ्जक होता है।

दान देने के पूर्व दाता हृदय से विप्रसन्न होता है, देने के बाद वह पूर्ण संतुष्ट रहता है, दिए जाने पर उसका हृदय उल्लास से भर जाता है। गृहीता का मन लोभ, लिप्सा, घृणा तथा मोह से मुक्त होता है। दान की महिमा अप्रमेय तथा अनिर्वचनीय है। दान की महिमा का निरूपण करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है—कि दान से पूर्व सुमनस्क पुरुष, देते समय चित्त को प्रसन्न करे, देकर सन्तुष्ट होता है, यही दानयज्ञ की सम्पदा है। ब्रह्मचारियों का दान सम्पन्न क्षेत्र है। यदि कोई परिशुद्ध हो स्वयं अपने हाथों से दान देता है तो अपने और दूसरों के लिए यह दानयज्ञ महान् फल वाला होता है। इस प्रकार श्रद्धावान्, मेधावी मुक्तचित्त से दानयज्ञ कर दुःखरहित सुख संसार में उत्पन्न होता है—

पुब्बेव दाना सुमनो ददं चित्तं पसादये ।
दत्वा अत्तमनो होति, एसा यञ्ञस्स सम्पदा ।।

वीतरागो वीतदोसो वीतमोहो अनासवो ।
खेत्तं यञ्ञस्स सम्पन्नं सञ्ञताब्रह्मचारिनो ।।

सयं आचरियत्वान दत्वा सकेभि पाणिभि ।
अत्तनो परतो चेसा यञ्ञो होति महप्फलो ।।

एवं यजित्वा मेधावी सद्धा युत्तेन चेतसा ।
अब्यापज्जं सुखं लोकं पण्डितो उपपज्जति ।।

(अ.नि. सेखपरिहानिवग्ग)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय वाङ्मय में दान के कई प्रकारों का वर्णन मिलता है। सात्त्विकदान, राजसदान तथा तामसदान। अन्यदानों में धर्मदान, अर्थदान, भयदान, कामदान, करुणादान तथा अधमदान का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इन सभी दानों में धर्मदान को सर्वश्रेष्ठ दान कहा गया है और यह धारणा व्यक्त की गयी है कि धर्मदान सभी दानों को जीत लेता है—

धम्मदानं सब्बदानं जिनाति, सब्बंरसं धम्मरसं जिनाति ।
सब्बंरतिं धम्मरतिं जिनाति, तण्हक्खयो सब्ब दुक्खं जिनाति ।। (धम्मपद)

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि दान उसे देना चाहिए जो सच्चरित्र, सत्यनिष्ठ, ब्रह्मभूत, रागद्वेष एवं मोहमुक्त, अहिसंक, तथा जो अमर्षशून्य हो। श्रद्धापूर्वक दिया गया अल्पदान भी महान् फलवाला होता है। दान और युद्ध को समान माना गया है। अल्प सेना भी जैसे बहुतों को जीत लेता है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक दिया गया अल्पदान से भी सत्त्व परलोक में सुखी होता है। धर्मलब्ध और आरब्धवीर्य को जो दान देता है, वही यम की वैतरणी को पार कर दिव्यस्थानों को प्राप्त करता है—

दानं च युद्धं च समानमाहु, अप्पा पि सन्ता बहुके जिनन्ति ।
अप्पं चे सद्धहानो ददाति, तेनेव सो होति सुखी परत्था ।।

यो धम्मलद्धस्स ददाति दानं, उट्ठानविरियाधिगतस्स जन्तु ।
अतिक्कम्म सो वेतरणिं यमस्स दिब्बानि ठानानि उपेतिमच्चो ।।
(सं.नि. १ पृ.)

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जीवलोक में जो दक्षिणेय्य हैं, उनका चयन कर दिया गया दान उसी प्रकार महान फलवाला होता है जिस प्रकार सुन्दर खेत में बोया गया बीज महान फलवाला होता है—

विचेय्यदानं सुगतप्पसत्थं, ये दक्खिणेय्या इध जीवलोके ।
एतेसु दिन्नानि महप्फलानि, बीजानि वुत्तानि यथा सुखेत्ते ।।

सद्धा हि दानं बहुधा पसत्थं दाना च खो धम्मपदं व सेय्यो ।
पुब्बे च हि पुब्बतरो च सन्तो, निब्बानमेवज्झगमुंसपञ्ञा ।।
(सं.नि. १ पृ.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान के संदर्भ में दानपारमिता का उल्लेख मिलता है। भगवान बुद्ध ने कहा है कि दान के समान मेरे लिए कुछ नहीं है—'न मे दानसमो अत्थि'। जैसे जिस प्रकार जल से भरा घट नीचे करने पर सम्पूर्ण जल को वमन कर देता है, उसी प्रकार हीन मध्यम तथा उत्कृष्ट याचकों को देखकर अधोकृत कुम्भ के समान निश्शेष दान दो—

यथापि कुम्भो सम्पुण्णो यस्स कस्सचिअधोकतो ।
वमते उदकं निस्सेसं न ते तत्थ परिरक्खति ।
तथेव याचके दिस्वा हीनमुक्कट्ठमज्झिमे ।
ददाहि दानं निस्सेसं कुम्भो विय अधोकतो ।।

(अट्ठसलिनी, पृ.२३-२४)

दान पारमिता से यह सिद्ध होता है कि दान से मनुष्य इस पार से उस पार चला जाता है अर्थात् भवप्रपञ्च से मुक्त होकर प्रपञ्चोपशम निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

(५) सदाचरण अर्थात धर्मचर्या (धम्मचरिया) को भगवान बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है। 'धम्मचरिया' दो संघटक अवयवों के योग से निष्पन्न है—धम्म तथा चरिया, जिसका अर्थ है—धर्मपरायण आचरण। दस कुशल कर्म पथ को धर्मचर्या की संज्ञा दी जा सकती है। दस कुशल कर्मपथों में तीन काय सुचरित हैं, जिनमें अहिंसा, अदत्तादानविरति, तथा काममिथ्याचारविरति का उल्लेख किया गया है। वाक् सुचरित चार हैं जिनमें सत्यवचन, अपिशुनवचन, अपरूषवचन तथा असम्भिन्नप्रलाप का उल्लेख किया गया है। मनः सुचरित में अनभिध्या, अ द्वेष और अविहिंसा परिगणित हैं। इस प्रकार कायसुचरित, वाक् सुचरित तथा मनः सुचरित को धर्मचर्या कहते हैं। धर्मिक आचरण अर्थात् धर्मचर्या से इहलोक तथा परलोक में अपरिमित सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है, अतः यह उत्तम मङ्गल है। धर्मपरायण आचरण स्वर्गिक संसार में पुनर्जन्म का कारण है।

(६) ञातिसङ्गह अर्थात कुटिम्बियों, ज्ञातियों एवं परिवारों को सहयोग प्रदान करना भी उत्तम मङ्गल है। ज्ञाति उसे कहते हैं जो मातृ-पितृ पक्ष की सातपीढ़ियो से सम्बद्ध हैं। सम्बन्धियों को सहयोग प्रदान करने की दो पद्धतियाँ है—भौतिक सहयोग तथा धार्मिक सहयोग। भौतिक सहयोग में अन्न, वसन, शयनासन,निवास तथा धन का सहयोग वाञ्छित है। धर्म सहयोग में धर्मोपदेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सम्बन्धियों को धर्माचरण में नियोजित कर उसे सन्मार्गगामी बनाता है और समुन्नत आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करने का सुअवसर प्रदान करता है। सम्बन्धियों को सहयोग प्रदान करना पुण्यात्मक कार्य है जो व्यक्ति के चरित्र को परमोदात्त बनाता है। जो ज्ञातिजन, दीन, दरिद्र, असहाय तथा निर्धन हैं, उन्हें यथाकाल सहयोग प्रदान करने से वे समृद्ध एवं विप्रसन्न होते हैं तथा सहयोग प्रदान करने वाले को वे अपने आशीर्वचनों से उपकृत करते. हैं।

इस प्रकार ञातिसङ्गह (ज्ञातिसंग्रह) उत्तममङ्गल है, जो अपरिमित्त आनन्द का कारण है तथा इहलोक तथा परलोक में फलदायी है।

(७) अनवज्जकमन्त अर्थात् दोषरहित कर्म अनवद्यकर्म को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है। अनवद्य कर्म में उपोसथ, सामाजिक सेवा, उद्यान-आराम लगाना, वृक्ष लगाना, सेतु बनाना, कूपनिर्माण करना आदि आते हैं।

उपोसथ (उपवसथ) का अर्थ है—बिना भोजन के रहना 'उपवसन्ति सीलेन वा अनसनेन वा उपेतो हुत्वा वसन्तीति उपोसथो' उपोसथ शोभन नैतिक आचरण के लिए अनिवार्य है। समीप बैठना, भिक्षुसंघ का एकचित्त होकर धर्मोपदेश करना, धार्मिक कार्य के लिए संघ के भिक्षुओं का एकत्र होना या शुद्ध मन से एकसाथ बैठना ही उपोसथ है। शरीर और चित्त के विशोधन के लिए महीने की कुछ विशिष्ट तिथियों इसके लिए निर्धारित की गयी हैं—अष्टमी, चतुर्दशी तथा पूर्णिमा। इससे संघ में एकता, समता तथा बन्धुता की भावना बढ़ती है। उपोसथ में रहने वालों को हिंसा, चोरी, झूठ, मद्यपान तथा काम-मिथ्याचार अब्रह्मचर्य से सर्वथा विरत रहना चाहिए। मालाधारण गन्धविलेपन आदि का वर्जन करना तथा पृथ्वी पर सोना चाहिए—इसे अष्टांगिक उपोसथ कहते हैं। अष्टांगिक उपोसथ की सोलहवीं कला को भी मणि, वैदूर्य आदि नहीं प्राप्त कर पाते हैं। इसलिए जो शीलवान् नर-नारी अष्टांगों से समुपेत होकर उपोसथव्रत धारण करते हैं, वे विप्रसन्न हो स्वर्ग को प्राप्त करते हैं—

पाणं न हाने न चादिन्नमादिये, मुसा न भासे न च मज्जपो सिया ।
अब्रह्मचरिया विरमेय्य मेथुना, रत्तिं न भुञ्जेय्य विकालभोजनं ।

---

१. धम्मिकसूत्त, सुत्तनिपात पृ१००।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मालं न धारे नच गन्धमाचरे, मञ्चे छमायं च सयेथ सन्थते ।
एतं हि अट्ठङ्गिकमाहुपोसथं, बुद्धेन दुक्खन्तगुना पकासितं ।।

मुत्तामणि वेलुरियं च भद्दकं सिंगीसुवण्ण अथवा पि कञ्चनं ।
यं जातरूपं हरकं च वुच्चति अट्ठङ्गुपेतस्स उपोसथस्स ।।

कल्लम्पि ते नानुभवन्ति सोलसिं चन्दप्पभा तारगणापि सब्बे ।
तस्माहि नारी च नरो च सीलवा अट्ठङ्गुपेतं उपवस्सुपोसथं ।
पुञ्ञानि कत्वान सुखुन्द्रियानि अनिन्दिता सग्गमुपेति ठानं ति ।।

अन्य उपोसथों में 'पकति उपोसथ' पटिजागर उपोसथ तथा पाटिहारिक उपोसथ के नाम उल्लेख्य हैं। पकतिउपोसथ का अर्थ है उपोसथ का समान्य अनुपालन जिसे महीने के आठ दिनों तक रखा जा सकता है। शुक्ल-पक्ष में चार दिन तथा कृष्ण पक्ष कालपक्ख में पाँचवी, आठवीं, चतुर्दशी तथा पूर्णिमा की तिथियाँ इसके लिए निर्धारित हैं। ये पकति-उपोसथ के समय हैं।

'पटिजागर-उपोसथ' यह उद्‌बोधित व्यक्तियों के द्वारा अनुपालनीय उपोसथ है। महीने के ग्यारह दिनों तक इसका अनुष्ठान किया जा सकता है। यह शुक्लपक्ष के पाँच दिन अर्थात् चतुर्थी, पञ्चमी, सप्तमी, नवमी तथा त्रयोदशी को तथा कृष्णपक्ष की प्रतिपदा, चतुर्थी, षष्ठी, सप्तमी, नवमी, द्वादशी तथा त्रयोदशी को उपोसथ किया जा सकता है।

पाटिहारिक-पक्ख उपोसथ-यह एक विशिष्ट प्रकार के उपोसथ का अनुपालन है। इसका अनुपालन वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होने पूर्व आषाढ़ में तथा मध्य जुलाई से मध्य अक्तूबर तक वर्षा ऋतु के तीन महीनों में तथा कार्त्तिक माह में किए गए उपोसथों को पाटिहारिक उपोसथ कहते हैं। इस सन्दर्भ में भगवान् बुद्ध ने कहा है—

ततो च पक्खस्सुपवस्सुपोसथं चातुद्दसिं पञ्चदसिं च अट्ठमिं ।
पाटिहारिकपक्खञ्च पसन्नमानसो अट्ठङ्गुपेतं सुसमत्तरूपं ।।

(सुत्तनिपात, धम्मिकसुत्त, १८२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धार्मिक जीवन के सिद्धान्त

धार्मिक जीवन की प्रभास्वरता के लिए मन का प्रभास्वर एवं पर्यवदात होना अपरिहार्य है। प्रभास्वर एवं निर्मल मन के द्वारा ही कुशल कर्मों एवं दिव्य आचरणों का संपादन संभव है। मन के संक्लिष्ट होने पर जो कार्य होते हैं, वे सर्वथा अकुशल होते हैं। धम्मपद में कहा गया है कि मन सभी धर्मों का अग्रणी है, वह मनोमय (अतिसूक्ष्म) है यदि कोई प्रदुष्ट मन से बोलता या करता है तो दुःख उसका पीछा वैसे ही करता है जैसे गाड़ी में जुते बैल के पैर का पीछा चक्का करता है—

मनो पुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया ।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं ।। (धम्मपद १।१)

यहाँ धार्मिक जीवन का अर्थ है वह बौद्ध जो बुद्ध में अटूट आस्था और अटल विश्वास रखते हैं। ये बौद्ध चार संघों में विभक्त हैं— भिक्खुभिक्खुनी, उपासक तथा उपसिका। यह संघ भी दो वर्गों में विभक्त हैं— भिक्षु जीवन तथा उपासक जीवन। ये बौद्ध धर्म का अनुपालन संसार में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए करते हैं। मङ्गलसुत्त में उपदिष्ट उपदेश मङ्गल अर्थात् निर्वाण के अधिगम के लिए निर्देश का कार्य करते हैं।

(९) **आरति-विरति पापा–** अर्थात् पाप से आरति तथा विरति उत्तम मंगल है। पापकर्मों में दोष देखकर मानसिक अनभिरति अनासक्ति को आरति कहते है। 'आरति नाम पापे आदीनवदस्साविनो मनसा एवं अनभिरिति कर्मद्वार के द्वारा काय और वचन से विरमण को विरति कहते हैं 'विरति नाम कम्मद्वारवसेन कायवाचाहि विरमणं' विरति तीन प्रकार की होती है— सम्पत्तविरति, समादानविरति तथा समुच्छेद विरति। सम्प्राप्तवस्तुओं से विरति को सम्पत्त विरति, कहते हैं, शिक्षापदसमादान के द्वारा विरति को समादान विरति कहते है तथा आर्यमार्गसम्प्रयुक्त विरति को समुच्छेदविरति कहते हैं, इससे पाँच प्रकार का भय और वैर उपशान्त होते हैं।

पापकर्मों से विरति के बारे में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि प्राणातिपात हिंसा अदिन्नादान चोरी मुसावाद असत्यवचन तथा परदारगमन दूसरे की स्त्री के साथ गमन गर्हित है। पण्डित अर्थात् ज्ञानी जन इसकी प्रशंसा नहीं करते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाणातिपातो अदिन्नादानं मुसावादो पवुच्चति ।
परदारगमनञ्चेव नप्पसंसन्ति पण्डिता ।। (दी. नि. ३।१४०)

पाप कर्म मूलतः छन्द, द्वेष, मोह तथा भय के कारण किए जाते हैं। किन्तु आर्य जन उपर्युक्त वृत्तियों के कारण पापकर्म नहीं करते क्योंकि वे उन वृत्तियों से सर्वथा पराङ्मुख रहते हैं। भगवान् बुद्ध ने कहा है—

छन्दा दोसा भया मोहा यो धम्मं अतिवत्तति ।
निहीयति तस्स यसो कालपक्खेव चन्दिमा ।।
छन्दा दोसा भया मोहा यो धम्मं नातिवत्तति ।
आपूरति तस्स यसो सुक्कपक्खेव चन्दिमा ।।

छन्द, द्वेष, मोह मूर्खता तथा भय के कारण धर्म की सीमा का जोअतिक्रमण करते है, उसका यश कालपक्ष की चन्द्रमा के समान नष्ट हो जाता है किन्तु यो धर्म का अतिक्रमण छन्द द्वेष मोह तथा भय के कारण नहीं करता है उसका यश शुक्ल पक्ष की चन्द्रमा के समान बढ़ता है।

यो पाणमतिपातेति मुसावादञ्च भासति ।
लोकं अदिन्नमादियति परदारञ्च गच्छति ।।
सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति ।
अप्पहाय पञ्च वेरानि दुस्सीलो ति वुच्चति ।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो निरयं सोपपज्जति ।।
यो पाणं नातिपातेति मुसावादं न भासति ।
लोके अदिन्नं नादियति परदारं न गच्छति ।।
सुरामेरयपानञ्च यो नरो नानुयुञ्जति ।
पहाय पञ्च वेरानि सीलवाति पवुच्चति ।
कायस्स भेदा सप्पञ्ञो सुगतिं सोपपज्जति ।।

जो इस संसार में प्राणियों की हिंसा करता हैं, झूठ बोलता है, अगम्याभिगमन करता अर्थात् परदाराभिमर्शन करता है दूसरों की वस्तुओं को

---

१. अंगुत्तरनिकाय उपासक सुत्त २२।१७४।२२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिना दिए ग्रहण करता है, सुरमेरय का पान करता है वह इन पाँच वैरों को अर्थात् पाँच घृणात्मक वस्तुओं को नहीं छोड़ने से दुश्शील कहलाता है। मरने के बाद वह निरयलोक में उत्पन्न होता है। किन्तु इसके विपरीत जो प्राणियों की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, चोरी नहीं करता है, सुरमेरय का पान नही करता है परदाराभिगमन नहीं करता है, वह पाँच वैरों को छोडकर शीलवान् कहलाता है और मरने के बाद सुगति को प्राप्त करता है।[१]

इस प्रकार पाप स विरति मङ्गल है क्योंकि यह सुगतिप्रापक है।

(२) मज्जपानासंयमो अर्थात् मद्यपान का संयम उत्तम मङ्गल है।

वस्तुतः यह सुरा मेरय, मद्य आदि के पान से संयम है। जो मद्यपान करता है वह अर्थ को नही जानता है,धर्म को नहीं जानता है माता का पिता का बुद्ध तथा प्रत्येकबुद्ध का एवं तथागत श्रावकों का अन्तराय करता है, दृष्ट-धर्म में गर्हा उत्पन्न करता है, भविष्य में दुर्गति को प्राप्त करता है, उन्माद को प्राप्त करता है। मद्यपान से संयम करने पर उपर्युक्त दोषों का उपशमन होता है, और उसके विपरीत गुणसम्पदा को प्राप्त करता है इसलिय मद्यपान से संयम को उत्तम मङ्गल कहा गया है।

सिगालोवाद सुत्त में मद्यपान के छह दुष्परिणाम बताए गए हैं—

(१) तत्काल धन की हानि (२) कलहविवाद का बढना (३) यह रोगो का घर है (४) यह अपयश उत्पन्न करने वाला है (५) लज्जा का नाश करने वाला है तथा (६) प्रज्ञा को क्षीण करता है।

(३) अप्पमाद अर्थात् अप्रमाद उत्तम मङ्गल है। कुशल धर्मों में अप्रमाद उत्तम मङ्गल है क्योंकि अप्रमाद प्रमाद का प्रतिपक्ष है। अप्रमाद से स्मृति बनी रहती है। यह नाना प्रकार के कुशल धर्मों के अधिगम का मूल कारण है तथा अमृताधिगम का हेतु है। प्रमाद में असावधानता, अन्यमनस्कता, अनवधानता, अवलीनवृत्तिता, अनभिरुचिता, निक्षिप्रछन्दता, निक्षिप्तधुरता, अनासेवना, अभावना, अबहुलीकर्म, अनधिष्ठान तथा अननुयोग वर्त्तमान रहता है।

---

१. सं. नि. कोसलसंयुक्त, अप्पमादसुत्त; २. वही।

३. दी. नि. दसुत्तरसुत्त, ३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयुत्तनिकाय के अप्पमादसुत्त में अप्रमाद के गुणों का विशद वर्णन मिलता है। अप्रमाद ही एक धर्म है जो दृष्टधर्म तथा सम्परायिक (अनागत) का समधिग्रहण कर वर्तमान रहता है। जैसे जंगल के समस्त जीवों के पैर हस्तिपद में समा जाते है और हस्तिपद उनमें अग्र कहा जाता है क्योंकि यह उनमें सबसे बड़ा है। उसी प्रकार अप्रमाद एक धर्म है जो दृष्टधर्म तथा सम्परायिक दोनों का समधिग्रहण कर अधिष्ठित रहता है। पण्डितलोग पुण्यक्रियाओं में अप्रमाद की प्रशंसा करते है। अप्रमादी व्यक्ति दृष्टधर्म तथा सम्परायिक दोनों अर्थों का समधिग्रहण कर अधिष्ठित रहता है—

अप्पमादं पसंसन्ति पुञ्ञकिरियासु पण्डितो ।
अप्पमत्तो उभो अत्थो अभिगण्हाति पण्डिता[१] ।।

कुशल धर्मों में अप्रमाद यही एक धर्म बहुत उपकारक है। धम्मपद के अप्पमादवग्ग में अप्रमाद के महत्त्व का निरूपण विशेष रूप से मिलता है—

अप्पमादो अमत्तपदं पमादो मच्चुनो पदं ।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता ।।

एवं विशेषतो ञत्वा अप्पादम्हि पण्डिता ।
अप्पमादे पमोदन्ति अरियानं गोचरे रता ।।

ते झायिनो साततिका निच्चं दल्हपरक्कमा ।
फुसन्ति धीरा निब्बानं योगक्खेमनुत्तरं ।।

उट्ठानवतो सतिमतो सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो ।
सञ्ञतस्स धम्मजीविनो अप्पमत्तस्स यसोभिवड्ढति[२] ।।

इस प्रकार अप्रमाद कुशल धर्मों में सर्वश्रेष्ठ और बहुउपकारी होने के कारण उत्तम मङ्गल है क्योंकि जो अप्रमादी होता है वह अनुत्तर योगक्षेत्र को प्राप्त करता है।

(४) आदर और विनम्रता (गारवो चा निवातो ति) को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदरणीय जनों के प्रति आदर प्रकट करने को गारव गरुकरण कहते हैं। बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, तथागतश्रावक, आचार्य-उपाध्याय, माता-पिता, ज्येष्ठ भ्राता, ज्येष्ठा भगिनी आदि आदरणीय हैं सम्पूज्य हैं। आदरणीय को जो आदर देता है माननीय को जो मानता, पूजनीय को जो पूजा करता है, वह मरने के बाद सुगति तथा स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। जो शास्ता, धर्म संघ तथा समाधि को गौरव प्रदान करता है, शिक्षा में तीव्रगौरव रखता है, ह्री-अपत्रपा सम्पन्न है, श्रद्धवान् और गौरवयुक्त है, उसकी परिहानि नही होती और वह निर्वाण के समीप रहता है—

सत्थुगरु धम्मगरु संघे च तिब्बगारवो
समाधिगरु आतापी सिक्खाय तिब्बगारवो
हिरी ओतप्पसम्पन्नो सप्पतिस्सो सगारवो
अभब्बो परिहानाय निब्बानस्सेव सन्तिके[१] ।।

निवात अर्थात् विनम्रता को भगवान बुद्ध ने उत्तम मंगल कहा है। 'निवातो नाम नीचमनता निवातवुत्तिता—अर्थात् निवात का अर्थ है नीचमनता। यो पुद्गल निवातगुण से विनम्रता के गुण से युक्त रहता है वह अहंकार रहित (निहतमानो) दर्परहित निहतदप्पो पैर पोछने वाले कपड़े के समान (पादपुञ्छनचोलसदिसो) विषाणछिन्न वृषभ के समान, दाँत उखाडे हुए साँप के समान (उद्धरदाठसप्पसदिसो) विनम्र विप्रसन्न और सुखपूर्वक संभाषण योग्य होता है। अतः यश आदि गुणों के प्रतिलाभ के कारण विनम्रता उत्तम मंगल है। कहा भी गया है—

पण्डितो सीलसम्पन्नो सण्हो च पटिभानवा ।
निवातवुत्ति अत्थद्धो तादिसो लभते यसं[२] ।।

वह जो पण्डित अर्थात् बुद्धिमान् है, शीलसम्पन्न है तथा विनम्र है, प्रज्ञावान् है, निवातवृत्तिवाला है, विनीत और आज्ञाधीन है वह यश प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति जाति जन्म का, धन तथा गोत्र का अहंकार रखता है और सम्बन्धियों कुटुम्बों का अनादर करता है, उसका सर्वत्र पराभव होता है।—

जाति थद्धो धनथद्धो गोत्तथद्धो च यो नरो
सञ्ञातिं अतिमञ्ञति तं पराभवतो मुखं[३] ।।

---

१. अंगु देवतावग्ग (सत्तकनियात)
२. दीघ सिंगालसकसुत्त।
३. सु. नि.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) सन्तुट्ठी अर्थात संतोष को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है।

सन्तुष्टी तीन प्रकार की कही गयी है—चीवर में यथालाभसन्तोष, यथाबलसन्तोष, यथासारूप्यसन्तोष, भिक्षु सुन्दर या असुन्दर चीवर को प्राप्त कर उसी से जीवन यापन करता है, अन्य चीवर की अभिलाष नहीं करता है। प्राप्त होने पर भी वह दूसरे चीवर को ग्रहण नहीं करता है। यह भिक्षु का चीवर के सन्दर्भ में यथालाभ सन्तोष है। भिक्षु आबाधिक होता है। गुरुचीवर से वह कष्ट पाता है। वह दूसरे भिक्षु हल्का चीवर ग्रहण कर उसी से सन्तुष्ट रहता है इसे यथाबलसंतोष कहते हैं। भिक्षु महार्घ्य मूल्यवान चीवर को प्राप्त करता है और यह सोचता है कि यह चिरप्रव्रजित बहुश्रुत भिक्षुओं के अनुरुप है, यह जानकर स्थविर भिक्षुओं को देखकर पंसुकूलचीवर धारण कर भी संतुष्ट रहता है—इसे यथासारुप्प संतोष कहते हैं।

पिण्डपात के सदर्भ मे भिक्षु चाहे रुक्ष रूखा-सुखा अथवा प्रणीत सुन्दर स्वादिष्ट जिस तरह का पिण्डपात ग्रहण करता है और उसे ग्रहण कर सन्तुष्ट रहता है। दूसरे पिण्डपात की आकांक्षा नहीं करता है—प्राप्त होने पर ग्रहण नहीं करता है—पिण्डपात के सन्दर्भ में यह यथालाभ सन्तोष है। इसी प्रकार शयनासन के सन्दर्भ में, भैषज्य के सन्दर्भ में—यथालाभसन्तोष। यथाबलसन्तोष तथा यथासारुप्पसन्तोष को प्राप्त कर सन्तुष्ट रहता है। सुतनिपात के खग्गविसाण सुत्त में कहा गया है—

चातुद्दिसो अप्पटिघो च होति, सन्तुस्समानो इतरीतरेना। परिस्सयानं सहिता अछम्भी, एको चरे खग्गविसाणकप्पो। चारो दिशाओं में जो विश्रुत है और झगड़ालु नहीं है और जो कुछ पाकर सन्तुष्ट रहता है, भयरहित होकर विपत्तियों को पार कर रहता है वह खड्गविषाण की तरह अकेला विचरण करे।

(६) 'कत्तञ्ञुता' कृतज्ञता को भगवान् बुद्ध ने उत्तममङ्गल कहा है। किसी व्यक्ति के द्वारा थोडा या बहुत किए गए उपकार का पुनः पुनः अनुस्मरण भाव से जानने को कृतज्ञता कहते हैं। कृतज्ञताज्ञापन करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मंगल है। जिसने अनेक उपकारों से उपकृत किया है उसके प्रति कृतज्ञ होना और किए को जानना, अनुस्मरण करना महान् गुणधर्म है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि इस संसार में दो पुद्गल लोक में दुर्लभ हैं—पूर्वकारी तथा कृतज्ञकृतवेदी

---

१. सु. नि. परामभसुत्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'द्वेमे भिक्खवे पुग्गला दुल्लभा लोकस्मिं—कतमे द्वे? यो च पुब्बकारी यो च कतञ्ञू कतवेदी' (अं.नि. १।८०)। इस प्रकार के लोग दो प्रकार के है एक आगारिक तथा दूसरे अनागारिक। आगारिक में माता-पिता पूर्वकारी 'पुब्बकारी' कहे जाते हैं और दारक-दारिका जो माता-पिता की देखभाल करते हैं उनकी सहायता करते है कृतज्ञ और कृतवेदी कहे जाते है। अनागारिक जीवन में उपाध्याय और आचार्य पूर्वकारी कहे जाते है क्योकिं वे अपने अन्तेवासियों तथा सार्द्धविहारिकों का अपरिमित कल्याण करते है पूर्वकारी कहे जाते हैं और अन्तेवासी तथा सार्द्धविहारिक जो उनकी देखभाल करते हैं, उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हैं वे कृतज्ञ और कृतवेदी कहे जाते हैं। इस प्रकार कृतज्ञता ज्ञापित करने वाला संसार में संपूज्य होता है। और यश का भागी होता है। अत: कृतज्ञता उत्तम मङ्गल है।

(७) समय से धर्मश्रवण करना (कालेन धम्मसवनं) उत्तम मंगल है। जिस समय चित्त औद्धत्य एवं कामवितर्कादि से अभिभूत होता है। उस समय उसके निराकरण के लिए धर्मश्रवण अपरिहार्य है। यह भी निर्देश दिया गया है कि प्रत्येक पाँचवे दिन धर्मश्रवण को समय से धर्मश्रवण कहा गया है। हम लोगों को एक साथ रातभर सत्यविचारों पर वार्ता करने के लिए समवेत हो बैठना चाहिए। यह संशयो का निराकरण करता है। जैसा कि कहा गया है संशयापन्न स्थिति में अपने शास्ता के पास समय-समय पर पूछता है। यह कैसे है? इसका क्या अर्थ है? शास्ता उसे स्पष्ट करते हैं और विसंवादी तथ्यों का निराकरण करते हैं। जिस समय आर्यश्रावक मनोयोग पूर्वक कान लगाकर धर्मश्रवण करता है उस समय उसके पाँच नीवरण नहीं होते हैं।

अवहित होकर समय से धर्मश्रवण करने से पाँच लाभों को व्यक्ति प्राप्त करता है—वह अश्रुत का श्रवण करता है, संशय को हटाता है, अपने विचार को स्पष्ट करता है और उसका हृदय पर्यवदात एवं प्रशान्त हो जाता है।

(४) निर्वाण का मार्ग

निर्वाण का मार्ग मध्यमाप्रतिपदा है जो आत्मनिर्यातनमयी साधना तथा आत्यन्तिक भोग लिप्सा इन दो का परिवर्जन करती है। आर्यअष्टांगिक मार्ग आठ अंगो से अन्वित है जिसमें सम्पक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्पक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, तथा सम्यक् समाधि के नाम उल्लेख्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह अष्टांगिक मार्ग शील, समाधि तथा प्रज्ञा इन तीन स्कन्धों में विभक्त है—सम्यक दृष्टि और सम्यक संकल्प प्रज्ञा स्कन्ध में, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त तथा सम्यक् आजीविका-शील में तथा सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि समाधि में अन्तर्भूत हैं। इसे बुद्ध का धार्मिक मार्ग कहा जाता है। इसमें शील समाधि तथा प्रज्ञा नामक तीन सोपान हैं। ये तीनों सोपान एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं। शील समाधि के लिए है। समाधि प्रज्ञा के लिए और प्रज्ञा निर्वाण के लिए है 'सील परिभावितो समाधि महप्फलो होति महानिसंसो' समाधि परिभावितापञ्ञा महप्फला होति, महानिसंसो पञ्ञा परिभावितचित्तं सम्मदेव आसवेहि विमुच्चति। निम्नगाथा में सोपानों का निरूपण सुन्दर ढंग से किया गया है—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धानसासनं ।।

शील शारीरिक विकारों को दूर करता है। समाधि मानसिक विकारों को दूर कर चित्त को एकाग्र बनाती है। प्रज्ञा अज्ञान के अन्धकार को दूर करती है और यथार्थबोध को उत्पन्न करती है। यह आसक्तियों को निर्मूलित करती है और निर्वाण का साक्षात्कार कराती है।

जैसा मनुष्य बीज बोता है तदनुरूप फल पाता है—**'यादिसं वपते बीजं तादिसं लभते फलं।** अकुशल कर्मों के सम्पादन दुःख तथा कुशल कर्मों से सुख और प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। दुःख और सुख वस्तुतः अकुशल और कुशल कर्मों के ही परिणाम हैं। कुशल कर्मों के द्वारा ही निर्वाण की प्राप्ति की जा सकती है।

भगवान् बुद्ध के समय मंगल की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के अन्धविश्वास प्रचलित थे। भगवान् बुद्ध से जब इस सन्दर्भ में कहा गया तो उन्होनें मंगल की प्राप्ति के लिए धर्म देशना दी। कुलमिलाकर १२ प्रकार की धारणाएँ मंगल सुत्त में प्राप्त होती हैं। इसमें यह कहा गया है कि मनुष्य को उन कर्मों का सम्पादन करना चाहिए जो स्वयं के लिए और दूसरों के लिए प्रत्यूह उत्पन्न करे। उसे अपने कर्तव्यों का पालन परिवार और समाज के लिए करना चाहिए और नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का निर्धारण करना चाहिए। निर्वाण का अधिगम आध्यात्मिक मूल्यों से ही संभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) 'खन्ति' क्षान्ति को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मंगल कहा है। खन्ति का अर्थ है—धैर्य, तितिक्षा, सहनशीलता, सहिष्णुता। खन्ति का अर्थ है अधिवासनक्षान्ति (अधिवासनक्खन्ति) 'खन्ती खमनता अधिवासनता अचण्डिकं अनसरुपो अत्तमनता चित्तस्स'। चित्त की क्षमा शीलता, सहिष्णुता, अचण्डता, विप्रसन्नता को खन्ती (क्षान्ति) कहते हैं। अधिवासक्षान्ति से समुपेत भिक्षु दस आक्रोशवस्तुओं से आक्रोशित किये जाने पर अथवा वध-बन्धन से विहिंसित किए जाने पर भी न सुनते हुए की तरह, न देखते हुए की तरह जो सर्वथा क्षान्तिवादी की तरह निर्विकार रहता, वही सच्चे अर्थों में भिक्षु है। कहा भी हैं—

यो हत्थे च पादे च कण्णनासञ्च छेदयि
तस्स कुज्झ महावीर मारट्ठं विनस्स इदं ।
यो मे हत्थे च पादे च कण्णनासञ्च छेदयि
चिरं जीवतु सो राजा नहि कुज्झन्ति मादिसा ।
अहु अतीतमद्धानं समणो खन्तिदीपनो ।
तं खन्तियायेव ठितं, कासिराजा अछेदयी ।
तस्स कम्मफरुसस्स विपाको कटुको अहु
यं कासिराजा वेदेसि निरयम्हि समप्पितो ति। (जातक १।१)

जो क्षान्ति से समन्वित होता है वह ऋषियों द्वारा प्रशंसनीय होता है क्रोध का वध कर मनुष्य कभी शोक नहीं करता है। म्रक्षप्रहाण की प्रशंसा ऋषिगण भी करते हैं। जो लोग परुषवचन का प्रयोग करते हैं, उन सबो को क्षमा करो, क्षान्ति को सन्त लोग उत्तम कहते हैं—

कोधं वधित्वा न कदाचि सोचति
मक्खप्पहानं इसयो वण्णयन्ति ।
सब्बेसं वुत्तं फरुसं खमेथ
एतं खन्तिं उत्तममाहु सन्तो ।। (जातक२-९)

ब्राह्मण को परिभाषित करते हुए धम्मपद में कहा गया है कि जो व्यक्ति अदुष्ट चित्त हो वध और बन्ध को सहता है, क्षमाबल ही जिसकी सेना तथा सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्कोसं वध बन्धञ्च अदुट्ठो यो तितिक्खति ।
खन्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।। (धम्मपद ३८८)

क्षान्ति से सहनशीलता तथा अन्य गुणों का अधिगम होता है अतः क्षान्ति उत्तम मंगल है। क्षान्ति के संदर्भ में निम्न गाथाएँ भी उल्लेख्य हैं—

अत्तनोपि परेसञ्च अत्थवाहो व खन्तिको
सग्गमोक्खगमं मग्गं आरुल्हो होति खन्तिको ।
केवलानम्पि पापानं खन्ति मूलं निकन्तति ।
गरहकलहादीनं मूलं खन्ति खन्तिका ।
खन्तिको मेत्तवा लाभी यसस्सी सुखसीलवा ।
पियो देवमनुस्सानं मनापो होति खन्तिको ।
सत्थुनो वचनोवादं करोतियेव खन्तिको ।
परमाय च पूजाय जिनं पूजेति खन्तिको ।
सीलसमाधिगुणानं खन्ति पधानकारणं
सब्बेपि कुसला धम्मा खन्तियायेवङ्गन्ति ते ।

जिसमें क्षान्ति सहिष्णुता रहती है। वह अपने लिए और दूसरों के लिए भी हितसाधक (अर्ववांह) होता है। वह स्वर्ग के मार्ग पर आरूढ़ होता है और तृष्णाओं का निर्वापन करता है।

क्षान्ति सहिष्णुता सम्पूर्ण पापमूलों को उखाड फेंकती है, जो सर्वसहिष्णु है अथवा सहिष्णुता के गुणों से अभ्युपेत है वह गर्हा एवं कलह के अशोभन कारणों को निर्मूलित कर देता है।

जो क्षान्ति से समुपेत है वह मैत्रीवान् लाभी, यशस्वी भाग्यवान् तथा संपूजित एवं विप्रसन्न होता है।

वह देवों और मनुष्यों के लिए प्रिय और प्रशंस्य होता है। वह जो क्षान्ति एवं सहिष्णुता के गुणों से अनुस्यूत है, वह बुद्धका सच्चा अनुगामी होता है। वह आदर के साथ बुद्ध की पूजा करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शील एवं समाधि आदि गुणों का प्रधान कारण क्षान्ति सहिष्णुता है। क्षान्ति के विकास के साथ सभी कुशल धर्मों का संवर्धन होता है।

क्षान्ति सहिष्णुता प्रज्ञावानों का विभूषण है,यतियों की तृष्णा को जलाने वाली आग है, वैखानसों (एकान्तवासियों) की घनात्मक शक्ति है। क्षान्ति सहिष्णुता तितिक्षा तथा विप्रसन्नता चतुरस्र सफलता से भर देती है।

उपर्युक्त वर्णित सभी गुणों का मूलकारण क्षान्ति है, अत: यह उत्तम मङ्गल है।

२. सोवचस्सता

(साधुवचनकरणता) सुन्दर एवं प्रासादिक वचन बोलने के लिए प्रेरित करती है। सोवचस्सता शब्द का निर्वचन करते हुए परमत्थजोतिका में कहा गया है—१. प.जो.पृ. १९५ जो सहधार्मिक के कहने पर विना विक्षेप एवं तुष्णीभाव के और गुणदोष का चिन्तन किए बिना आत्यधिकआदर और गौरव के साथ, मन की विनम्रता के साथ जो साधुवचनकरणता है, उसे सोवचस्सता कहते हैं। यह उत्तम मङ्गल है क्योंकि यह आध्यात्मिक जीवन में संज्ञापन, (अववाद) अनुशासन की प्राप्ति के लिए है और दोषों के निराकरण तथा गुणाधिगम का कारण है।[१]

ये न काहन्ति ओवादं नरा बुद्धेन देसितं
व्यसनं ते गमिस्सन्ति रक्खसीव वाणिजा ।
ये च काहन्ति ओवादं नरा बुद्धेन देसितं
सोत्थिं परं गमिस्सन्ति बलाहेते व वाणिजा ।।

(जातक, वलाहक जातक)

जो भगवान् के द्वारा उपदिष्ट धर्म देशना का निरादर करते हैं, नहीं चाहते हैं वे उसी तरह विनष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार राक्षसी के द्वारा खाये जाने पर वणिक विनष्ट हो गए।

किन्तु जो बुद्ध की देशना का समादर कर सुनते हैं, उसे चाहते हैं, वे परम स्वस्ति अर्थात् कल्याण को प्राप्त करते हैं जिस प्रकार पक्षी-अश्व के द्वारा रक्षित हो वणिक् ने कल्याण प्राप्त किया।

इस प्रकार सोवचस्सता परम कल्याणकारी होने से उत्तम मंगल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **समणानंदस्सनं** अर्थात् भगवान् बुद्ध के अनुसार श्रमणों का दर्शन उत्तम मंगल है। श्रमण उन्हें कहा जाता है जिसके क्लेश शमित हो जाते हैं 'किलेसानं समितत्ता समणा'। जो समता का आचरण करता है, उसे श्रमण कहते हैं—'समचरिया समणो ति वुच्चति' (धम्मपद ३८८) जिनके क्लेश उपशमित हैं, जिन्होंने काय, वचन, चित्त एवं प्रज्ञा की भावना कर ली है, उत्तम दमथ, शमथ से जो समन्वागत हैं, प्रव्रजित हैं, उनके पास जाकर, उपस्थाप, अनुस्मरण एवं श्रवण को श्रमणदर्शन कहते हैं ऐसे गुणसम्पन्न श्रमण के दर्शन से आश्रव (दोष) शान्त हो जाते हैं, गुण, ज्ञान तथा प्रज्ञा आदि विद्यमान रहते हैं और परमोत्तम संयम और शान्ति की उपलब्धि होती है। भगवान् बुद्ध ने कहा है श्रमणदर्शन को भी में बहु-उपकारी कहता हूँ (सु.नि. १।२५४)। भिक्षु को अपने गृहद्वार पर सम्प्राप्त (आया) देखकर अपने साधन के अनुरूप यथाशक्ति देयधर्म के द्वारा हित चाहने वाले गृहस्थ को सम्मानित करना चाहिए यदि उसके पास देयधर्म नहीं है तो पञ्चप्रतिष्ठित आकृति से वन्दना करनी चाहिए, यदि वह भी संभव न हो तो हाथ जोड़कर नमस्कार करना चाहिए, यदि वह भी संभव न हो तो प्रसन्नचित्त से प्रियचक्षुओं से देखना चाहिए। इस प्रकार दर्शनमूलक पुण्य से अनेक सहस्र जन्मों में उसकी आँखों में रोग, दाह (जलन) सूजन, व्रण आदि नहीं होते हैं, उसकी आँखे विप्रसन्न पाँच वर्ण के रत्नों की चमक से चमकने लगेंगी, रत्नविनिर्मित विमान मणिकपार के समान दृश्यमान होंगी और वह देवों और मनुष्यों में शतसहस्र कल्प तक सम्पत्ति का लाभी होगा। यह सर्वथा आश्चर्य नहीं है कि प्रज्ञान के साथ जन्म लेने वाला मनुष्य सम्यक् प्रवृत्ति श्रमण दर्शनमय पुण्य से इस प्रकार की विपाक सम्पत्ति का अनुभव करे। पशु-पक्षी योनि में जन्म लेने वाला भी केवल श्रद्धा के द्वारा किए गए श्रमण दर्शन की विपाकसम्पत्ति की प्रशंसा करते हैं।

उलूको मण्डलक्खिको, वेदयिके चिरदीघवासिको ।
सुखितो वत कोसिको अयं, कालुट्ठितं पस्सति बुद्धवरं ।।

---

१. यो समेति पापनि अणु थुलं च सब्बसो।
समितत्ताहि पापानं समणो ति पवुच्चति।। (धम्मपद २६५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मयि चित्तं पसादेत्वा, भिक्खुसङ्घे अनुत्तरे ।
कप्पानि सतसहस्सानि, दुग्गतेसो न गच्छति ।।
स देवलोका चवित्वा कुसलकम्मेन चोदितो ।
भविस्सति अनन्तञाणो, सोमनस्सो तिविस्सुतो ।।

मण्डलाक्ष (वर्तुल, गोल आँखों वाला) उलूक, जो चिरकाल तक वेदयिक वृक्ष पर निवास करता रहा, वह उलूक (कौशिक) निश्चय ही सुखी है जो समय से उठकर श्रेष्ठ बुद्ध को देखता है।

अनुतर भिक्षुसंघ में तथा मुझ में चित्त को विप्रसन्न कर शतसहस्र कल्प तक यह दुर्गति को प्राप्त नहीं करेगा। वह देवलोक से च्युत होकर, कुशल से प्रेरित हो अनन्त प्रज्ञान वाला होगा, अपूर्वविश्रुत सौमनस्य से युक्त होगा।

इस प्रकार श्रमण दर्शन से मनुष्य को अनन्त प्रज्ञान, अपूर्व सौमनस्य, धन, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति होने के कारण यह उत्तम मंगल है।

४. 'धम्मसाकच्छा' अर्थात् उचित ऋतु या समय में धार्मिक प्रतिसंवाद (विचार विनिमय) को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मंगल कहा है। भगवान् बुद्ध की धर्मदेशनाओं पर विचार-विनिमय (प्रतिसंवाद) करना नैतिक कर्त्तव्य है। यह कहा गया है कि सूत्र-विशेषज्ञ भिक्षु सूत्रों के बारे में परस्पर विचार करते हैं, विनय के विशेषज्ञ विनय के विषय में दो अभिधर्म के विशेषज्ञ अभिधर्म के विषय में, दो जातकभाणक विशेषज्ञ जातक के विषय में, दो अट्ठकथा विशेषज्ञ, अट्ठकथा के विषय में लीन, उद्धत एवं विचिकित्सा अर्थात् संशयायन्न चित्त के विशोधन के लिए उस समय में अर्थात् समय-समय पर बातचीत करते हैं।

प्रतिसंवाद (विचार-विनिमय) पाँच प्रकार के कहे गए हैं—

१. अदिट्ठजोतना (अदृष्ट-द्योतना) साकच्छा-अदृष्ट धर्म के विषय में विचार-विनिमय।

२. दिट्ठसंसन्दन-साकच्छा-दृष्ट धर्म के अनुभव के लिए विचार विनिमय।

३. विमतिच्छेदन-साकच्छा-अनेक प्रकार के संशयों के छेदन अर्थात् निराकरण के लिए विचार विनिमय।

४. अनुमति-साकच्छा-धर्म की अनुमति या सहमति के लिए विचार-विनिमय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. कथेतु कम्यता-साकच्छा-धर्म के विषय में प्रश्न और उन के लिए विचार विनिमय।

इस प्रकार धम्मसाकच्छा अर्थात् समय-समय पर धर्म के विषय में विचार-विनिमय करना उत्तम मंगल है, क्योंकि यह विशिष्ट गुणों के अधिगम का कारण है।

६. तपो (आत्म-संयमन या नियंत्रण) को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मंगल कहा है। तप अभिध्या तथा दौर्मनस्य को जला देता है। भस्मीभूत कर देता है। अतः यह इन्द्रिय संवर है। यह आलस्य को जला देता है। अतः यह वीर्य है। जो व्यक्ति इस तपन को धारण करता है, वह आतापी कहलाता है—'आसमन्ततो तपतीति आतापी'। तेरह धुतंगों को तप की संज्ञा दी गयी है।

तप (तपश्चरण) से ध्यानादि का प्रतिलाभ होता है। तथा अभिध्या का विनाश होता है। अतः तप उत्तम मंगल है।

७. ब्रह्मचरियं—अर्थात् ब्रह्मचर्य को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है। ब्रह्मचरिय शब्द दो संघटक पदों अर्थात् ब्रह्म-चरियं इन दो पदों के योग से बना है—इस प्रकार ब्रह्म का अर्थ श्रेष्ठ तथा चरियं का अर्थ है आचरण। इस प्रकार श्रेष्ठ आचरण को ब्रह्मचर्य कहते हैं। अ-ब्रह्मचर्य को छोड़कर ब्रह्मचारी होता है, अर्थात् मैथुन धर्म को छोड़कर ब्रह्मचारी होता है। 'ब्रह्मं सेट्ठं आचारं चरतीति ब्रह्मचारी' अर्थात् जो श्रेष्ठ आचरण करता है, उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्मचर्य शब्द दान, वेय्यावच्च (सेवा), पञ्चशिक्षापदशील, अप्रमाण्या, मैथुनविरति, स्वदारसन्तोष, वीर्य, उपोसथ, आर्यमार्गशासन आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। ब्रह्मचरियं पकासेतीति एत्थ पनायं ब्रह्मचरिय सद्दो दाने वेय्यावच्चे पञ्चसिक्खापदसीले अप्पमञ्ञासु मेथुनविरतियं सदार-सन्तोसे वीरिये उपोसथङ्गेसु अरियमग्गे सासनेति इमेस्वत्थेसु दिस्सति (१. म.नि. १।२३०)।

तीनों शिक्षाओं अर्थात् शील-समाधि तथा प्रज्ञा से युक्त सम्पूर्ण बुद्धशासन को ब्रह्मचर्य कहते हैं—सिक्खत्तयसङ्गहितं सकलसासनम्पि ब्रह्मचरियं'।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य उत्तम मंगल है, क्योंकि यह निर्वाण के अधिगम का कारण है। ब्रह्मचर्य पवित्र जीवन-यापन का अनन्य प्रतिमान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. **अरियसच्चदस्सनं** आर्यसत्यदर्शन को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मंगल कहा है। क्लेशों से जो दूर रहते हैं, उन्हें आर्य कहते—'आरकत्ता किलेसानं ति अरियो'। आर्य लोग इसे जानते हैं, अत: आर्यसत्य कहते हैं। आर्यसत्य के प्रत्यवेक्षण को आर्यसत्यदर्शन कहते हैं। आर्यसत्य चार हैं। दु:ख, दु:खसमुदय, दु:खनिरोध तथा दु:खनिरोध का मार्ग।

जो चार सत्य का दर्शन नहीं करता है वह दु:ख का अतिक्रमण नहीं कर पाता है। उसके लिए पुनर्जन्म का चक्र सर्वदा गतिमान रहता है। भगवान् बुद्ध ने कहा है—

चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतमदस्सना,
संसरितं दीघमद्धानं तासु तास्वेव जातिसु ।
यन्ति एतानि दिट्ठानि भवनेत्ति समूहता,
उच्छिन्नं मूलं दुक्खस्स नत्थिदानि पुनब्भवोति ।।

जिसने चार आर्यसत्य का यथाभूत दर्शन नहीं किया, वह उन उन जन्मों में दीर्घकाल तक संसरण करता रहता है। इन्हे देखने के अनन्तर भवनेत्री तृष्णा उच्छिन्न हो गयी, दु:ख का मूल भी उच्छिन्न हो गया, अब पुनर्जन्म नहीं है। भगवान् बुद्ध ने कहा है—

ये दुक्खं नप्पजानाति अथो दुक्खस्स संभवं, यत्थ च सब्बसो दुक्खं असेसं उपरुज्झति। तञ्चमग्गं न जानाति दुक्खूपसमगामिनं चेतोविमुत्ति हीना ते अथो पञ्ञाविमुत्तिया। अभब्बा ते अन्तकिरियाय ते वे जातिजरूपगा।

ये च दुक्खं पजानाति अथो दुक्खस्ससंभवं, यत्थ च सब्बसो दुक्खं दुक्खूपसमगामिनं। चेतोविमुत्तिसम्पन्ना अथो पञ्ञाविमुत्तिया, भब्बा ते अन्तकिरियाय न ते जातिजरुपगा ।।

जो दु:ख को तथा दु:ख के कारण को तथा दु:ख के अशेषनिरोध को और दु:खनिरोध के मार्ग को नहीं जानता है और जो चेतो विमुक्ति तथा प्रज्ञाविमुक्ति से हीन है। वह जन्म-जरा को प्राप्त दु:ख का अन्त करने योग्य नहीं है। और जो दु:ख को दु:ख के आगमन, दु:ख के अशेष निरोध तथा निरोध के मार्ग को जानता है और चेतोविमुक्ति तथा प्रज्ञाविमुक्ति को जानता है, वह दु:ख का अन्त करने में समर्थ है, वह जाति-जरा से मुक्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. 'निब्बानसच्छिकिरिया च' अर्थात् निर्वाण का साक्षात्कार उत्तम मंगल है। निब्बान शब्द नि उपसर्ग पूर्वक वान शब्द के योग से निष्पन्न है। वान का अर्थ है तृष्णा और तृष्णा से निर्गत होने के कारण निर्वाण कहा जाता है— 'वानतो निक्खन्तं ति निब्बानं, नत्थि एत्थ तण्हासङ्खातं वानं निग्गतं वानं तस्मा ति निब्बानं (अट्ठ. पृ. ३२२) जिसमें सभी वर्त्मदुःखसन्ताप समाप्त हो जाते हैं— उसे निर्वाण कहते हैं, 'निब्बानं ति एत्था निब्बायन्ति सब्बे वट्टदुक्खसंतापा एतस्मिं ति निब्बानं' (प.दी. पृ. २०)।

निर्वाण प्रपञ्चोपशम है, परम नैश्रेयस् है, निर्वाण अमोष धर्म है (अमोसधम्मं निब्बानं), यह परमसुख है (निब्बानं परमं सुखं) यह अनिमित्त है। अप्रणिहित और शून्य है। इतिवुत्तक में दो प्रकार के निर्वाण का निरूपण मिलता है। सउपादिसेस निब्बानधातु तथा अनुपादिसेसनिब्बानधातु—

दुवे इमा चक्खुमता पकासिता
निब्बान धातु अनिस्सितेन तादिना ।
एका हि धातु इध दिट्ठधम्मिका
सउपादिसेसा भवनेत्तिसङ्खया ।
अनुपादिसेसा पन सम्परायिका
यम्हिनिरुज्झन्ति भवानि सब्बसो ।।

(इतिवुत्तक, निब्बानधातुसुत्त)

निर्वाण में समस्त प्रपञ्च का अतिक्रमण हो जाता है–जहाँ जल, तेज, वायु की पहुँच नहीं है, वहाँ तारकादि द्योतित नहीं होते, न आदित्य प्रकाशित होता है। वहाँ चन्द्रमा नहीं चमकता। वहाँ अँधेरा भी नही है। जब मुनि स्वयं अपने को जानता है, वह रूप और अरूप और दुःख से मुक्त हो जाता है—

यत्थ आपो च पठवी तेजा वायो न गाधति ।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो नप्पकासति ।।
न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति ।
यदा च अत्तना वेदि मुनि सो तेन ब्राह्मणो ।।
अथ रूपा अरूपा च सब्बदुक्खा पमुच्चति ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ नाम रूप का अशेष निरोध हो जाता है—एत्थ नामं च रूपं च असेसं उपरुज्झति। दीघनिकाय में कहा गया है कि वह अनिदर्शन (न देखने योग्य) अनन्त विज्ञान है, स्वभाव में सर्वतः प्रभास्वर है। यहाँ जल, पृथ्वीं, तेज और वायु की पहुँच नहीं है। यहाँ बड़ा, छोटा, अणु और स्थूल, शुभ और अशुभ नैतिक और अनैतिक कुशल और अकुशल कुछ नहीं है। यहाँ नाम और रूप का अशेष निरोध हो जाता है—

विञ्ञाणं अनिदस्सनं अनन्तं सब्बतोपभं ।
एत्थ आपो च पठवी च तेजो वायो न गाधति ।।
एत्थ दीघा च रस्सं च अणुथूलं सुभासुभं ।
एत्थ नामं च रूपं च असेसं उपरुज्झति ।। (दी.नि. केवटसुत्त)।

निर्वाण का साक्षात्कार तृष्णा के अशेषक्षय के अनन्तर होता है। और इसका अनुभावन अर्हत् को होता है। निर्वाण के आनन्द का अनुभावन निम्नपंक्तियों में किया जा सकता है—

अयोघन हतस्सेव जलतो जात वेदसो,
अनुपुब्बूपसन्तस्स यत्थ न जायते गति ।
एवं सम्मा विमुत्तानं काम-बन्धोघतारिनं
पञ्ञातुं 'गतिनत्थि, पत्तानं अचलं सुखं ।।

उदान (दुतियदब्बसुत्त)

लोहे के दण्ड पर हथौड़ा मारने पर स्फुल्लिंग निकलते हैं और तिरोहित हो जाते हैं। कोई यह नहीं बता सकता है उनके बारे में कि वे किस दिशा में गए। उसी प्रकार कोई उसके बारे में कुछ वक्तव्य नहीं दे सकता है जिसने अपने को पूर्णतः मुक्त कर लिया है और जिसने कामभोगों की बाढ़ को पार कर लिया है और अचल सुख को प्राप्त कर लिया है।

१०. अकम्पचित्त–अर्थात् लोकधर्मों से संस्पृष्ट होकर जिसका चित्त प्रकम्पित नहीं होता है, अकम्पित रहता है, वह उसके लिए मङ्गल है। क्योंकि यह अकम्पनीय लोकोत्तम भाव को धारण करता है। भगवान् बुद्ध ने कहा है—ये आठ लोकधर्म संसार को अभिभूत करता है, सताता है। वे आठ हैं—लाभ, अलाभ, प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि, प्रशंसा-अप्रशंसा, तुष्टि-अतुष्टि। ये आठ लोक धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार को अभिभूत करता है, सताता है और संसार इन आठ लोक धर्मों से चतुर्दिक आवर्तित होता है, चक्कर काटता है।

जिस व्यक्ति का चित्त इन आठ लोक धर्मों से प्रकम्पित नहीं होता है, उसका चित्त उत्तम मंगल है क्योंकि यह अकम्पनीय लोकोत्तम भाव को धारण करता है। इन आठ लोकधर्मों से क्षीणास्रव अर्हत् का चित्त कम्पित नहीं होता है और किसी दूसरे का नहीं। कहा भी है—

सेलो यथा एकघनो न वातेन समीरति ।
एवं रूपा च सद्दा च गन्धा फस्सा च केवला ।।

इट्ठा धम्मा अनिट्ठा च न पवेधेन्ति तादिनो ।
ठितं चित्तं विप्पमुत्तं, वयञ्चस्सानुपस्सति ।।

(म.व. २०४, अं.नि. ३।८९।९०)

सेलो यथा एकघनो न वातेन समीरति ।
एव निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता ।। (धम्मपद)

जिस प्रकार ठोस घनपर्वत हवा से प्रकम्पि नहीं होता है उसी प्रकार शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्शादि से इष्ट एवं अनिष्ट से क्षीणास्र व अर्हत का चित्त प्रकम्पित नहीं होता है क्योंकि अर्हत् यह जानता है कि ये लोकधर्म अशाश्वत, विपरिणामी, परिवर्तन शील हैं। अङ्गुत्तर निकाय में कहा भी गया है।

लाभो अलाभो च यसायसो च, निन्दा पसंसा च सुखं दुक्खञ्च।
एते अनिच्चा मनुजेसु धम्मा, असस्सता विपरिणामधम्मा।।

एते च ञत्वा सतिमा सुमेधो, अवेक्खति विपरिणामधम्मे।
इट्ठस्स धम्मा न मथेन्ति चित्तं, अनिट्ठतो नो पटिघातमेति ।।

तस्सानुरोधा अथवा विरोधा, विधूपिता अत्थंगता न सन्ति ।
पदञ्च ञत्वा विरजं असोकं, सम्मप्पजानाति भवस्स पारगू'ति ।।

(अं.नि.अ.व. मेत्तावग्ग)

अर्तात् लाभ, अलाभ, यश, अयश, निन्दा, प्रशंसा, सुख, दुःख, ये आठ लोकधर्म मनुष्य के अनित्य, अशाश्वत तथा विपरिणाम धर्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(परिवर्त्तनशील) हैं। स्मृतिमान् तथा मेधावी इस विपरिणामी धर्म को जानते हैं। इष्ट धर्म न तो उनके चित्त को मथते है न अनिष्ट धर्म प्रतिघात (आहत) करते हैं। अनुरोध और विरोध विधूपित हो गए हैं और वे अब नहीं हैं। अशोक, विरज पद (निर्वाण) को जानकर भव को पार करने वाले ठीक से जानते हैं।

११. 'असोकं' अर्थात् अशोक को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है। अशोक शब्द में नञ समास है और वह भी प्रसज्यप्रतिषेध नञ् समास है जिसका अर्थ है—सर्वथा शोक रहित। जिससे चित्त, उद्विग्न तथा उद्वेलित नहीं होता है। शोक, अन्तशोक, अन्तपरिशोक से चित्त शोकार्तता से चित्तपर्याकुल हो जाता है। किन्तु जिसका चित्त विमुक्त है उसे शोक संतप्त एवं उत्पीड़ित नहीं करता है। ऐसा चित्त अर्हत् का होता है। क्षीणास्रव अर्हत् का चित्त अशोक होता है।

१२. विरजं अर्थात् रजराहित्य की अवस्था को भगवान् बुद्ध ने उत्तम मङ्गल कहा है। तृष्णारहित चित्त ही निर्वाण को अधिगत करता है—तण्हायविप्पहानेन निब्बानस्सेव सन्तिके' तृष्णा ही सभी दोषों का कारण है, इसलिए भगवान् बुद्ध ने कहा है—

रागो रजो, न च पन रेणु वुच्चति, रागस्सेतं अतिवचनं रजोति ।
एतं रजं विप्पजहित्वा भिक्खवो, विहरन्ति ते विगतरजस्स सासने ।।
दोसो रजो, न च पन रेणु ति वुच्चति, दोसस्सेतं अधिवचनं रजोति ।
एतं रजं विप्पजहित्वा भिक्खवो, विहरन्ति ते विगतरजस्स सासने ।।
मोहो रजो, न च पन रेणु वुच्चति, मोहस्सेतं अधिवचनं रजोति ।
एतं रजं विप्पजहित्वा भिक्खवो, विहरन्ति ते विगतरजस्स सासने ।।

राग रज है (अपवित्रता) है, रेणु अर्थात् धूलि को रज नहीं कहते हैं यह रज राग का ही अधिवचन है। द्वेष रज है (अपवित्रता) है, रज द्वेष का ही अधिवचन है। मोह रज है, रेणु रज नहीं है। यह मोह ही रज का अधिवचन है। राग, द्वेष तथा मोह रूपी रज (अपवित्रता) को छोड़कर अर्थात् वीतराग, वीतद्वेष एवं वीतमोह होकर बुद्ध के शासन में भिक्षुगण विहार करते हैं।

लोभ, द्वेष तथा मोह—ये तीन ऐसा धर्म हैं जो चित्त को अशान्त करते हैं, इससे भीतर में भय उत्पन्न होता है, जिसे लोभीजन नहीं बूझते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनत्थजननो लोभो, लोभो चित्तप्पकोपनो ।
भयमन्तरतो जातं तं जनो नावबुज्झति ।।

दुट्ठो अत्थं न जानाति दुट्ठो धम्मं न पस्सति ।
अन्धतमं तदा होति, यं दोसो सहते नरं ।।

यो च दोसं पहत्वान दोसनेय्ये न दुस्सति ।
दोसो पहीयति तम्हा तालपक्खो व बन्धना ।।

अनत्थजननो मोहो मोहो चित्तप्पकोपनो ।
भयमन्तरतो जातो तं जनो नावबुज्झति ।।

मूल्हो अत्थं न जानाति मूल्हो धम्मं न पस्सति ।
अन्धतमं तदा होति यं मोहो सहते नरं ।।

यो च मोहं पहत्वान मोहनेय्ये न मुह्यति ।
मोहं विहन्ति सो सब्बं आदिच्चवुदयं तमंति ।।

लोभ अनर्थ को उत्पन्न करता है, यह लोभ चित्त को उत्तेजित करता है। व्यक्ति उस भय को नहीं देखता है जो उसके भीतर से उत्पन्न होता है। राग से अनुशासित या प्रभावित व्यक्ति उचित और नियम को नहीं जानता वह व्यक्ति जो राग युक्त होता है, अन्धतम हो जाता है। जो द्वेष को नष्ट कर दूषणीय वस्तु से प्रदुष्ट नहीं होता है। उसके द्वेष उसी प्रकार गिर जाते हैं जैसे कमल से जल बिन्दु गिर जाते हैं। मोह अनर्थ को उत्पन्न करता है, वह चित्त को उत्तेजित करता है। वह भीतर से उत्पन्न होने वाले भय को नहीं देखता है। वह उचित को तथा धर्म को भी नहीं जानता है। जो मोह के प्रभाव में रहता है, वह अन्धकारमय हो जाता है। जो मोह को विनष्ट कर मोहनीय वस्तुओं से मोहित नहीं होता है, उसका सभी मोह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार सूर्योदय के होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है।

विरजं अर्थात् राग, द्वेष तथा मोह से विगत होना ही विरज होना है। यह विरजता ही उत्तम मङ्गल है। विरज होकर मनुष्य निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वह वीततृष्ण हो जाता है। वह प्रज्ञा से यह जान लेता है कि दुःख नहीं है। तृष्णा से रहित चित्त की यह अवस्था, सर्वश्रेष्ठ मंगल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खेम (क्षेम) अर्थात् निरुपद्रवता, शान्तिमयता, निर्वाण के अधिगम का प्रतीक है, क्योंकि निर्वाण सर्व-शान्तिमयता, सर्व प्रसन्नता और सभी प्रकार के दोषों एवं अवगुणों से सर्वमुक्तता का अधिवचन है। निर्वाण को हम-शान्ति से आपूरित चित्त' कहते हैं। परम शान्तिमयता को प्राप्त करने के लिए मिथ्यादृष्टि और मोह का परिवर्जन करना अपरिहार्य है। इन दोषों के व्युपशान्त हुए बिना चित्त का प्रशान्त होना संभव नही है। दु:ख का निरोध और रागमुक्ति शान्ति को लाता है, अत: शान्ति से आपूरित चित्त उत्तम मंगल है।

इस प्रकार असोकं, विरजं, खेमं, ये तीनों उत्तम मंगल हैं क्योंकि यह संसार की सर्वोच्च अवस्था अर्थात् निर्वाण का कारण है और आह्वनेय के योग्य बनाता है।

एतादिसा कत्वान सब्बत्थमपराजिता ।
सब्बत्थ सोत्थिं गच्छन्ति तं तेसं मंगलमुत्तमं ।।

ऐसा करके सर्वत्र अपराजित होकर सर्वत्र कल्याण को प्राप्त करता है, यह उनका उत्तम मंगल है। कहा भी है—

इधनन्दति पेच्च नन्दति कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति ।
पुञ्ञं मे कतंति नन्दति, भिय्यो नन्दति सुगतिं गतोति ।।

कृतपुण्य व्यक्ति इस लोक में आनन्द पाता है और परलोक में जाकर भी आनन्द पाता है। पुण्यात्मा दोनों लोकों में आनन्द पाता है। वह अपने कर्मों की विशुद्धता को देखकर आनन्दित होता है।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने अड़तीस मंगलों (अट्ठतिंसमङ्गलानि) का उपदेश किया है जो समस्त मानव जीवन के लिए कल्याणकारी है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान समय में बुद्ध-वचन की प्रासंगिकता

प्रो. विश्वनाथ बनर्जी

सम्यक् सम्बुद्ध भगवान बुद्ध मानव-जाति के महान् गुरु ढाई हजार साल से भी पहले जन्मे और इसी विश्व की पीड़ित मानव-जाति की अवस्था की उन्नति के लिए काम किया। आज जब हम उनकी वाणी पर विचार करते है तो हम कृतज्ञ सम्मान भावना से भरकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि उनकी वाणी आज के युग के संदर्भ में भी कितनी प्रासंगिक है।

विश्व आज अनेक टुकड़ो में बँटा हुआ है और परस्पर युद्धरत देश एक दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण दलों में विभाजित है, मानवता को बचाने की कोई आशा नहीं दीख पडती बल्कि और भी भयावह एक तीसरा विश्वयुद्ध हमारे आगे मुँह बाए खड़ा है। जीवन के मूल्यबोध की धारणायें आमूल बदल गई हैं। चारों ओर मनुष्य स्वभाव और नैतिक मूल्यों का सामग्रिक पतन हुआ है। अपने व्यक्तिगत लाभ हानि की नाप-तौल के बीच हम यह नहीं समझते कि अच्छाई के निर्वाह से भूलों का सुधार और बुरे का नाश ही समाज में सामंजस्य बनाए रखने में और विरोधों से मुक्त एक विश्व का निर्माण करने मे हमारी सहायता कर सकता है। इसे सफल बनाने के लिए सौहार्दपूर्ण मित्रता धैर्य की भावना और भाई-चारे की भावना से उद्‌बुद्ध मन की आवश्यकता है। बुद्ध ने अपने उपदेशों में इन सभी के बारे में बडी ही आश्वस्त पूर्ण रीति से आलोचना की है।

सचेतन विश्व की भलाई के लिए बुद्ध का संदेश सिर्फ प्रचीन भारत तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि एशिया के बहुसंख्य लोगों के मन को प्रभावित किया और उनकी वाणी से उन्हें सान्त्वना और शान्ति का सन्देश मिला। उनके लिए बुद्ध न केवल विश्व-प्रेम की प्रतिमूर्ति थे, बल्कि पूर्ण ज्ञान के प्रतीक भी थे। उनकी वाणी में ही उन लोगों के पीड़ित मन को आश्रय मिला और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी शिक्षा को उन्होनें समस्त बुराईयों, जिनका कि एक सांसारिक मनुष्य को सामना करना पड़ता है, उपचार के रूप में अपनाया। ललित विस्तर में संसार के प्राणियों के लिए बुद्ध की शिक्षा का गुरुत्व समझाने के लिए उन्हें वैद्यों के राजा के रूप में सम्बोधित किया है—

चिरातुरे जीवलोके क्लेश-व्याधि प्रपीडिते ।
वैद्यराट् त्वं समुत्पन्नः सर्वव्याधि प्रमोचकः ।।

"कामनाओं से रोगग्रस्त दीर्घसमय से अस्वस्थ और दुःखावेग से पीडित इस विश्व में तुम वैद्य प्रवर अवतरित हुए हो, सर्व रोगों के निराकरण के लिए"

पर वे पीड़ाएँ और व्याधियाँ क्या थी जिन्हे बुद्ध वैद्य के रूप में दूर कर सकते हैं, और किन औषधियों से? बुद्ध के जन्म के समय को आत्मिक एषण के युग के रूप से जाना जाता है और हमें याद रखना है कि गौतम ने सर्व दुःख पीड़ाओं की जड़ को खोज निकालने की प्रेरणा से घर छोड़ा था दुःख की उस जड़ को जो मानव को क्लेश पहुँचाती है और ज्ञानान्वेषी के रूप में उनका यह काम था-पीड़ित और जर्जरित मानवता को ऐसे पथ को खोज देना जो उन्हें दुःख-दर्द से छुटकारा देगी। उन्होनें चार आर्य सत्यों की खोज की और दर्शाया कि अज्ञान ही सब मानवीय दुःखों की जड़ है। पाप दुःख और पीड़ा से भरे नश्वर इस संसार में वे लगभग चालीस साल तक घूमते रहे और सत्य, प्रेम एवं अहिंसा का संदेश सुनाते रहे। निस्सन्देह ही उनकी शिक्षा सही अर्थ में धार्मिक है, परन्तु साथ ही साथ वह नैतिक दार्शनिक और विश्वजनीन है। उन्होनें उन अशुद्ध मानसिक स्थितियों और आवेगों का विश्लेषण किया जो कि हमारे मन को सताते हैं और हमारे लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं कि हम अस्तित्व के भँवर में फँसकर जन्म के आवर्त में घूमते रहते हैं और परिणामस्वरूप संसार के दुःख में पड़ जाते है। हम सर्वदा अनेक आशाओं और अनेक अपूर्ण मनोवांछाओं को लेकर तनावपूर्ण स्थिति में जीते हैं। इस तनाव को और रोग को दूर करने का उत्तम उपाय है आत्माभिमान का त्याग और मन की शुद्धि। उन्होनें चाहा कि मानव पहले अन्तर्स्नान द्वारा अन्तर की शुद्धि करे-'सिनातो अन्तरेन सिनानेन' न कि पवित्र जल के स्पर्श से बाह्यिक शुचिता। उन्होनें नेतिवाचक दुःख से दूर भागने की बात नहीं कही है, बल्कि उन्होनें चाहा कि अस्तिवाचक अच्छाई का पालन हो और अभ्यन्तर की शुद्धि हो—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धानसासनं ।।[१]

कोई भी पाप न करना महान् कार्यों का परिशोधन, मन की शुद्धि बुद्ध की यही शिक्षा है।

और यह भी कहा गया है कि शुद्धि और अशुद्धि व्यक्ति पर निर्भर करती है-कोई व्यक्ति किसी भी दूसरे व्यक्ति को शुद्ध नहीं कर सकता—

'सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये ।'[२]

बुद्ध बारम्बार शिष्य को शिक्षा देते है कि सत्य तक पहुँचने के लिए वह व्यावहारिक उपायों का अवलम्बन करे आचरण करे न कि विश्वास उनके शिष्य का आधार है। उन्होने समझाया कि प्रभुत्व के उच्चतम स्थान पर है हमारे अन्तर की आवाज और बाहरी शक्ति के संदर्भ के बिना ही अपना त्राता है।

''अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया''[३]

वे अपने अनुयायियों को दूसरों को शिक्षा देने से पहले अपने को ही सुधारने को कहते है—

अत्तानमेव पठमं पतिरूपे निवेसये ।
अथ अञ्ञं अनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो ।।[४]

व्यक्ति को सबसे पहले निश्चित कर लेना चाहिए कि क्या सही है, फिर दूसरों को शिक्षा देनी चाहिए। ज्ञानी व्यक्ति अगर इस प्रकार से चले तो कष्ट नहीं पायेगा।

वे उपदेश देते है कि हमारे स्वभाव के पुनरूज्जीवन में ही हमारे उद्धार की आशा निहित है। वे कहते हैं कि व्यक्ति को अपने आचरण और अनाचरण की ओर ध्यान देना चाहिए और दूसरों के अनुचित कार्यों के प्रति नहीं।

न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं ।
अत्तनो व अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च ।।[५]

---

१. धम्मपद. १८३;
२. धम्मपद. १६५।
३. वही. १६०;
४. वही. १५८।
५. वही. ५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे दिखाते है कि दूसरो के दोषो को देखना आसान है। सर्वथा अपने दोषो को दूसरों से छिपाने का प्रयास रहता है।

सुदस्सं वज्जं अञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं ।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथाभुसं ।।
अत्तनो पन छादेति कलिं व कितवा सठो ।[१]

उनका ध्यान व्यक्ति पर केन्द्रित है। उनकी चेष्टा भी चरित्र के आदर्शों की सृष्टि, मनुष्य के व्यवहार का माननिर्णय, मनुष्य के जीवन के मूल्यों को, चेष्टाओं को और अभिज्ञताओं को उँचा उठाना; वे न तो कोई धर्मसुधारक थे और न ही उन्होनें उस जमाने की रीति के अनुसार समझे जाने वाले तथाकथित धर्म के रूप में किसी धर्म सिद्धान्त या तत्त्व की बात कही। अपने शिष्यो को सिद्धान्त या धर्मसार की शिक्षा देने के बजाय जैसा कि राधाकृष्णन् ने कहा है, बुद्ध ने एक प्रकार का स्वभाव और अभ्यास गढने की चेष्टा की थी[२]। अपने अनुयायियों को दिये उनके इस उपदेश में एक सचेत आवेग व्यक्त हुआ है। वह कहते हैं कि अगर कोई उनकी निन्दा करता हो या उनके उपदेशों में दोष निकालता हो तो भी वे अप्रसन्नता या क्रोध से विचलित न हों। कारण ऐसी स्थिति में वे लोग समालोचना की सच्चाई या बुराई नहीं जाँच सकेगें। अपने अनुयायियों को उन्होनें किसी मित्र की सच्ची समालोचना का विरोध न करने को कहा और ऐसे मित्रों की संगत में रहने को कहा जो कि सदाचारी और मनुष्यों में श्रेष्ठ हो।

"भजेथ मित्ते कल्याणे, भजेथ पुरिसुत्तमे ।[३]

वे चाहते थे कि उनके शिष्य उनकी युक्ति को अपने जीवन का आधार बनायें और उन्होनें यह भी उपदेश दिया कि वे उनके शब्दों को जीवन और तर्क द्वारा बिना जाँच किए न स्वीकारें। मनुष्यों को जीवन की परिस्थितियों को यथासम्भव आदर्श बनाने को कहा। विश्व में सबसे बड़ी ताकत है उस महान् चरित्र की जिसका गठन विचारशील मन द्वारा हुआ हो। चरित्रवान मनुष्य का कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। आवेग जो कि सब बुराइयों की जड़ है, विचारशील मन में स्थान नहीं बना पाता। उनके लिए विश्व बुरा नहीं वरन्

---

१. वही. २५२
२. Radhakrishnan s Dhammapada. Int. p.13
१. वही. ७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञान् रूप, असन्तोषपूर्ण और निरानन्द है। उन्होनें समझाया कि हमारी मूर्खताभरी इच्छाएँ हमें दुःखी बनाती है। सुखी होने के लिए व्यक्ति को नए हृदय की और नई आँखो से देखने की आवश्यकता है।[१] अच्छे व्यवहार और आभिजात्य को वे तपश्चर्या से अधिक महत्त्व देते थे।

भारत जो कि धार्मिक सहनशीलता की भूमि है, उसकी आत्मा और आदर्श के प्रति सच्चे बुद्ध के शब्दों और व्यवहार किसी में भी जरा भी असहनशीलता का आभास नहीं मिलता। किसी भी अवसर पर हम बुद्ध को क्रोधित होते या कड़े से कड़े समालोचक के प्रति कोई कटु या निष्ठुर मन्तव्य करते नहीं पाते हैं। कभी कभार हम उन्हें यज्ञाग्नि के निकट ब्राह्मण के पास बैठे धार्मिक आलोचनारत देखते हैं, पर उसके विश्वास और उपासक को बिना ठेस पहुँचाये। और कभी वे नवीन धर्मान्तरित सीह जो कि पहले जैनी थे को उपदेश देते हैं, कि वह पहले जैसे ही घर पर आये जैन सन्यासियों को भोजन और उपहार दे। बुद्ध को धर्मान्तरित करने में बहुत ही कम दिलचस्पी है। एक बार हम देखते हैं कि एक गृहस्वामी ने बड़े ही कटु शब्दो में उन्हें खदेडा वे बडे ही शिष्ट और मैत्रीपूर्ण शैली में उससे पूछा है—प्रिय मित्र! अगर कोई गृहस्वामी किसी भिखारी के आगे भोजन रखता है और भिखारी उसे ग्रहण करने से इन्कार कर देता है तो वह भोजन किसका होता है? वह व्यक्ति, उत्तर देता है-"अवश्य ही गृहस्वामी का"। बुद्ध उत्तर देते है— ते मैं तुम्हारी कटु शब्दों और असदिच्छा को ग्रहण करने से इन्कार कर देता हूँ, वे अवश्य ही तुम्हारे पास लौट जायेगें पर मैं यहाँ से अधिक गरीब होकर लौटूँगा क्योंकि मैनें अपना एक मित्र खो दिया।"

बुद्ध का उददेश्य समतावादी समाज का निर्माण नहीं था। वे चाहते थे कि तनाव और निरानन्दमय परिस्थितियाँ जड़ से दूर हों जिससे सभी के लिए शक्ति, और आनन्द, विराजित हों। वे अपने अनुयायियों से कहते हैं कि हर प्राणी के प्रति प्रेमभाव से वे लोग अपना हृदय भर लें और घृणा, विद्वेष आदि बुरी भावनायें मिटा दें। उनका कहना है कि 'शत्रुता शत्रुता से नहीं मिटती, वह सिर्फ मैत्री से ही मिट सकती है—

---

१. Radhakrishnan s Dhammapada. Intr. 13

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ।।[१]

वे आगे कहते हैं कि विजय घृणा को जन्म देती है, क्योंकि विजित व्यक्ति दु:खी होता है—

जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो ।

उस युग के लिए उनका सन्देश नवीनता लिए हुए था, क्योंकि वह व्यक्तिगत ईश्वर में विश्वास के बिना ही सुख और अनन्त आनन्द की प्रतिश्रुत्ति देता है। परलोक के सम्बन्ध में समस्त प्रकार के विद्वात्तापूर्ण विचारविमर्श को उन्होनें हतोत्साहित किया और कहा कि उनके लिए समस्त प्रकार के तात्त्विक मतभेद अन्तर्मन की शान्ति के लिए हानिकारक हैं। वे चतुरार्य सत्यों की उपलब्धि द्वारा अज्ञान, तृष्णा और आसक्ति को दूर मिटाने को सबसे अधिक महत्त्व देते थे। उन्होनें समझाया कि प्रतीयमान संसार का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है— केवल अज्ञानी और अमननशील मन के आगे ही कुछ कारण और परिस्थितियाँ वस्तु को वास्तविक प्रतीत कराती है। उन्होनें उत्पत्ति और दु:खनिवृत्ति की अतिसूक्ष्म रूपरेखा प्रस्तुत की है और मध्यपथ और आर्य सत्यों की उपलब्धि को औषधि के रूप में निर्देशित किया है।

बुद्ध के समग्र शिक्षण को जो कि पथ के अन्तर्गत जाता है, हम तीन भागों में बाँट सकते हैं जैसे—शील, चित्त और पञ्ञा; शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक अभ्यास। बौद्ध धर्म में नैतिक एषणा और दार्शनिक उपलब्धि के ये तीन विचार बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

शील या शारीरिक अभ्यास एक व्यापक नैतिक नीति संहिता है जिसमें सम्मावाचा सही वचन सम्माकम्मन्त सही आचरण और सम्मा आजीव सही जीविका इत्यादि। नैतिकता के पाँच महत्वपूर्ण तत्व हैं—अचौर्य, सदाचार, मिथ्या न बोलना, मादक द्रव्य-असेवन जीविका के लिए दुराचरण न करना। समाज शास्त्र की दृष्टि से ये निषेध अत्यन्त अर्थपूर्ण हैं। ये उस शारीरिक अनुशासन के सूचक हैं जिसके पश्चात् मानसिक शिक्षा या चित्त आता है और जिसकी पराकाष्ठा चिन्तन, मनन है जो अपने में सम्माव्यायाम सही अभ्यास सम्मासति सही चिन्तन और सम्मासमाधि सही ध्यान मनन को समेटे हुए है। मनासिक

---

१. Ibid. ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुशासन जो कि बौद्ध नीतिशास्त्र और दर्शन के लिए अत्यावश्यक है-केवल मन की एकाग्रता ही नहीं समझा जाना चाहिए। तीसरा पक्ष है पञ्ञा-सम्मा-संकल्प सही संकल्प और सम्मादिट्ठि सही दृष्टि निर्देशित बौद्धिक अनुशासन। इन तीन विभागों में हमें आठ महान् निर्देश महान् पथ के सूत्र में मिलते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि बौद्धिक अनुशासन के अन्तिम विभाग में बौद्ध धर्म ने विश्व की सबसे बड़ी पहेली के समाधान के बारे में अपने अनोखे विचार प्रस्तुत किये हैं। अन्य दो अनुशासन अनेकांश में भारत में उस समय प्रचलित अन्य नैतिक, बौद्धिक और ध्यान अभ्यास से मिलते-जुलते हैं। बौद्ध धर्म में जीने की नैतिक परम्परा की पराकाष्ठा दार्शनिक ज्ञान में हैं।

'सम्मा दिट्ठि' यानी सही दृष्टि के ऊपर दिया गया जोर इस बात का निर्देशक है कि नैतिक नियम मूल सत्यों की उपलब्धि पर आधारित होने चाहिए। दु:ख के अनिवार्य कानून द्वारा नियन्त्रित विश्व में सदाचारी मन के निर्माण की प्रेरणा के बौद्धधर्म में नैतिकता का मानदण्ड माना जा सकता है। जैसा कि धम्मपद में कहा गया है—

परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे ।[१]
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा ।।

अज्ञानी यह नहीं जानता कि यहाँ हम सब को अन्त की ओर जाना हैं, किन्तु जो इसे उपलब्धि करते हैं, उनके झगड़े तत्काल खत्म हो जाते हैं।

'सम्मा संकप्प' सही आकाक्षां या इच्छा मनुष्य के निश्चयों को उँचा और महान बनाने में बुद्ध के बताए हुए मार्ग का एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। बुद्ध ने नैतिक जीवन के साथ युक्ति और इच्छा को जोड़ा और समस्त प्राणियों के प्रति सद्भावना और ममत्व की वृद्धि के लिए यह आवश्यक हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमारी सही अभिलाषा और सही मार्गदर्शन से हम अपने संसार को हमारे तनाव और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को मिटाकर और अधिक सुखमय बना सकते हैं।

हमारे अधिकांश झगड़े और तनाव कटु शब्द और कड़वी भाषा के व्यवहार से पनपते हैं, भाषा पर नियन्त्रण शान्ति और सद्भावना की स्थापना में सहायक हैं और बुद्ध ने सम्मावाचा के सम्बन्ध में कहा है कि किसी भी

---

१. Ibid. २०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के मिथ्या दुरावपूर्ण और कटुवचन के व्यवहार से विरत रहकर इसका पालन हो सकता है-यह एक समाजिक गुण है जो कि व्यक्ति को गौरव व सम्मान प्रदान करता है।

सही आचरण या महान् कार्य दूसरों की भलाई तक पहुँचाते हैं और एक आदर्श चरित्र के गठन के लिए ये आवश्यक गुण हैं। 'सम्मा कम्मन्त' या सही कार्य जो कि महान हों और सही प्रकार के हो, कर्त्ता के अलोभ, अद्वेष और अमोह स्वभाव को उजागर करते हैं। इस अभ्यास का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपकारी पक्ष है कि यह कर्त्ता को नैमित्तिक कार्यों से जुड़े कदाचरण से मुक्त करता है।

सही आजीविका या 'सम्मा अजीव' दायित्वपूर्ण सामाजिक मनुष्य के निर्माण में अत्यावश्यक है। यह नैतिक जीवन का सूचक है और हमारे आर्थिक जीवन को नैतिक बनाने की कोशिश करता है जिससे कि हम अभद्र आचरण से दूर रहें और दूसरों को ठगकर फायदा न लूटें। यह देखा गया है कि कार्यों से ही मनुष्य परित्यक्त होता है और कार्यों से ही वह ब्रह्मण भी बन सकता है।[१]

नैतिक मनोविज्ञान अभ्यास 'सम्मा वायामो' या सही अभ्यास का निर्देश समस्त प्रकार के बुरे या गलत मनोभावों के दमन या उन्मूलन के लिए किया गया है। यह सद्भावना के निर्माण पोषण और वृद्धि में सहायक है और मन को नये विचारों से दूषित होने से रोकता है।

मानसिक अभ्यास की निस्तरचल सही प्रक्रिया 'सम्मासति' या सही मानसिकता समस्त आकांक्षाओ की निवृत्ति में सहायक है। श्रमसाध्य और योजनाबद्ध अभ्यास द्वारा व्यक्ति इस प्रकार से शरीर और मन को शिक्षित कर सकता है कि किसी भी प्रकार की वासना या विषाद उत्साही सचेत शान्त और धीर बने शक्त नैतिक चरित्रवान् आकांक्षी के मन में नहीं घुस सके। 'सम्मा समाधि या सही ध्यान प्रार्थना चिन्तन मनन द्वारा मन को धीर और प्रशान्त बनाते हुए नैतिक प्रक्रिया के चरम उत्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। अखण्ड शान्ति की सृष्टि होती है और आत्मोपलब्धि की प्राप्ति होती है। समस्त समस्याओं और तनावों से मुक्त रहकर, आकांक्षी सच्चा आनन्द प्राप्त करता है।

---

१. cf. Brahmanavagga in Dhammapada

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महान् अष्टांगिक मार्ग की प्रक्रिया की उपस्थापना करते हुए बुद्ध ने सुखद व्यक्तित्वशाली, दृढ़ और महान् चरित्र गठन पर बल दिया है जो समाज की मूल्यवान सेवा कर सके। नैतिकता और मननशील एकाग्रता को साथ जोड़ते हुए बुद्ध ने नैतिक भावना को गहन बनाने का मार्ग दर्शाया है। बौद्धधर्म में अन्तर्मन का महत्त्व अधिक समझा जाता है और मार्ग द्वारा निर्देशित सम्पूर्ण व्यक्तित्व का भी समाज की भलाई के लिए काफी महत्व है। यह सही है कि निर्देशित पथ का सम्बन्ध प्रधानत: बौद्ध सन्यासियों के संघ से है किन्तु विश्लेषण करने पर आठ तत्त्वों में निहित सामाजिक मूल्यों की अवहेलना नहीं की जा सकती है। पथ निर्देशित नैतिकता या नीति ज्ञान कार्य केन्द्रित है और स्वभाव से परिवर्तनात्मक भी। बुद्ध ने पथ का निर्देश शास्त्रीय विवेचन के लिए नहीं, बल्कि परोपकार की भावना नैतिकता के लिए प्रयास शरीर और मन की स्फूर्ति वासनाओं और किसी भी प्रकार की बुरी भावनाओं से पूर्ण रूप से मुक्त उत्साही मन के प्रबर्धन की सहायता के लिए किया गया था।

बौद्ध धर्म की अन्य नीतिशास्त्रीय प्रक्रियाओं को अगर ठीक से पालन हो और ग्रहण हो तो वह जागतिक समस्या और तनावों को अनेकांश तक आसान और दूर कर सकती हैं। ब्रह्मविहार के नाम से अभिहित प्रक्रिया चार उदात्त वर्गों को समेटे है जो कि अष्टांगिक मार्ग से सम्बद्ध हैं। चार वर्गों द्वारा प्रस्तुत आदर्श नैतिक गुणों और परार्थवादी मूल्यों के लिए विशिष्ट है। वे चार परिचित हैं-मेत्ता (मैत्री) करुणा, मुदिता और उपेक्खा (उपेक्षा) के नाम से बौद्ध धर्म में ये विचार नहीं, बल्कि केवल भावनाएँ या ध्यान के प्रकार मात्र हैं जिनकी प्राप्ति व्यवहार के माध्यम से होती है। सर्वोच्च प्रकार के परार्थवाद की अभिव्यक्ति इन चारों प्रकार के विचार के द्वारा हुई है जो पूर्ण रूप से व्यवहृत होने पर समाज को जीने के योग्य बनाते है।

ये चार विभाजन, सांख्य प्रणाली द्वारा भी समझाये गये है, पर इस सम्बन्ध में अन्तर निहित है-बौद्ध धर्म द्वारा प्रचारित उदार रवैया, सार्वभौमिकता और परिवर्तनशील परार्थवाद में।

ब्रह्मविहार का पहला वर्ग मेत्ता या मेत्ता भावना एक गहरा सामाजिक तात्पर्ययुक्त महत्त्वपूर्ण नैतिक विचार है। यह बुद्ध के अनुगामी को सर्वदा ब्रह्माण्ड के हर प्राणी के चाहे वह परिचित हो या अपरिचित जन्मा हो या अभी तक अजन्मा, भलाई और सुख के लिए उत्कण्ठित रहने की शिक्षा देता है। 'सब्बे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्ता भवन्तु सुखितत्ता'-हरेक प्राणी आनन्दित रहे यही आदर्श है, इस प्रकार की भावना का अभ्यास करने वाले का। परन्तु केवल मन में सबकी भलाई और सुख की भावना का पालन ही पर्याप्त नहीं है। आकांक्षी व्यक्ति को उच्च या नीच सुख के लिए प्राणियों के प्रति असीम प्रेमपूर्ण उत्साहित हृदय से एकाग्र होकर कार्य करना पड़ेगा और अन्ततः यह अहिंसा के विचार के संग जुड़ा है। इन दोनों वर्गों के अभ्यास और मनन से एक आभ्यन्तरीन सामंजस्य और भ्रातृत्व की सृष्टि होती है जो कि इस बढते औद्योगिक, अवैयक्तिक, आधुनिक सभ्यता के लिए हितकारी फल देते हैं। विश्वजनीन करुणा या करुणा भावना है। दूसरी प्रक्रिया जो कि सभी प्राणियों के प्रति ऐसा कि पंक्षी के फंदे में लटकाते हुए दोषी के प्रति भी करुणा की भावना रखने में सहायता करती हैं। इस भावना का अभ्यास किसी अपरोक्ष करुणा भावना का नहीं, बल्कि सुधार के लिए सक्रिय कार्य की आवश्यकता पर जोर देता है। अभ्यासरत व्यक्ति को सक्रिय रूप से अपनी भावनाओं को कार्यों में ढ़ालने में व्यस्त रहना चाहिए और जब तक उसने पीड़ित विश्व को आराम न पहुँचाया हो तब तक उसे सन्तुष्ट हो कर विश्राम नहीं करना चाहिए।

मुदिता जो कि तीसरा ब्रह्मविहार है और एक महत्त्वपूर्ण नैतिक मनोभाव है किसी दूसरे व्यक्ति, ऐसा कि शत्रुओं के भी आनन्द में आनन्दित होना, इस अभ्यास के अन्तर्गत आता है।

उपेक्खा जो कि ब्रह्मविहारों के विभाजन में अन्तिम है-इसके अभ्यास से धैर्य की भावना उत्पन्न होती है। इन चार आदर्शों का ठीक से पालन विश्व की अशान्त भावनाओं को निर्मूल करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है और विभिन्न आवोहवा और अभिरुचि के लोगों के बीच भ्रातृत्व और एकता की भावना जागृत करने में अत्यन्त सहायक हो सकता है। प्रेम, बन्धुत्व और करुणा के माध्यम से हृदय को उदात्त और शुद्ध बनाने वाले बुद्ध के विचार अनिच्च (अनित्य) अनत्त (अनात्म) और दुक्ख (दुःख) का संदेश एक साथ मिलाकर समस्या दुःख दुर्दशा पीड़ित विश्व को मुक्त कराने की प्रतिश्रुति देते हैं। स्वभाव से ही जागतिक प्राणी आत्मकेन्द्रित होते हैं और वासना या तण्हा या तृष्णा इस आत्मकेन्द्रिता की जड़ है। बुद्ध ने इस मूलभूत सत्य को उजागर किया और उपचार का उपाय सुझाया। उन्होनें बताया कि पुण्य और ज्ञान एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे को शुद्ध बनाते हैं।[१] जबकि कार्य कारण सम्बन्ध के सिद्धान्त को ग्रहण न कर पाना विश्व के समस्त दु:खों की जड़ है।[२]

मानव इतिहास के इस नाजुक समय में जबकि मानवता और समग्र सृष्टि विद्वेष और घृणा, वासना और हिंसा अविश्वास और इर्ष्या, सन्देह और शत्रुता से ध्वस्त, जमा होते हुए अंधकार से उपजे ध्वसं के सामने खड़ी हो तब शायद बुद्ध का संदेश हमारे लिए आशा और मुक्ति का प्रकाश दिखाता है—हमें मार्ग दिखाता है और हमारे जीवन और समाज में प्रेम सौहार्द शान्ति और बन्धुत्व की पुन: प्रतिष्ठा करने में हमारी सहायता करता है। शायद मानव इतिहास के किसी भी युग में बुद्ध का सन्देश इतना समयोपयोगी और आवश्यक रहा हो जैसा कि आज है। रवीन्द्रनाथ अपनी विशिष्ट शैली में हिंसा से उन्मत्त और असहनीयता से वशीभूत इस विश्व में बुद्ध के नये जन्म का आह्वान करते हैं—

"नूतन तव जन्म लागि कातर यत प्राणी
कर त्राण महाप्राण आनो अमृतवाणी"।।[३]

समस्त सृष्टि तुम्हारे नवजन्म के लिए कातर है। हे महाप्राण! हमें उद्धार करो, हमें अपना अमृत संदेश सुनाओ।

●

---

१. cf. सोनदण्ड सुत्त

२. महानिदानसुत्त

३. रवीन्द्र रचनावली, जन्म शताब्दी संस्करण ४।१२८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्धदर्शन में कालतत्त्व

प्रो. रामशंकर त्रिपाठी

पू. अध्यक्ष
बौद्ध दर्शन विभाग
सं.सं.वि.वि. वाराणसी

सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत् काल के गर्भ में स्थित है। क्योंकि सभी वस्तुएँ उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग इन तीन कालों में प्रतीत होती है। काल की इस निरन्तरता एवं व्यापकता को देखकर कुछ दार्शनिक उसे नित्य एवं द्रव्यसत् वस्तु मानते हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार काल पञ्चस्कन्ध स्वभावात्मक और संस्कृत लक्षण वाला धर्म है[१]। उसकी वस्तुनिरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता बौद्ध दर्शन में मान्य नहीं है। अपि तु वह जड-चेतन धर्मो की गतिशीलता और परिवर्तनशीलता की अपेक्षा से एक प्राज्ञप्तिक धर्म है। प्रज्ञप्तिसत्ता होने पर भी बौद्ध लोग उस व्यावहारिक काल के दो भेद करते हैं, यथा—स्थूल एवं सूक्ष्म। मुहूर्त्त, दिन, रात्रि, मास, ऋतु, वर्ष आदि काल के स्थूल भेद हैं तथा 'क्षण' काल का सूक्ष्म भेद है। जैसे रूपी (जड़) पदार्थों का अन्तिम अवयव परमाणु होता है, उसी प्रकार काल का अन्तिम भाग 'क्षण' कहलाता है। आभिधार्मिकों के मतानुसार समस्त हेतु-प्रत्ययों के विद्यमान होने पर जितने काल में किसी धर्म का आत्मलाभ (उत्पाद) होता है, उतना क्षण का परिमाण है। अथवा जितने काल में कोई गतिशील पदार्थ एक परमाणु से दूसरे परमाणु तक पहुँचता है, उतना क्षण का परिमाण है[२]।

---

१. ते पुनः संस्कृता धर्मा रूपादिस्कन्धपञ्चकम्।
त एवाध्वा कथावत्थु सनिःसाराः सवस्तुकाः।। द्र.-अभिकोश, १:७।

२. समग्रेषु प्रत्ययेषु यावता धर्मस्यात्मलाभः, गच्छन् वा धर्मो यावता परमाणोः परमाण्वन्तरं गच्छति...आभिधार्मिकाः।
द्र.-अभि.कोश भाष्य, पृ. ५३६ (बौद्धभारती-संस्करण)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी वस्तुओं का अस्तित्व क्षणमात्र हैं—ऐसा मानने के कारण बौद्ध क्षणभङ्गवादी कहलाते हैं। क्षणवाद ही उनका कालसिद्धान्त है। वस्तुवादी बौद्धों के मतानुसार स्वलक्षण ही वस्तु है और वह सर्वथा क्षणिक है। इसलिए बौद्धों में काल का अत्यधिक महत्त्व है।

[क]

बौद्धेतर धारा

बौद्ध धारा के अनुसार ही काल के स्वरूप का निरुपण करना इस निबन्ध का उद्देश्य है, फिर भी बौद्धेतर प्राचीन वैदिक वाङ्मय के अवलोकन से काल के विषय में अनेक मान्यताएं परिलक्षित होती हैं। उनका हम चार वर्गों में विभाजन कर सकते हैं, यथा—१. भगवद्-रूप काल, २. नित्य द्रव्य स्वरूप काल, ३. अनित्य द्रव्य स्वरूप काल तथा ४. प्राज्ञप्तिक या व्यावहारिक काल।

१. भगवद्-रूप काल

वैदिक वाङ्मय में ऋक् संहिता[१], अथर्व संहिता[२], भागवत पुराण[३], महाभारत[४], आदि में काल को भगवद्-रूप मानकर उसकी स्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं।

२. नित्य द्रव्य-स्वरूप काल

वैशेषिक दर्शन में कुल ६ या ७ पदार्थ माने जाते हैं, उनमें एक द्रव्य पदार्थ है। द्रव्य पदार्थ भी ९ प्रकार है, यथा पृथिवी, अप् तेजस्, वायु, काल, आकाश, दिक्, आत्मन् और मनस्। काल द्रव्य नित्य और विभु माना गया है। क्षण, अहोरात्र, मास, ऋतु, वर्ष आदि इसी से अभिव्यक्त होते हैं। अनुमान से इसके अस्तित्व की सिद्धि की जाती है। न्यायदर्शन की मान्यता भी लगभग वैशेषिक दर्शन के अनुसार ही है। इनके मत में भी क्षण, दिवस, मास, ऋतु, वर्ष आदि का आधारभूत द्रव्य काल ही है। मीमांसा दर्शन के भाट्ट मत के अनुसार काल एक और विभु (व्यापक) द्रव्य है। प्रभाकर की भी करीब-करीब यही मान्यता है। काल की इन्द्रियग्राह्यता और अतीन्द्रियता के विषय में ही दोनों में मतभेद है।

---

१. ऋक् संहिता २।३ वामीय सूक्त। २. अथर्व संहिता कालसूक्त।

३. भागवत पुराण ३।८।११। ४. महाभारत, शान्ति पर्व, मोक्षधर्म।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. अनित्य द्रव्य-स्वरूप काल

पाशुपत आगम, सिद्धान्तागम तथा वीरशैव मतों में काल की अनित्य द्रव्य के रूप में मान्यता है।

४. प्राज्ञप्तिक या व्यावहारिक काल

शाङ्कर अद्वैत दर्शन, सांख्य दर्शन और शाक्त मत के अनुसार काल की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह एक प्राज्ञप्तिक धर्म है, जिसकी व्यावहारिक सत्ता है।

[ख]

बौद्ध धारा

समस्त ज्ञेय धर्मों में काल अत्यन्त सूक्ष्म धर्म (पदार्थ) हैं। समस्त संस्कृत वस्तु-जगत् काल का ही विलासमात्र है। काल से निरपेक्ष वस्तु की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। काल का अभिप्राय वस्तु का वह घटनाक्रम है, जो हेतु-प्रत्ययों की अन्योऽन्याश्रयता से घटित होता है। हेतुप्रत्ययों से अभिसंस्कृत संस्कार धर्म ही काल हैं। नाम रूप आदि वस्तुओं के क्षण, क्षणसन्तति, ग्रह-नक्षत्र की गति आदि की अपेक्षा से जो क्षण, लव, मुहूर्त्त, दिवस, मास, संवत्सर आदि व्यवहार लोक में प्रवृत्त होते हैं, उन्हीं के आधार पर विद्वानों ने काल की कल्पना की है। वस्तुतः क्षण, लव, मुहूर्त्त आदि मात्र वौद्धिक और प्रज्ञप्तिमात्र हैं। जिस कल्पित रेखा के द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान आदि का विभाजन किया जाता है, वही काल है। इससे अतिरिक्त काल की सत्ता सिद्ध नहीं है। वस्तु से अतिरिक्त (भिन्न) काल या काल से अतिरिक्त नाम, रूप आदि वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं है। हेतु-प्रत्यय-सामग्री के समवधान से जो घटना घटित होती है, वही वस्तुसत्ता है। इस प्रकार घटनामात्र और क्षण, लव, मुहूर्त्त आदि कलापमात्र काल है।

प्रश्न है कि अर्थक्रियासामर्थ्य ही वस्तु का लक्षण है, वह अर्थक्रिया क्षणिक और उत्पाद समनन्तर विनाशस्वभाव नितान्त अस्थिर वस्तु में कैसे घटित हो सकती है?

पूर्ववर्ती कारण सामग्री से अनन्तरवर्ती घटना घटित होती है, वह घटनामात्र, उत्पादमात्र, क्रियामात्र या गतिमात्र ही वस्तु है, कोई अतिरिक्त कारक नहीं है[१]। इस घटनाप्रवाह में ही काल की प्रज्ञप्ति होती है।

---

१. क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया। भूतिर्यैषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।।
द्र. - तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ. १४ प्रथमभाग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु अपने कारणों से विनाशस्वभाव ही उत्पन्न होती हैं। वे उत्पत्ति के लिए तो कारण की अपेक्षा करती हैं, किन्तु नाश या भङ्ग के लिए किसी की अपेक्षा नहीं करती, क्योंकि भङ्ग तो उनका स्वभाव ही है। इस तरह कार्यकारण परम्परा सर्वदा चलती रहती है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त है। इसीलिए भगवान् कालवादी हैं[१]।

स्थविरवाद

स्थविरवादी मतानुसार काल एक द्रव्यसत् धर्म नहीं, अपितु प्रज्ञप्तिसत् धर्म है। प्रज्ञप्ति भी दो प्रकार की होती है—प्रज्ञप्यमान प्रज्ञप्ति और प्रज्ञापन प्रज्ञप्ति। प्रज्ञप्यमान प्रज्ञप्ति 'अर्थप्रज्ञप्ति' भी कहलाती है। जो धर्म अविद्यमान होते हुए भी विद्यमान पारमार्थिक धर्मों के बल से कल्पनाबुद्धि या मनोविज्ञान के विषय होते हैं, वे अर्थप्रज्ञप्ति या प्रज्ञप्यमान प्रज्ञप्ति हैं। इसके अनेक भेद हैं, यथा-सन्तान प्रज्ञप्ति, समूह प्रज्ञप्ति आदि। शब्द सुनने के बाद जो विषय बुद्धि में आभासित होता है, वह प्रज्ञापन प्रज्ञप्ति या शब्दप्रज्ञप्ति कहलाता है।

इस तरह काल अर्थप्रज्ञप्ति या प्रज्ञप्यमान प्रज्ञप्ति के अन्तर्गत गृहीत होता है। उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक क्षणिक धर्म ही इनके मतानुसार पारमार्थिक धर्म होते हैं। वस्तुतः धर्म ही अतीत, अनागत या प्रत्युत्पन्न होते हैं, इनके अतिरिक्त कोई 'काल' नामक पदार्थ वस्तुसत् नहीं है। इसीलिए इनके मत में काल एक प्रज्ञप्तिसत् धर्म माना गया है[२]। यह चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि की गति एवं परिवर्तन की अपेक्षा से पूर्वाह्ण, सायाह्न, दिवस, रात्रि आदि के रूप में व्यवहृत होता है तथा अहोरात्र आदि कालसञ्चय की अपेक्षा से मास, संवत्सर आदि के रूप में व्यवहृत होता है। इस प्रकार उत्पाद, स्थिति, भङ्गात्मक क्रिया ही इनके मत में 'काल' है। इससे अतिरिक्त 'काल' नामक कोई द्रव्यसत् विद्यमान पदार्थ नहीं है धम्मसंगणि-मूलटीका में भी कहा गया है—

"कालो हि चित्तपरिच्छिन्नो सभावतो अविज्जमानो पि आधारभावेन सञ्ञातो अधिकरणं ति वुत्तो[३]"।

---

१. द्र.-दीघनिकाय पालि, ३ भाग, पृ. १०४ (नालन्दासंस्करण)।

२. तं तं उपादाय पञ्ञत्तो कालो वोहारमत्तको।
पुञ्जो फस्सादिधम्मानं समूहोति विभावितो।। द्र.- अट्ठसालिनी, पृ. ४९।

३. द्र.-धम्मसंगणि-मूलटीका एवं अनुटीका, पृ. ११० (सं.सं.वि.वि. १९८८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह इस मत में काल की पारमार्थिक सत्ता मान्य नहीं है। उसकी केवल प्रज्ञप्तिसत्ता ही मान्य है।

वैभाषिक मत

बाह्य, आध्यात्मिक, अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न आदि सभी संस्कृत धर्मों की द्रव्यसत्ता मानने के कारण कुछ बौद्ध सर्वास्तिवादी या वैभाषिक कहलाते हैं। 'सर्व' का तात्पर्य बारह आयतन और तीनों कालों से है[१]। 'अध्व' शब्द काल का पर्यायवाची है। यद्यपि अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न तीनों अध्वों में वे धर्मों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, फिर भी संस्कृत धर्मों से भिन्न किसी 'काल' नामक पदार्थ का अस्तित्व वे भी स्वीकार नहीं करते। इसीलिए इनके मत में 'अध्व' शब्द संस्कृत का पर्यायवाची माना गया है[२]। धर्म ही अतीत अनागत आदि होते हैं, उनसे अतिरिक्त अतीत, अनागत आदि काल की सत्ता नहीं है।

संस्कृत धर्मों से अभिन्न होने के कारण संस्कृत धर्मों की भाँति काल को भी इन्हें द्रव्यसत् धर्म मानना चाहिए। रूप, चित्त, चित्तसम्प्रयुक्त (चैतसिक), चित्तविप्रयुक्त एवं निर्वाण नामक पाँच धर्मों की वस्तुसत्ता वैभाषिक मत में मान्य है। १४ चित्तविप्रयुक्त धर्मों में काल की गणना की जाती है। इसीलिए ये लोग काल को संस्कार स्कन्ध, धर्मायतन और धर्मधातु में परिणगना करते हैं। १४ चित्तविप्रयुक्त धर्मों में एक जीवितेन्द्रिय है। यह त्रैधातुक धर्मों की आयु है। आयु, ऊष्मा और विज्ञान जब शरीर को छोड़ देते हैं तो यह शरीर काष्ठ के समान अचेतन हो जाता है। इन तीनों धर्मों में आयु ही शेष दोनों धर्मों (ऊष्मा और विज्ञान) का आधार होती है। इसीलिए आयु 'स्थिति-हेतु' भी कहलाती है।

सौत्रान्तिक दार्शनिक 'कर्म' को आयु, ऊष्मा और विज्ञान तीनों का आधार मानते हैं। उनका कहना है कि कर्म के आधार पर जब सारी व्यवस्था ठीक-ठीक बैठ जाती है तो एक 'आयु' नामक द्रव्यान्तर की कल्पना निरर्थक है। किन्तु वैभाषिकों का कहना है कि ऊष्मा और विज्ञान का आधार 'आयु' नामक एक पृथक् द्रव्य अवश्य होता है। इस प्रकार चित्तविप्रयुक्तों में परिगणित होने

---

१. सर्वमस्तीति ब्राह्मण, यावदेव द्वादशायतनानीति। द्र.-द्वादशायतनसूत्र।

२. ते पुनः संस्कृता धर्मा रूपादिस्कन्धपञ्चकम्। त एवाध्वा कथावस्तु.....।।
द्र.-अभि.कोश, १:७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण इनके मत में यद्यपि काल की द्रव्यसत्ता है, फिर भी संस्कृत धर्मों से भिन्न उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। काल स्कन्धस्वभाव ही है। तैर्थिक लोग जैसे सभी धर्मों के आधार के रूप में काल की वस्तुनिरपेक्ष स्वतन्त्र एवं नित्य द्रव्य सत्ता स्वीकार करते हैं, वैसी काल की सत्ता इस मत में मान्य नहीं है। दिवस, मास, ऋतु, संवत्सर आदि के रूप में जो काल की सत्ता है, वह तो नितान्त व्यावहारिक एवं प्राज्ञप्तिक है।

सौत्रान्तिक

इस मत में भी काल की वस्तुनिरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता मान्य नहीं है। काल एक 'चित्त विप्रयुक्त' संस्कार नामक प्रज्ञप्तिसत् धर्म है। चित्तविप्रयुक्त संस्कार वे धर्म होते हैं, जो परमार्थसत् (द्रव्यसत्) धर्मों को आधार बनाकर प्रज्ञप्त होते हैं। आशय यह है कि घट आदि धर्मों की जो उत्पाद, भङ्ग आदि क्रियाएं हैं, उनमें ही काल की प्रज्ञप्ति होती है। वस्तुतः वही घट का काल है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि की गति एवं परिवर्तन को आधार बनाकर क्षण, लव, मुहूर्त्त, अहोरात्र, मास, ऋतु, संवत्सर आदि का व्यवहार होता है। घट आदि वस्तु से भिन्न काल की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

यदि वस्तु से भिन्न काल की सत्ता नहीं है तो काल की व्यवस्था कैसे की जा सकेगी?

यद्यपि काल वस्तु से भिन्न सर्वथा नहीं है, तथापि सविकल्प बुद्धि में वह वस्तु से भिन्नत्वेन प्रतिभासित होता है। उस प्रतिभास में वस्तु का कुछ भी अंश नहीं होता, फिर भी बुद्धि की उस प्रतीति को अभ्रान्त मानकर बौद्धेतर दार्शनिक काल की स्वतन्त्र रूप से सत्ता मान लेते हैं। कालविषयक वह बुद्धि निश्चय ही निर्विकल्प ज्ञान नहीं है, इसलिए वह बुद्धि अभ्रान्त भी नहीं है, अपि तु भ्रान्त है। कल्पना-बुद्धि में सर्वदा अर्थसदृश अर्थप्रतिनिम्न तथा शब्द सुनने से उत्पन्न प्रतिबिम्ब भासित हुआ करता है। वह प्रतिभास वस्तुलक्षणशून्य होने पर भी वस्तुसदृश होने के कारण भ्रान्ति से वस्तु के रूप में गृहीत होता है। दार्शनिक चिन्तन का यही स्थल महत्त्वपूर्ण केन्द्र-बिन्दु है। इसका सम्यग्ज्ञान न होने के कारण दार्शनिकों में मतभेद उत्पन्न होते हैं। काल की भी वस्तु से भिन्नत्वेन प्रतीति कल्पना बुद्धि में होती है, किन्तु भिन्नत्वेन प्रतीत वह आभास नितान्त काल्पनिक है, वह आभास निश्चय ही वस्तुस्थिति नहीं है। उस आभास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का वस्तु से कोई साक्षात् सम्बन्ध भी नहीं है। उसका आकार नितान्त आरोपित है। इसीलिए बौद्ध काल की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध करते हैं तथा उसे संस्कृत का पर्यायवाची मानते हैं।

वर्तमान ही वस्तुसत्

सौत्रान्तिक मत में अतीत और अनागत की बिलकुल सत्ता नहीं है। केवल वर्तमान में ही वस्तु का अर्थक्रियाकारित्व लक्षण घटित होता है, अतः केवल वर्तमान की ही सत्ता मान्य है। हेतुप्रत्ययसामग्री की अनुपस्थिति या असमग्रता से जो वस्तु के उत्पाद का अभाव है, वही उसका अनागत होना है तथा वर्तमान सत्ता का निरोध या सजातीय सन्तति का उच्छेद उसका अतीत होना है। हेतु-प्रत्ययों की परस्परापेक्ष या हेतु-प्रत्यय सामग्री की समवधानता से वस्तु का जो आत्मलाभ है, वह प्रत्युत्पन्न या वर्तमान होना कहलाता है। उसी में अर्थक्रियाकारित्व है। अतः उसी की वस्तुसत्ता है। अतीत और अनागत की मात्र प्रज्ञप्तिसत्ता है।

स्कन्ध, आयतन धातु के अन्तर्गत गृहीत कुछ धर्म ऐसे भी होते हैं, जिनकी प्रज्ञप्तिसत्ता होने पर भी उनमें अर्थक्रियाकारित्व होता है, अतः सौत्रान्तिक उनकी वस्तुसत्ता मानते है; यथा—चित्तविप्रयुक्त संस्कार, सन्तति, अनित्यता आदि। यद्यपि इनकी स्वतन्त्र द्रव्यसत्ता नहीं है, फिर भी उनमें अर्थक्रियाकारित्व है। अतीत और अनागत में अर्थक्रियाकारित्व का भी अभाव है। अतः उनमें न केवल द्रव्यसत्ता का ही अभाव है, अपितु वस्तुत्व का भी अभाव है। उनका आकार कल्पना द्वारा नितान्त आरोपित मात्र है। इस कारण वे अभावमात्र या प्रज्ञप्ति मात्र हैं।

विप्रतिपत्तिनिरास

ज्ञात है कि वैभाषिक दार्शनिक तीनों कालों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। फलतः वे सौत्रान्तिकों पर अनेक प्रकार के आक्षेप करते हैं। सौत्रान्तिक उन आक्षेपों का अपनी दृष्टि से परिहार करते हैं। इन दोनों प्रस्थानों के ये आक्षेप परिहार दिलचस्प हो सकते हैं, अतः उनका यहाँ संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

१. वैभाषिक

अतीत और अनागत का अस्तित्व है, इसीलिए श्रुतवान् आर्यश्रावक अतीत रूप आदि के प्रति निरपेक्ष होता है। अनागत रूप आदि का अभिनन्दन नहीं करता तथा प्रत्युत्पन्न रूप आदि के निरोध के लिए प्रतिपन्न होता है। यदि ऐसा न होगा तो वैराग्य का अभ्यास सम्भव न हो सकेगा। अपनी इस बात के समर्थन में वे बुद्धवचन प्रस्तुत करते हैं, तथा हि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अतीतं चेद् भिक्षवो रूपं नाभविष्यत्, न श्रुतवान् आर्यश्रावकोऽतीते रूपेऽनपेक्षोऽभविष्यत्। यस्मात्तर्हि अस्त्यतीतं रूपं तस्मात् श्रुतवानार्यश्रावकोऽतीते रूपेऽनपेक्षो भवति। अनागतं चेद् रूपं नाभविष्यत् न श्रुतवानार्यश्रावकोऽनागतं रूपं नाभिनन्दिष्यत[१]"। यस्मात्तर्हि अस्त्यनागतं रूपम्, तस्मात् श्रुतवानार्यश्रावको ऽनागतं रूप नाभिनन्दिष्यति"[१]।

सौत्रान्तिक

आप इस बुद्धवचन से जो अतीत, अनागत की सत्ता सिद्ध करना चाहते हैं, यह कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि आप बुद्ध के अभिप्राय को समझते ही नहीं हैं। भगवान् बुद्ध इस वचन से केवल हेतु का पहले होना और बाद में फल का अवश्य होना मात्र दिखलाना चाहते हैं। इस वचन के द्वारा भगवान् उन लोगों की मिथ्या दृष्टि का निवारण करना चाहते हैं, जो हेतु और फल का अपवाद करते हैं।

२. वैभाषिक

सूत्र में कहा गया है कि दो की अपेक्षा से विज्ञान का उत्पाद होता है, जैसे चक्षु और रूप की अपेक्षा से चक्षुर्विज्ञान का उत्पाद होता है। इसी तरह मन इन्द्रिय और धर्म की अपेक्षा से मनोविज्ञान का उत्पाद होता है। यदि अतीत, अनागत रूप आदि न होंगे तो उनको आलम्बन बनाकर दो (मन और धर्म) की अपेक्षा से मनोविज्ञान का उत्पाद न हो सकेगा। अत: अतीत, अनागत रूप आदि हैं।

सौत्रान्तिक

आपने अतीत, अनागत रूप आदि की सिद्धि के लिए 'द्वयं प्रतीत्य विज्ञानस्योत्पाद:' इस भगवद् वचन को जो प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है, उससे भी आपके मनोरथ की सिद्धि न हो सकेगी।

पहले यह विचारणीय है कि अतीत, अनागत रूप आदि मनोविज्ञान के जनक-प्रत्यय हैं अथवा आलम्बन-प्रत्यय हैं? यदि वे जनक-प्रत्यय हैं तो क्यों वे मनोविज्ञान को सैकड़ों हजारों वर्षों के अनन्तर उत्पन्न करेंगे? क्यों नहीं इसी समय तत्काल उत्पन्न करते? इसका आपके पास क्या जबाब है? यदि अतीत, अनागत रूप आदि आलम्बन मात्र है तो हमारा इससे कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अतीत, अनागत का आलम्बन मात्र हमें मान्य है।

---

१. द्र.-अभिधर्मकोशभाष्य, पृ. ८०४ (बौद्धभारती-संस्करण)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न है यदि अतीत, अनागत रूप आदि नहीं ही हैं तो वे आलम्बनमात्र भी कैसे हो सकेंगे?

यह सही है, यद्यपि वे वर्तमान की तरह तो गृहीत नहीं होंगे, किन्तु कल्पना, स्मृति आदि के वे आलम्बन होंगे। 'पहले यह था, बाद में यह होगा' इत्यादि के रूप में वे स्मृति और कल्पना के आलम्बन होंगे।

३. वैभाषिक

भगवान् ने अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न इन तीनों कालों के रूपों को एकत्र संगृहीत कर 'यह रूपस्कन्ध है' ऐसा कहा है। यदि अतीत, अनागत रूपों की सत्ता न मानी जाएगी तो सूत्रविरोध होगा?

सौत्रान्तिक—मिथ्या संज्ञा और मिथ्या विकल्पों का अनुवर्तन कर भगवान् ने वैसा कहा है, न कि उनकी द्रव्यतः सत्ता का अनुवर्तन कर वैसा कहा है। रूप का लक्षण है—प्रतिघात करना। अतीत और अनागत रूपों में वह लक्षण ही घटित नहीं होता, अतः वे रूप कैसे हो सकते हैं। अतीत और अनागत रूपों की जब सत्ता ही सिद्ध नहीं है तो वे अनित्य भी कैसे हो सकते हैं। इसलिए भगवद्-वचन के अभिप्राय का अन्वेषण करना चाहिए।

४. वैभाषिक

विज्ञेय के होने पर ही विज्ञान का उत्पाद होता है। अतः विज्ञानों के विषय को अवश्य सत् होना चाहिए। यदि अतीत और अनागत विषय न होंगे तो उनको आलम्बन बनाकर मनोविज्ञान का उत्पाद ही नहीं हो सकेगा। किन्तु अतीत, अनागत को विषय बनाने वाला मनोविज्ञान होता है। अतः अतीत, अनागत की सत्ता सिद्ध है?

सौत्रान्तिक—यह कोई नियम नहीं है कि विज्ञान के विषय को अवश्य सत् होना चाहिए। असत् (अविद्यमान) को भी आलम्बन बनाकर विज्ञान का उत्पाद देखा जाता है। मद से मत्त पुरुष अविद्यमान वस्तु को भी विद्यमान की तरह देखते हैं। स्वप्न में भी असत् को आलम्बन बनाकर विज्ञान उत्पन्न होते हुए देखा जाता है। पुनश्च, यदि अतीत एवं अनागत होंगे तो वे अवश्य निर्हेतुक और नित्य होंगे और ऐसा होना सम्भव नहीं है। अतः अतीत और अनागत नहीं ही होते, अपि च, भाव और अभाव दोनों विज्ञान के विषय होते हैं। भाव वर्तमान अवस्था में तथा अभाव अतीत और अनागत अवस्था में विज्ञान के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय होते हैं। यदि विज्ञान के विषय सर्वदा सत् ही हों तो इस विचार के लिए कोई अवसर ही नहीं रहेगा कि 'यह धर्म सत् है या असत्'। अतः अतीत और अनागत असत् ही है।

५. वैभाषिक

अतीत कुशल और अकुशल कर्म होते हैं, क्योंकि भविष्य में उनका इष्ट-अनिष्ट फल देखा जाता है। जब फल की उत्पत्ति होती है, उस काल में कर्म प्रत्युत्पन्न तो होता नहीं, यदि अतीत की भी सत्ता न मानी जाएगी तो कर्म-कर्मफल की सारी व्यवस्था ही टूट जाएगी। अतः अतीत की सत्ता अवश्य माननी चाहिए।

सौत्रान्तिक—हम अतीत कर्म, जो निरुद्ध हो चुका है, उस से भविष्य में फल की उत्पत्ति नहीं मानते तथा कर्म-कर्मफल व्यवस्था का अपवाद (निषेध) भी नहीं करते। हम तो कर्म, जो कि चेतना है, उसका सन्तति के रूप में ऐसा परिणमन होना स्वीकार करते हैं, जिससे भविष्य में फल की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार अतीत और निरुद्ध बीज से फल की उत्पत्ति नहीं होती, अपि तु बीज की सन्तति चलती रहती है, उसमें क्रमशः अङ्कुर, पत्र, काण्ड (तना) आदि परिणमित होते रहते हैं और अन्त में फल का उत्पाद होता है। प्रारम्भ में बीज ने जो फलोत्पाद का सामर्थ्य निहित किया था, उसी से परम्परया फल का उत्पाद होता है, उसी प्रकार कर्म द्वारा स्थापित सामर्थ्य के वश से परम्परया फल की उत्पत्ति होती है। ऐसा बिलकुल नहीं है कि फल की उत्पत्ति होने तक अतीत कर्म कहीं अलग विद्यमान रहता हो। वह तो अपने अनन्तरवर्ती चित्त में सामर्थ्य पैदा कर निरुद्ध हो जाता है। इस तरह परम्परया उससे फल की उत्पत्ति होती है। फलतः अतीत और अनागत द्रव्यतः सत् नहीं हैं।

६. वैभाषिक

भगवान् बुद्ध और समाहित आर्य पुद्गलों को अतीत और अनागत का प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट अवबोध होता है, अतः अतीत, अनागत की सत्ता है?

सौत्रान्तिक—प्रतीत्यसमुत्पाद के सम्यग् ज्ञाता होने के कारण भगवान् बुद्ध और समाहित आर्य पुद्गलों को हेतु और फल का अभ्रान्त और स्पष्ट ज्ञान होता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अतीत और अनागत धर्मों की द्रव्यसत्ता होने के कारण वे उनका साक्षात्कार करते हैं। समाधि के बल से और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्यज्ञान के बल से वे अविद्यमान भी अतीत, अनागत का उसी प्रकार व्याख्यान करते हैं, जिस प्रकार अतीत और निरुद्ध धर्म स्मृति के बल से जाने जाते हैं। स्मृति का विषय सत् नहीं होता-इसे तो सभी बौद्ध स्वीकार करते हैं।

७. वैभाषिक

यदि अनागत की सत्ता न होगी तो योगियों का प्रणिधिज्ञान यथार्थ न हो सकेगा। अनागत काल में प्राप्त होनेवाले काय, क्षेत्र, परिवार, गुण आदि योगियों के प्रणिधान के विषय होते हैं। अविद्यमान बन्ध्यापुत्र आदि का तो कोई प्रणिधान नहीं करता? इसलिए अनागत अवश्य सिद्ध है।

सौत्रान्तिक—योगियों के प्रणिधान के वश से भी अनागत की सिद्धि सम्भव नहीं है। उत्पाद से पहले अनागत वस्तु स्वरूपतः विद्यमान नहीं हो सकती। यदि अविद्यमान का भी योगियों को प्रत्यक्ष होगा, तो वन्ध्यापुत्र आदि भी उनके प्रत्यक्ष के विषय होने लगेंगे, क्योंकि दोनों का स्वरूपतः असत् होना समान ही है। उनमें से एक का प्रत्यक्ष हो और दूसरे का नहीं, इसमें क्या युक्ति है? अतः अनागत का सद्भाव सिद्ध नहीं है।

८. वैभाषिक

यदि अनागत का अस्तित्व न माना जाएगा तो हेतु-प्रत्ययों से वर्तमान का जन्म न हो सकेगा। यदि अनागत अङ्कुर न हो तो कैसे वह बीज से पैदा होगा? यदि अङ्कुर बीज से सर्वथा असम्बद्ध हो तो उसे अग्नि इन्धन आदि से भी पैदा हो जाना चाहिए। जो पदार्थ सर्वथा असत् होता है, उसका पहले या पीछे कभी भी उत्पाद सम्भव नहीं है। अन्यथा आपको वन्ध्यापुत्र का भी जन्म मानना पड़ेगा। अतः अनागत का अस्तित्व सिद्ध है।

सौत्रान्तिक—यदि अनागत का अस्तित्व माना जाएगा तो फिर उसका पुनः उत्पाद व्यर्थ होगा। विद्यमान के पुनः उत्पाद का कोई प्रयोजन भी नहीं है। यदि विद्यमान का भी उत्पाद माना जाएगा तो हमेशा उत्पाद होते रहने का प्रसङ्ग होगा। यदि अनागत में धर्म विद्यमान है तो यह जगत् पुरुषार्थशून्य और निर्हेतुक हो जाएगा, किन्तु जगत् ऐसा नहीं है। पुरुषकार के अभाव में जागतिक प्रतीत्यसमुत्पाद का भी अभाव हो जाएगा। फलतः समस्त जगत् खरविषाण की भाँति तुच्छ हो जाएगा। फलतः अनागत का अस्तित्व नहीं मानना ही न्यायसङ्गत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

यदि वस्तुओं का तीनों कालों में सद्भाव माना जाएगा तो उनकी उत्पत्ति एवं विनाश सम्भव न होगा, अर्थात् वे नित्य होंगे। जो रूप, वेदना आदि धर्म वर्तमान हैं, उन्हीं में अर्थक्रियाकारित्व देखा जाता है। वर्तमान रूप में ही रूप का लक्षण याने प्रतिघात करना विद्यमान होता है। इसलिए वर्तमान की ही सत्ता है। जो धर्म अर्थक्रिया से शून्य है, उसकी स्वलक्षण सत्ता मानी नहीं जा सकती। अतीत अग्नि जलाने की अर्थक्रिया नहीं करती, अतः वह वस्तुतः अग्नि नहीं है। इसी तरह जल, घट आदि अन्य धर्मों के बारे में भी जानना चाहिए। यदि अतीत, अनागत धर्म अर्थक्रिया से युक्त होंगे तो वे वर्तमान ही हो जाएंगे। सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। जो प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं हैं अर्थात् निर्हेतुक हैं, उनकी सत्ता मानी नहीं जा सकती। यदि अनागत की सत्ता मानी जाएगी तो कुम्भकार की घट निर्माण की चेष्टा व्यर्थ होगी। संस्कृत धर्मों के सभी लक्षण वर्तमान में ही घटित होते हैं, अतः केवल वर्तमान ही सत् है।

वर्तमान के आश्रय से अतीत, अनागत की प्रज्ञप्ति होती है, अतः उनकी प्रज्ञप्ति सत्ता है। पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण होता है। इसलिए भ्रान्ति से अतीत की सत्ता प्रतीत होती है। यही स्थिति अनागत की भी है। काल नामक पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। संस्कृत धर्मों की द्रव्यसत्ता कालिक दृष्टि से नहीं है। संस्कृत धर्मों के उत्पाद, स्थिति भङ्ग की अवस्थाओं में ही काल प्रज्ञप्त होता है। कुछ प्रज्ञप्तिसत् धर्म चित्तविप्रयुक्त संस्कारों में गृहीत होते हैं। फलतः वे संस्कार-स्कन्ध, धर्मायतन और धर्मधातु में संगृहीत होते हैं। काल भी एक धर्मायतन और धर्मधातु में संगृहीत होते हैं। काल भी एक प्रज्ञप्तिसत् धर्म है।काल संस्कृत का पर्यायवाची है। क्षण, लव, मुहूर्त्त, दिवस, रात्रि, आदि उसके व्यावहारिक भेद हैं। वर्तमान ही वस्तुसत् है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्धधर्म में मानवतावादी विचार : एक अनुशीलन

प्रो. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा
आचार्य एवं अध्यक्ष,
पालि एवं थेरवाद विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भगवान् बुद्ध ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया उसे बौद्धधर्म कहते हैं। महाकारुणिक भगवान् बुद्ध ने प्राणियों को करुणाचक्षु से देखा और उनके कल्याण के लिए मार्ग का निर्देश किया। उस मार्ग को मध्यममार्ग कहा जाता है। मध्यम मार्ग विशुद्धि का मार्ग है, दुःखनिरोध का मार्ग है। यह आठ अङ्गों से समुपेत है। वे हैं सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न), सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि। इन मार्गों के सम्यक् आचरण से मानव परमोत्कर्ष को प्राप्त कर सकता है तथा मानवता के गुणों से विभूषित हो सकता है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि 'दर्शन की विशुद्धि के लिए यही एकमात्र मार्ग है, तुम इसी मार्ग पर चलो, यह मार को भी मोहित करने वाला मार्ग है[१]। यह मार्ग शील, समाधि एवं प्रज्ञा इन तीन अङ्गों से युक्त है। शील (सदाचार) के समादान से मनुष्य मानवता के गुणों से समलंकृत हो जाता है। शीलवान् मनुष्य समादर का पात्र होता है और स्व-पर कल्याण से समुपेत होता है। स्वर्णालंकारों से सुसज्जित एक राजा की उतनी शोभा नहीं होती जितनी शोभा शीलालंकार से सुशोभित एक यति (भिक्षु) की होती है[२]। यह धर्म आचरण की शुद्धता को सर्वोच्च आदर्श स्वीकार करता है। आचारवान् मनुष्य समाज के द्वारा पूजित एवं सत्कृत होता है, तथा मानवता के गुणों से समलंकृत हो मानवमात्र का हित, सुख और कल्याण करता हुआ शान्तपद का अधिकारी हो जाता है। यह धर्म सभी अकुशल कर्मों का

---

१. एसोव मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं।। (ध.प. गा.सं. २९४)

२. सोभन्तेवं न राजानो मुत्तामणिविभूसिता।
यथा सोभन्ति यतिनो सीलभूसनभूसिता।। (वि.म., पृ. ११)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग, सम्पूर्ण कुशल कर्मों का संचयन और चित्त की निर्मलता के द्वारा मानव को सर्वदा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करता है[१]। यह धर्म, मैत्री, करुणा, शान्ति, सद्भाव एवं समानता का सन्देश देता है। त्याग, प्रेम, ब्रह्मचर्य, सत्यवादिता आदि गुणों से युक्त मनुष्य सर्वहित और सर्वसुख प्रदान करने के लिए यत्नवान् रहता है।

मानवीय गुणों के समुच्चय को मानवता कहते हैं तथा उसके 'वाद' अथवा 'सिद्धान्त' को मानवतावाद। मानवता एक विशिष्ट पद्धति, विचारविधि अथवा क्रिया है, जिसमें मानव मात्र के जीवनमूल्यों, हितों तथा गरिमा, महिमा आदि की विचारणा नैतिक कर्त्तव्यों के सन्दर्भ में की जाती है। मानव चिन्तनशील प्राणी है, मननशील है, विवेकी है, अतः जिसके चिन्तन में निर्वैरता, उदारता, आत्मोपमता, सदाशयता, परोपकारिता, सहिष्णुता, सुमनस्कता, क्षमाशीलता, दयालुता आदि की परमोदात्त भावनाएँ समाहित हैं, वही मानव है और वही मानवता के गुणधर्मों से अनुप्राणित है। बौद्धधर्म में इन गुणों की चर्चा सर्वत्र पायी जाती है। मानवता का मूल निर्वैरता है। आत्मोपमता की भावना के विद्यमान होने पर ही निर्वैरता जन्म लेती है। दूसरों के साथ प्रेम एवं मैत्री भावना से वैर विरोध उपशमित हो जाते हैं। क्योंकि वैर से वैर शान्त नहीं होता वरन् अवैर से वैर शान्त होता है, यह सनातन नियम है[२]। अतः प्रेम, सहानुभूति एवं मैत्री की भावना मानवता के परिचायक हैं। निर्वैर वही है जो सभी प्राणियों को आत्मवत् समझकर मैत्रीभावना से अनुप्राणित है। त्रिपिटक में यह धारणा सर्वत्र व्यक्त की गई है कि 'दूसरों पर विजय की आकांक्षा शत्रुता को जन्म देती है'।

युद्ध, संघर्ष और हिंसा से कोई समस्या नहीं सुलझती वरन् इससे भय, संत्रास एवं प्रतिरोध की भावना उत्पन्न होती है। द्वेष के कारण ही प्रतिहिंसा की भावना जन्म लेती है। अतः द्वेष को दूर करने के लिए मैत्री भावना का अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि विजय घृणा एवं वैर को जन्म देता है तथा पराजित दुःखी होता है; इसलिए उपशान्त मनुष्य जय, पराजय को छोड़कर शान्त रहता है—

---

१. सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धानसासनं ।। (ध.प.)

२. नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीधकुदाचनं ।
अवेरेन हि सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ।। (ध.प.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो ।
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं[१] ।।

निर्वैरता से ही स्वस्थ एवं विप्रसन्न समाज की परिकल्पना की जा सकती है। वैरभाव के विद्यमान रहने से मानव मन उद्विग्न,उपद्रुत तथा क्रोधपर्याकुल बना रहता है। अत: निर्वैरता, मित्रता, अविहिंसता, सर्वभूतहितैषिता आदि दिव्यभावना मानवता के पोषक तत्त्व हैं। इन दिव्यगुणों से युक्त मनुष्य सबका कल्याण के लिए तत्पर रहता है। त्रिपिटक में क्रोध को अक्रोध से, असाधुता को साधुता से, दान से कृपणता को तथा सत्य से असत्य को जीतने की देशना दी गई है[२]। अत: अक्रोध, साधुता, सरलता, त्याग एवं सत्यवादिता मानवता के प्रकर्ष गुण हैं।

अहिंसा ही आर्य का लक्षण है। "अहिंसा सब्बपाणानं अरियो ति पवुच्चति[३]"। आत्मोपमता ही उसका साधन है। किसी को भयभीत नहीं करना चाहिए, किसी भी प्राणी को दु:खी नहीं बनाना चाहिए, किसी को सताना नहीं चाहिए—यही अहिंसा है। काय, मन एवं वचन से किसी भी जीव को कष्ट नहीं देना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार दु:ख मुझे प्रिय नहीं है उसी प्रकार किसी भी प्राणी को दु:ख प्रिय नहीं है, ऐसा सोचकर न किसी को मारना चाहिए न किसी को सताना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

'सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ।।
यो पाणमतिपातेति मुसावादं च भासति ।
लोके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति ।।
सुरामेरयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति ।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खणति अत्तनो[४] ।।

---

१. धम्मपद-गा.सं. २०१।

२. अक्कोधेन जिने कोधं, असाधु साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालीकवादिनं ।। (ध.प. २२३)

३. ध.प., गा. २७०।

४. ध.प.,गाथा-सं. २४६,२४७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो हिंसा करता है, मृषावादी है, विना दिये ले लेता है, परस्त्री पर बुरी नजर रखता है, मादक द्रव्यों का सेवन करता है वह मनुष्य इसी लोक में अपनी जड़ को स्वयं काट देता है। अतः अहिंसा, सत्यवादिता, त्याग एवं ब्रह्मचर्य मनुष्य का अलंकार है, इनसे युक्त मनुष्य मानवता के गुणों से युक्त समझा जाता है। अहिंसा न केवल हिंसा तथा परपीड़न की वर्जना है, अपि तु शान्ति, मैत्री, मुदिता एवं सहानुभूति की भावना है।

भगवान् बुद्ध ने शील की शिक्षा दी है। सुन्दर आचरण ही शील है। सदाचरण एवं सुमानसिकता मानवता के परमोत्कर्ष गुण हैं। शील की सर्वश्रेष्ठ गन्ध दिग्दिगन्त को सुरभित करती है[१]।

चन्दनं तगरं वापि, उप्पलं अथवस्सिकी ।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो ।।
अप्पमत्तो अयं गन्धो यायं तगरचन्दनी ।
यो च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो[२] ।।

जो शीलसम्पन्न, अप्रमादविहारी तथा प्रज्ञायुक्त है उनके मार्ग को पाना मार के लिए भी कठिन है[३]।

सत्संगति मानव के अभ्युदय का मूल है। भगवान् बुद्ध ने सज्जनों की संगति में रहने की प्रेरणा दी है। उन्होंने कहा है कि विचरण करते यदि अपने से श्रेष्ठ अथवा अपने समान व्यक्ति को न पायें, तो दृढ़ता के साथ अकेला ही विचरण करें, मूर्खों की सहायता न लें—

चरञ्चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो ।
एकञ्चरिय दलहं कयिरा, नत्थि बाले सहायता[४] ।।

शीलविपन्न (दुःशील) और एकाग्रतारहित (असमाहित) के सौ वर्ष जीने से शीलवान् और ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स तायिनो[५] ।।

---

१. ध.प., गाथा-सं. ५४;
२. ध.प., गाथा-सं. ५५,५६।
३. तेसं संपन्नसीलानं अप्पमादविहारिनं ।
सम्मदञ्ञाविमुत्तानं, मारो मग्गं नं विन्दति ।।
४. ध.प., गाथा-सं. ६१;
५. ध.प., गाथा-सं. ११०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम्' के अनुसार सत्संगति जीवन को परमोदात्त बनाती है। धम्मपद में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि साथ चलने वाला कोई ज्ञानी अथवा अनुभवी साथी न मिले तो जैसे पराजित राजा विजित राष्ट्र को छोड़कर अकेला ही अरण्य में धूमता है, वैसे ही अकेला विचरण करें।

'नो ते लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारी धीरं ।
राजाव रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातङ्गरञ्ञेव नागो[१] ।।

भगवान् बुद्ध ने कर्म एवं कर्मफल के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। मनुष्य अपने कर्मों का दायाद है, कर्मयोनि, कर्म प्रतिशरण है। कर्म से ही मनुष्य प्रणीत अथवा हीन हो सकता है। मनुष्य कर्म से उसी प्रकार बँधा है, जैसे रथचक्र अरों से बँधा रहता है।

कम्मनिबन्धना सत्ता रथस्साणीव जायतो[२] ।

अत: पुण्यकर्मों का संचय और पापकर्मों का परिहार वांछनीय है। ''सभी पापों का न करना, कायिक, वाचसिक तथा मानसिक पापों से सर्वथा विरत रहना, सभी कुशल एवं अनवद्य कर्मों का सम्पादन करना तथा अपने चित्त को विशोधन करते रहना'' यही बुद्धशासन है।

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानसासनं[३] ।।

सहनशीलता और क्षमाशीलता परम तप है—''खन्ती परमं तपोतितिक्खा'' बौद्धधर्म आचरण की शुद्धता पर बल देता है। लोभ, द्वेष, मोहादि अकुशल कर्मों के त्याग से मनुष्य का मन निर्मल हो जाता है। इस निर्मल मन से किये गये कुशल कर्मों से आचार की शुद्धता इष्ट है, अत: सत्य, धार्मिक आचरण धैर्य एवं त्याग का अनुशरण करने वाला मनुष्य शोक नहीं करता।

---

१. ध.प. गाथा, सं. ३२९।
साधुदस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेनबालानं निच्चमेव सुखी सिया।।
बालसंगतिचारी च दीघमद्धानसोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेव सब्बदा।। ध.प. २०६,२०७।

२. म.नि. ३;२८०

३. खु. १;३६८, अ.सा. पृ. १६४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्सेते चतुरो धम्मा, सद्धस्स घरमेसिनो ।
सच्चं धम्मोधिति चागो स वे पेच्च न सोचति[१] ।।

सार को सार समझना, असार को असार, धर्माचरण करना, प्रमाद से विरत रहना, सतत जागरूक एवं कृतोद्योग रहना, सत्कर्मों में श्रद्धा रखना, क्षमाशीलता को आयत्त करना तथा शुद्धजीवी होना ही नैतिकता है और यही मानवता के महान् गुण हैं। भगवान् बुद्ध की देशना है कि दूसरों की निन्दा और दूसरों का घात न करें 'अनूपवादो अनूपघातो'। शील, समाधि और प्रज्ञासमुपेत होने पर ही मनुष्य प्रशंस्य होता है।

आत्मदमन परदमन की अपेक्षा श्रेयस्कर है। दान्त मनुष्यों में वही श्रेष्ठ है, जो दूसरों के वाग्बाणों को सहता है—

"दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु योतिवाक्यं तितिखति"। मनुष्य दूसरों को जैसा उपदेश करता है, वैसा उसे स्वयं करना चाहिए—"अत्तना चे तथा कयिरा यथञ्ञमनुसासति"। दूसरों के विरोधी बातों पर न तो ध्यान दें और न दूसरों के कृताकृत का अवलोकन करें वरन् अपने ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य को देखें।

न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं ।
अत्तनो व अवेक्खेय्य, कतानि अकतानि च[२] ।।

जीवन की परमोत्कर्षता के लिए चित्त प्रणिधान आवश्यक है। चित्त चपल, चञ्चल, दु:रक्ष्य एवं दुर्निवार्य है। ऐसे चित्त को वश में करना कठिन है, परन्तु निष्ठावान् मनुष्य को तो मन पर विजय पाना अत्यावश्यक है। आत्मविजय मानवता को दृढ़ बनाता है। चित्त विशोधन की प्रक्रिया में शरीर और जगत् की नश्वरता, क्षणभङ्गुरता, जागरूकता, सुविशुद्ध ब्रह्मचर्य का आचरण आदि का सर्वोपरि स्थान है। प्रज्ञाप्रवण एवं ध्यानपरायण साधक निर्वाण के समीप होता है—"यम्हि झानं च पञ्ञा च, स वे निब्बान सन्तिके"[३]।

वीततृष्ण होना मानवता का गुण है। तृष्णा मानव का महान् शत्रु है। तृष्णा के कारण भय एवं शोक होता है, किन्तु जो तृष्णा से मुक्त है उसे शोक और भय नहीं होता—

---

१. ध.प., १८३; २. सु.नि., पृ. ४६।
३. फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो व तेजनं।। (ध.प., गाथा ३३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तण्हाय जायते सोको तण्हाय जायते भयं ।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतोभयं[१] ।।

अनित्य और दुःखबहुल शरीर की निस्सारता का बोध जब मनुष्य को हो जाता है, तब वह सदा जागरूक एवं कृतोद्योग बनता है। जागरूकता से अप्रमाद सुदृढ़ होता है। यही कारण है कि अप्रमाद को अमृतपद कहा गया है[२]।

मनुष्य को धन सञ्चय की लालसा पर विजय पाना चाहिए और भोजन में मात्रज्ञ होना चाहिए। जो इस प्रकार के आचरण से युक्त होता है वह आकाशचारी पक्षी की तरह संसार में स्वच्छन्द विहार करता है। उसकी गति दुरन्वया होती है—

येसं सन्निचयो नत्थि ये परिञ्ञातभोजना ।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।।
आकासे व सकुन्तानं गति तेसं दुरन्नया[३] ।।

आत्मविजय को मानवता का महान् गुण बतलाया गया है। वही सबसे बड़ा योद्धा है, जो आत्मजेता है। युद्ध क्षेत्र में सहस्त्रों मनुष्यों को जीतने से श्रेष्ठ अपने को जीतने वाला है—

यो सहस्सं सहस्सेन संगामेमानुसेजिने ।
एकं व जेय्यमत्तानं स वे संगामजुत्तमो[४] ।।

मानवता के विकास के लिए संतोष का होना अपरिहार्य है। शरीर को रोगमुक्त रखते हुए संतोषरूपी धन को बढ़ाना चाहिए और विश्वास को ज्ञाति के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए।

आरोग्य परमालाभा सन्तुट्ठिपरमं धनं ।
विस्सासपरमा ञाति निब्बानं परमं सुखं[५] ।।

---

१. ध.प. गाथा, २१६।
२. अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीय्यन्ति ये पमत्ता यथा मता।। ध.प.गा. २१।
३. ध.प. गाथा ९२, अं.नि. १ पृ. ८६।
४. ध.प. गाथा १०४। ५. ध.प. गाथा २०४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् आरोग्य परमलाभ है, संतोष परम धन है, विश्वास परम ज्ञाति है, तथा निर्वाण परम सुख है।

बौद्धधर्म में मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा भावना को ब्रह्मविहार कहा जाता है। ब्रह्मविहार श्रेष्ठ विहार को कहते हैं। ये चार ब्रह्मविहार मानवता के उत्कर्ष हैं। सभी प्राणियों के प्रति मैत्री का व्यवहार, सभी प्राणियों के दुःखों को दूर करने की उत्कृष्ट अभिलाषा, सभी प्राणियों के सुख एवं कल्याण के प्रति प्रसन्नता की भावना तथा सभी स्थितियों में समानभाव रखना ही ब्रह्मविहार है। मनुष्य इन गुणों से समुपेत हो परमोज्ज्वलता को प्राप्त कर सकता है, तथा समाज में मैत्री और समानता स्थापित हो सकती है। सभी प्राणियों के प्रति प्रेम, सद्भाव परोपकार एवं समता की अनवद्य भावना से मानवता का चतुरस्र प्रसार सम्भव है।

●

पविवेकरसं पीत्वा रसं उपसमस्स च ।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिव ।।

एकान्त चिन्तन तथा शान्ति के रस को पीकर धर्म के प्रेम-रस का पान करता हुआ पीड़ा से रहित तथा निष्पाप हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधर्म और माध्यमिक

प्रो. थुबतन छोगडुब

अध्यक्ष, बौद्धदर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सामान्यतया पिटक के दो वर्ग है—हीनयानी पिटक और महायानी पिटक। उसी प्रकार अभिधर्म भी दो भागों में विभक्त है। दोनों यानों के पिटकों विशेषत: अभिधर्म पिटकों के विषय तथा शब्दावली में बड़ा अन्तर है। पिटकों के स्वरूप यथारूप से समझने के लिए उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अत: सर्वप्रथम इनके ऐतिहासिक तथ्यों पर संक्षेप में विचार करना अनुचित नहीं होगा।

१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यद्यपि दोनों यानों के पिटकों के प्रादुर्भाव के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं, तथापि प्रमाणित इतिहास तथा खोज के अनुसार हीनयानी पिटक पहले हुए थे और महायानी पिटक उनके बाद हुए हैं।

(क) हीनयानी पिटकों का प्रादुर्भाव

हीनयान की अनेक शाखाएं थी, पर उनमें से स्थविरवाद की परम्परा सर्वाधिक सिंहलद्वीप में विकसित हुई। उस देश के विद्वानों ने अनेक इतिहास लिखे जिनमें से दीपवंश सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। उसमें लिखा है, कि भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तुरन्त बाद राजगृह में प्रथम संगीति हुई जिसमें सूत्र तथा विनय का संगायन किया गया। जब वैशाली में द्वितीय संगीति हुई, उस समय केवल विनय पिटक का संगायन किया गया।

स्पष्ट है कि विनय सम्बन्धी शिक्षा में परस्पर विरोध हो जाने के कारण द्वितीय संगीति हुई थी; अत: उस समय विनय सूत्रों पर मुख्य केन्द्रित किया गया। क्योंकि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात प्रातिमोक्ष-शिक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो गयी थी जिसके विषय में अज्ञान तथा विप्रतिपतियाँ उत्पन्न हो गई थी। उन्हें दूर करने के लिए विनय पिटक पर केन्द्रित होकर उनका संगायन किया गया।

बुद्ध के जीवन काल में उन्होंने अनेक विनय जनों को जो उपदेश दिए थे—जैसे चतुर-आर्यसत्य, पुद्गलनैरात्म्य, समाधियों आदि जो उनके विचार थे, जिनको सुन्दर उपमाओं के साथ प्रतिपादित किया था और जातक आदि कथा-सम्बन्धित उन सभी का सूत्र पिटक में संगायन किया गया।

तिब्बती शास्त्रों में भी कहा गया है कि बुद्ध ने अभिधर्म के उपदेश अलग से नहीं दिया, अपि तु यत्र-तत्र बिखरे रूप में उन्होंने जो कहा, उसको कालान्तर में सात अर्हतों ने संकलित किया है। इससे यह तथ्य सामने आता है कि अभिधर्म पिटक शुरु से नहीं था; अपितु बाद में क्रमशः अस्तित्व में आया है।

हीनयानियों का सबसे प्रचलित अभिधर्म कथा वस्तु है जिसकी रचना अशोक के काल में तिस्समोग्गलीपुत्र ने की थी। मोग्गलीपुत्र ने ही तृतीय संगीति की अध्यक्षता की तथा ईसापूर्व तृतीय शताब्दि में जीवित था। उन्होंने प्रश्न-उत्तर के रूप में कथावस्तु की रचना की है और अन्य सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके उनका खण्डन किया है। विशेषतः आत्मा है या नही? इस प्रश्न पर बौद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

यद्यपि यह शास्त्र ईशा पूर्व तृतीय शताब्दि का है; पर इसमें उन सिद्धान्तों का भी मत उल्लिखित है जो बहुत बाद में हुए थे। इस लिए कथा वस्तु में भी बाद के अंक संकलित हुए हैं। इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि कथा वस्तु के बाद अभिधर्म पिटक के साहित्य क्रमशः अस्तित्व में आए थे।

निकायों का विभाजन होकर अठारह तक हो गए थे। प्रारम्भ में वे विनय पिटक और विनय की शिक्षा के विषय में असहमत होने के कारण विभाजित हुए थे। परन्तु क्रमशः दार्शनिक दृष्टि से भी असहमत हो गए। उन सब के मत में त्रिपिटक और विशेषतः अभिधर्म पिटक की व्यवस्था हुई होगी; तथापि सर्वास्तिवाद तथा स्थविरवाद सबसे प्रधान तथा प्रसिद्ध है।

सर्वास्तिवाद के अनुसार अभिधर्म के सात ग्रन्थ है। यथा—ज्ञान प्रस्थान, प्रकरण, विज्ञानकाय, धर्मस्कन्ध, धातुकाय, प्रज्ञप्तशास्त्र और गतिपर्याय। गति पर्याय के बारे में थोड़ा सा विचार करना उचित होगा। संस्कृत में "संगीति पर्याय" लिखा है, परन्तु तिब्बती के अनुसार इसे गति पर्याय होना चाहिए। संस्कृत तथा भोट संस्करणों में से एक में गलती हुई होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन सात में से ज्ञान प्रस्थान की एक विस्तृत टीका थी जिसे महाविभाष्य कहते हैं। वही सर्वास्तिवाद-अभिधर्म का मूल आधार है। उसी के आधार पर आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश लिखा है जो वैभाषिक सौत्रान्तिक दोनों द्वारा मान्य अभिधर्म शास्त्र है। उक्त सात अभिधर्म आगमों को वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दोनों बुद्ध का वचन नहीं मानते हैं। कहा भी है कि :—

ज्ञान प्रस्थानम् कात्यायनेन प्रकरणम् वसुमित्रेण ।
विज्ञान-कायश्च देवशर्मेन धातुकायः पूर्णेन कृतः ।
धर्मस्कन्धः शारिपुत्रेण मौद्गल्यायेन प्रज्ञप्तशास्त्रम् ।।
गतिपर्याय महाकौष्ठिलेन।

यद्यपि ये अभिधर्म बुद्धवचन नहीं भी है तो भी वे अति प्राचीन काल के हैं। परन्तु आधुनिक इतिहासकार एवं अन्वेषक उक्त शास्त्रों को शारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन आदि की रचना नहीं मानते हैं? अपि तु अशोक कालीन कथावस्तु के बाद क्रमशः अस्तित्व में आए हैं। आधुनिक विज्ञान एवं नई तकनीक आदि के आधार पर इतिहास की खोज करने पर यह माना जाता है, कि जिस प्रकार मानव की बुद्धि का विकास हुआ, उसी के साथ-साथ अभिधर्म शास्त्रों का भी क्रमशः विकास हुआ तथा नए-नए शास्त्रों की रचना हुई। अतः ऐसा माना जाता है कि अभिधर्म शास्त्र में गिने जाने वाले समस्त शास्त्र किसी एक समय के न होकर भिन्न-भिन्न कालों में रचित हैं। तिब्बत में ऐसे तथ्यों पर परीक्षा करने की परम्परा नहीं है। सभी सूत्र बुद्धवचन मानकर उनकी व्याख्या की जाती है। आधुनिक इतिहासकार जिन जिन तथ्यों के आधार पर खोज करते हैं, तथा व्याख्या करते हैं, उनको समझना आवश्यक है। यदि उनका खण्डन भी करना चाहें तो पूर्वपक्ष अर्थात् उनके मत को ठीक से समझना चाहिए।

(ख) महायानी पिटकों का प्रादुर्भाव

हम सभी महायानी पिटकों को बुद्ध का वचन मानते हैं। परन्तु इतिहासकार इनको अशोक के बाद के मानते हैं। उतना ही नहीं उनका यह मानना है कि 'अशोक के बाद बौद्धों में मूर्त्ति की पूजा आदि करने की प्रथा हुई उससे पहले धर्मचक्र तथा पद्म आदि लाक्षणिक वस्तुओं तथा ग्रन्थों की पूजा होती थी। अशोक के बाद क्रमशः त्रिकाय, दश प्रज्ञापारमिता और अन्य महायानी सिद्धान्तों का विकास हुआ तथा विभिन्न महायानी पिटकों की रचना हुई।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महायानी पिटकों के विषय में न केवल आधुनिक काल में, अपि तु अर्वाचीन विद्वानों के मत भी भिन्न थे। यथा हीनयानी सिद्धान्त वादियों ने महायानी सूत्रों को बुद्धवचन नहीं माना। जिस प्रकार "सप्तामिधर्मग्रन्थ" के बुद्धरचना होने में या नहीं होने में विवाद हुआ; उसी प्रकार महायान सूत्रों के बारे में पहले से बाद-विवाद था। इसलिए महायानी आचार्यों ने महायान को बुद्धवचन सिद्ध किया है। आचार्य नागार्जुन ने कहा है कि धर्मों की निःस्वभावता न केवल महायान पिटकों में ही प्रदर्शित है, अपि तु हीनयान आगमों में भी प्रदिष्ट है। अतः महायानसूत्र बुद्धवचन सिद्ध होता है—

कात्यायनाववादे य अस्ति नास्ति चोभयम् ।
प्रतिषिद्धं भगवता भावाभाव विभाविना ।।

सूत्रालंकार का प्रथम परिच्छेद ही महायान सिद्ध करने के लिए लिखा है। हीनयानी कहते थे कि महायानसूत्र बुद्धवचन नहीं है, अपितु बाद में दूसरों ने बनाया है। इनके विषय तथा शब्दावली आदि सभी मूल बुद्ध वचनों से भिन्न हैं आदि। उनके कथनों के उत्तर में सूत्रालंकार में कहा है कि यदि महायान सूत्र बुद्धवचन न होकर किसी दूसरे ने कालान्तर में रचा है तो बुद्ध स्वयं इसके विषय में पहले से ही व्याकृत कर देते; परन्तु ऐसा व्याकृत नहीं किया गया। महायान सूत्र तथा हीनयान सूत्र एक ही साथ अस्तित्व में आए। महायान सूत्रों में निःस्वभावता की जो देशना है; वही क्लेशों का प्रतिपक्ष है। जिन सूत्रों को शब्दवत स्वीकार नहीं किया जा सकता; उनका अर्थ अन्यथा लेना है तथा वे नेयार्थ सूत्र हैं।

आदवव्याकरणात्समप्रवृत्तेरगोचरासिद्धेः ।
भावाभावेऽभावात्प्रतिपक्षत्वाद्भुतान्यत्वात् ।।

इत्यादि विस्तार पूर्वक है। भावविवेक ने मध्यमक हृदय तथा तर्क ज्वाला में महायानसूत्रों के बुद्धवचन होने के बारे में अतिविस्तृत तर्क प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने कहा है कि महायान सूत्रों का यद्यपि तीनों संगीतियों में संगायन नहीं किया है; तथापि उनका संगायन हुआ है। उनके संगायनकर्त्ता आर्य मञ्जुश्री आदि हैं। ये श्रावकों का गोचर ही नहीं है अतः उनका संगायन श्रावक नहीं कर सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य शान्तिदेव ने भी कहा है कि यदि महायान सूत्र बुद्धवचन नहीं है तो हीनयानी पिटक भी बुद्ध वचन नहीं हो सकते। जिस न्याय से श्रावकयान पिटक बुद्धवचन सिद्ध होता है उसी न्याय से महायान सूत्र भी बुद्धवचन सिद्ध होगा।

नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्तवदागमः ।
यस्मादुभयसिद्धोऽसौ न सिद्धोऽसौ तवादितः ।।
महाकाश्यपपमुख्यैश्च यद्वाक्यं नावग्राह्यते ।
तत्वयानवबुद्धत्वादग्राह्यं कः करिष्यति ।।

उन महायान आचार्यों ने यह सिद्ध किया कि महायान सूत्रों के विषय अतिगम्भीर एवं सूक्ष्म हैं और महाश्रावकों का गोचर नहीं हो पाया है। इनका विषय न्याय संगत है। अतः विषय का प्रतिपादन करने वाले सूत्र बुद्ध का वचन हैं।

परन्तु आधुनिक काल के धर्म और संस्कृति तथा साहित्य के इतिहासकारों का कहना है कि हीनयान तथा महायान दोनों के सभी सूत्र बुद्ध के जीवनकाल में प्रादुर्भूत नहीं हुए, पर ये सभी क्रमशः धीरे-धीरे रचे गए थे। मानवबुद्धि के विकास के क्रम के साथ जुड़े हुए हैं। यदि ऐसा हो तो यह सम्भव है कि तीनों पिटकों में से अभिधर्म पिटक बाद में हुआ और विशेषतः महायान के अभिधर्म पिटक और भी बाद में हुआ हो।

२. त्रिपिटक का स्वरूप या लक्षण

अधिशील शिक्षा जिसका साक्षात् तथा मुख्य विषय है वह पिटक विनय पिटक है। जिसका साक्षात् एवं मुख्य विषय अधिसमाधि शिक्षा है, वह सूत्रपिटक है। जिसका साक्षात् विषय तथा मुख्य विषय अधिप्रज्ञा शिक्षा है, वह अभिधर्म पिटक है। इसलिए प्रज्ञापारिमितासूत्र आदि वास्तविक अभिधर्म सूत्र हैं और उनकी सही व्याख्याकरने वाले शास्त्र वास्तविक अभिधर्म शास्त्र हैं। अभिधर्म पिटक का अर्थ ऐसा बिल्कुल नहीं है कि स्थविरवाद के अभिधर्म सूत्रों या अभिधर्म कोश आदि जिनके नाम में अभिधर्म उल्लिखित हैं, वे ही अभिधर्मपिटक है। यदि ऐसा मान लें तो बड़ी भूल होगी।

३. अभिधर्म पिटक का विषय

दोनों यानों के अभिधर्म पिटकों का मुख्य प्रतिपादित विषय अधिप्रज्ञा शिक्षा है, किन्तु विषय के विस्तार और गम्भीरता में बड़ा अन्तर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क) हीनयान अभिधर्म का विषय

अभिधर्म पिटक किसी भी यान का हो वह संसार से मुक्ति होने का उपाय या मार्ग प्रतिपादित करता है। उसमें मूलवस्तु उन आलम्बनों को कहते हैं; जिनका आलम्बन साधक करते हैं। उस आलम्बन के दो प्रकार हैं। यावत् आलम्बन तथा यथार्थ आलम्बन। स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, कारण तथा हेतु आदि यावत् विषय हैं। उन विषयों का आलम्बन करते हुए जिन मार्गों पर चलना है; वह मार्ग सम्भार मार्ग आदि पाँच मार्ग हैं। इन मार्गों की भावना करने पर जो फल प्राप्त होता है; उसमें सामान्य फल ध्यान समाहित आदि होते है तथा असाधारण फल निर्वाण या निरोध है। संसार से मुक्ति होने में संसार का मूल अविद्या का प्रहाण आवश्यक है। वह यावत् तथा यथार्थ ज्ञान या प्रज्ञा पर निर्भर है। अत: अधिप्रज्ञा शिक्षा ही अभिधर्म सूत्रादि का मुख्य विषय है।

(ख) महायान अभिधर्म पिटक का विषय

महायान अभिधर्म पिटक का विषय भी अधिप्रज्ञा शिक्षा है जैसा ऊपर बताया है। परन्तु प्रज्ञा का स्वरुप तथा प्रतिपादन करने की पद्धति बिल्कुल भिन्न है। प्रज्ञापारमितासूत्रों तथा मूलमाध्यमिक कारिका आदि महायान अभिधर्म आगमों द्वारा प्रतिपादित प्रज्ञा वह प्रज्ञा है जो प्रतीत्यसमुत्पाद तथा शून्यता को यथावत जानती है और जो विषय विषयी अद्वैत हैं। अभिधर्म आगम इस तथ्य को असंख्य युक्तियों द्वारा प्रतिपादित करते हैं।

क्योंकि संसार का असली मूल वह अविद्या है जो पुद्गल तथा धर्मों को स्वभावत: सत् समझती है। जब तक इसका उन्मूलन नहीं होता; संसार से मुक्ति नहीं होती। अत:असली प्रज्ञा शिक्षा वह है जो पुद्गल नैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य को साक्षात जानती है। उस प्रकार की प्रज्ञा को मुख्यरूप से प्रतिपादित करने वाले प्रज्ञापारमिता सूत्र असली अभिधर्म पिटक हैं और उनकी सही व्याख्या करने वाले माध्यमिक शास्त्र असली अभिधर्म शास्त्र हैं।

हीनयान अभिधर्म पिटक केवल सांस्कृतिक विषयों का प्रतिपादन करते हैं; पर महायान अभिधर्म पिटक दोनों सत्यों का यथावत प्रतिपादन करते हैं। इसलिए हम यह मानते हैं कि स्थविरवाद के अभिधर्मसूत्र सर्वास्तिवाद के सात अभिधर्म शास्त्र तथा उनकी व्याख्या महाविभाष्य आदि एक सीढ़ी की तरह है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो वास्तविक अधिप्रज्ञा अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद स्वरूप परमार्थ तक पहुँचने में सहायक है। इनके अध्ययन से ज्ञानवृद्धि होती है। तथा गम्भीर शून्यता की ओर साधक को अभिमुख करते हैं। परन्तु ऐसी प्रज्ञा इनका विषय नहीं है जो संसार के मूल अविद्या पर सीधा प्रहार करती है।

अतः प्रज्ञापारमितासूत्र तथा उन पर आधारित माध्यामिक शास्त्र ही वास्तव में अभिधर्म साहित्य है और उनमें प्रतिपादित प्रतीत्य समुत्पाद एवं निस्स्वभावता वास्तविक अभिधर्म का विषय है।

●

अनादिकालिको धातुः सर्वधर्म समाश्रयः ।
तस्मिन् सति गतिः सर्वा निर्वाणाधिगमोऽपिवा ।।

एक अनादिकालिक धातु है, जो समस्त धर्मों का आश्रय होती है। उसके होने पर ही सम्पूर्ण गतियाँ एवं निर्वाणप्राप्ति सम्भव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थेरवाद बौद्धदर्शन में निर्वाण की अवधारणा

डॉ. हर प्रसाद दीक्षित
वरिष्ठ प्राध्यापक,
पालि एवं थेरवाद विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

महामानव भगवान् बुद्ध का अवतरण इस भारत-भूमण्डल में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संसार के लिए एक आश्चर्यजनक घटना है। महात्मा बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म आज इतना प्रासंगिक हो गया है, कि बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय एवं विश्वव्यापी करुणा से ओतप्रोत इस धर्म से ही देव, मानव या प्राणी मात्र का मङ्गल सम्भव है। इस अद्‌भुत अनन्य मानव ने ही इस जगत् को अपने सर्वोच्च ज्ञान से प्रकाशित किया। और मनुष्य की सम्पूर्णता का आदर्श प्रस्तुत किया।

असीम करुणा, असीम अनुकम्पा से ओत-प्रोत इस महामानव ने अन्धकार से आच्छादित, आत्यन्तिक दुःख से दुःखित एवं दौर्मनस्य से दूषित प्राणी को प्रकाश-पुंज प्रदान कर, लोकोपकार के अनुपम मार्ग का प्रख्यापन किया। उन्होंने मिथ्याभ्रान्तियों से भ्रमित एवं अन्धविश्वासों की जड़ता से जटित सांसारिक प्राणी को अपने पराक्रम से मुक्त कराया। ऐसे महाप्रज्ञावान शास्ता से एक बार मगधमहामात्य वर्षकार ब्राह्मण के प्रश्न पूछने पर उन्होंने महाप्रज्ञावान एवं महापुरुष के सम्बन्ध में कहा था, कि उस व्यक्ति को ही महापुरुष कहा जाता है, यथा—

यो वेदि सब्बसत्तानं मच्चुपासा पमोचनं,
हितं देवमनुस्सानं ञायं धम्मं पकासयि;
यो वे दिस्वा च सुत्वा च पसीदन्ति बहू जना ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मग्गामग्गस्स कुसलो, कतकिच्चो अनासवो ।
बुद्धो अन्तिम सारीरो, महापञ्ञो महापुरिसो ति वुच्चति[१] ।।

अर्थात् जो जानकार हैं, जिन्होंने सब प्राणियों को मृत्यु-पाश से मुक्त करने वाले, देव-मनुष्यों के हितकर, ज्ञेय धर्म को प्रकाशित किया है, जिन्हें देखकर तथा जिनका उपदेश सुनकर बहुजन प्रसन्न होते हैं। जो मार्ग-अमार्ग के विषय में कुशल है, कृतकृत्य है, अनास्रव है, जो अन्तिम शरीरधारी बुद्ध है, ऐसे व्यक्ति को महाप्रज्ञावान् एवं महापुरुष कहा जाता है।

ऐसे प्रज्ञावान् महापुरुष के गम्भीर दर्शन अमृतोपम निर्वाण के वारे में विवेचन करने से पूर्व इनके द्वारा प्रवर्तित धर्मचक्र के सर्वप्रथम धर्मोपदेश चार आर्यसत्य एवं मध्यम मार्ग (अष्टाङ्ग मार्ग) के बारे में संक्षिप्त चर्चा करना प्रस्तुत निबन्ध में समीचीन होगा। क्योंकि चार आर्य सत्यों में जो 'दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपद' आर्यसत्य है, वही मध्यम मार्ग है। यह मध्यम मार्ग ही नेत्र खोल देने वाला, सही उपाय बताने वाला चित्तवृत्तियों के उपशम के लिए, अभिज्ञा और ज्ञान की प्राप्ति के लिए, तथा निर्वाण तक पहुँचने के लिए सर्वोत्तम मार्ग है[२]।

बौद्धधर्म में शील, समाधि, प्रज्ञा का यत्र तत्र सर्वत्र विवेचन किया गया है; क्योंकि मार्ग में आरूढ़ होने के लिए यही तीन मुख्य साधन हैं। अष्टाङ्गिक मार्ग में ये तीनों समाहित हैं। विना मध्यम मार्ग पर आरूढ़ हुए, व्यक्ति अपने जीवन में कभी शान्ति नहीं ला सकता, और न ही आचारसम्पन्न योगसम्पन्न एवं प्रज्ञा सम्पन्न हो सकता है। यह मार्ग हमें इन्द्रियविलास की रतता एवं आत्म-प्रपीड़न इन दोनों अतिवादों से बचाकर एक सुखी जीवन की प्राप्ति कराता है।

''एसो व मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया ।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ, मारस्सेतं पमोहनं[३] ।।''

यह 'निर्वाण' शब्द, नि + वान, इन दो शब्दों से बना है। यहां 'वान' शब्द 'तृष्णा' का द्योतक है, और 'नि' शब्द का अर्थ 'निस्सरण' है। अत: 'वानतो निक्खन्तं ति निब्बाणं' अर्थात् वान (तृष्णा) से निर्गत धर्म ही निर्वाण

---

१. अंगुत्तर निकाय, भाग ४, पृ. ४०।
२. चक्खुकरणी, ञाणकरणी, उपसमाय, अभिञ्ञाय, सम्बोधाय, निब्बाणाय संवत्तति। सच्चसंगहो।
३. धम्मपद २०।२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। चूंकि यह वान नामक तृष्णा जोड़ने वाला धर्म है, इसके द्वारा एक भव का दूसरे भव से योग होता है, 'विनति संसिब्बतीति वानं' अर्थात् जो सम्यक् रुप से सीता है, बुनता है, वह 'वान' है। इस प्रकार वान नामक तृष्णा का अन्त नहीं होता है, तथा तृष्णा का समूल उच्छेद किये बिना निर्वाण सम्भव नहीं है[१]।

महावग्ग में कहा गया है कि 'यदिदं सब्बसङ्खारसमथो सब्बूपधिपटि-निस्सग्गो तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बानं[२]'' अर्थात् सभी संस्कारों का प्रशमन, सभी क्लेशों का परित्याग, तृष्णा का क्षय, वैराग्य एवं दु:ख निरोध करने वाला निर्वाण है। निर्वाण की प्राप्ति से दु:ख का अशेष निरोध हो जाता है।

निर्वाण का अर्थ है 'शान्ति'। यथा दीपक तब तक जलता रहता है, जब तक उसमें बत्ती और तेल मौजूद रहता है, परन्तु उसके समाप्त होते ही दीपक स्वत: शान्त हो जाता है। उसी प्रकार तृष्णा आदि क्लेशों के शान्त हो जाने पर जब यह भौतिक जीवन अपने चरम-अवसान पर पहुँच जाता है, तो वह निर्वाण कहलाता है[३]। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि आसक्ति संसार का बन्धन है, वितर्क में उसकी गति है, तथा तृष्णा का त्याग ही निर्वाण है। यथा—

'नन्दी संयोजनो लोको, वितक्कस्स विचारणा।
तण्हाय विप्पहानेन निब्बाणं इति वुच्चति[४]।।

जिसकी प्राप्ति से सभी क्लेशों का क्षय हो जाये, उसे निर्वाण कहते हैं। यथा—

'यस्य चाधिगमा सब्बकिलेसानं खयो भवे।
निब्बानमिति निद्दिट्ठं निब्बानकुसलेन तं[५]।।

'मिलिन्दप्रश्न' में निर्वाण के सम्बन्ध में जब राजा 'मिलिन्द' भिक्षु 'नागसेन' से पूंछता है, कि 'भन्ते नागसेन, ''निरोधो निब्बानं''ति? अर्थात् निरोध हो जाना ही निर्वाण है। तो वे कहते हैं कि हां महाराज, निरोध हो जाना ही

---

१. अभिधम्मत्थ संगहो पृ. १२२।
२. महावग्ग १।८।
३. बौद्धदर्शन-बलदेव उपा.।
४. उदान।
५. अभिधम्मावतार पृ. १०८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्वाण है। राजा मिलिन्द पुनः कहते हैं, कि भन्ते! निरोध हो जाना ही निर्वाण कैसे है? तव भिक्षु नागसेन मिलिन्द के प्रश्न का समुचित उत्तर देते हुए कहते हैं कि संसार के सभी अज्ञानी जीव इन्द्रियों और विषयों के उपभोग में लगे रहते हैं, जिसके कारण नाना प्रकार के कष्ट भोगते रहते हैं। परन्तु ज्ञानी आर्यश्रावक इन्द्रिय और विषयों के उपभोग में कभी नहीं लगता है, इसके फलस्वरूप उसकी तृष्णा का निरोध हो जाता है। इस प्रकार तृष्णा के निरोध होने से उपादान का निरोध, उपादान से भव का निरोध, भव के निरोध से जाति (जन्म) का निरोध, और पुनर्जन्म के न होने से बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना, पीटना, एवं परेशानी इत्यादि सभी दुःख रुक जाते हैं। अतः महाराज! इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है[१]।

यह निर्वाण शान्त स्वभाव से एक प्रकार का होने पर भी कारण पर्याय से 'सोपधिशेष निर्वाण धातु' एवं 'निरुपधिसेस निर्वाणधातु' इस प्रकार द्विविध होता है। दृष्ट धर्म निर्वाण को ही सोपधिशेष निर्वाण, एवं साम्परायिक निर्वाण को निरुपधिशेष निर्वाण कहते हैं[२]। संयुक्त निकाय में कहा गया है कि—

"रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो इदं वुच्चति निब्बानं" अर्थात् राग, द्वेष एवं मोह के क्षय को ही निर्वाण कहते हैं। 'कम्मकिलेसेहि उपादीयतीति उपादि" अर्थात् कर्म क्लेश द्वारा जिनका उपादान होता है, वह 'उपादि' (उपधि) हैं। 'सिस्सति अवसिस्सति इति सेसो' उपादि च सो सेसो चाति उपादिसेसो' अर्थात् अवशिष्ट विपाक विज्ञान एवं कर्मज रूप ही 'उपादिसेस' हैं। अथवा अर्हतों के पञ्चस्कन्ध ही उपादिसेस हैं[३]।

इसके अनन्तर जब अर्हत् के पञ्चस्कन्ध क्षीण होकर विनष्ट हो जाते हैं। अर्थात् जब उसका परिनिर्वाण हो जाता है, तब विपाक विज्ञान एवं कर्मजरूप भी अवशिष्ट नहीं होते हैं, उस समय "नत्थि उपादिसेसो यस्साति अनुपादिसेसो" अर्थात् जिस निवणिधातु के साथ विपाक विज्ञान एवं कर्मजरूप भी नहीं है, उसे अनुपादिसेसनिब्बानधातु कहते हैं[४]।

पुनः आकारभेद से निर्वाण त्रिविध होता है। यथा सुञ्ञतं अनिमित्तं अप्पणिहितञ्चेति।

---

१. मिलिन्दपञ्हो, पृ. ५५।
२. विसुद्धिमग्ग।
३. संयुक्तनिकाय, भाग ४, जम्बुखादक मुत्त।
४. अभि.सं. पृ. ७२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शून्यता निर्वाण

यतः राग, द्वेष, मोह धर्मो के साथ साथ रूप स्कन्ध एवं नामस्कन्ध से शून्यताकार का लक्ष्य करके शून्यता निर्वाण भी कहा जाता है।

अनिमित्त निर्वाण

अर्थात् विना आकार या संस्थान के यथा-रूप स्कन्ध एवं नाम स्कन्ध इसमें से एक रूपपिण्ड के रुप में आकार वाला, तथा दूसरा नाम स्कन्ध संस्थान (आकार) के रुप में नहीं होने पर भी, संस्थान की तरह प्रतिभासित होने के कारण अर्थात् इन दोनों में से निर्वाण इस तरह के संस्थान या आकार वाला न होने के कारण 'अनिमित्त' कहलाता है।

अप्रणिहित निर्वाण

यतः निर्वाण तृष्णा स्वभाव से प्रार्थना करने योग्य नहीं है, तथा निर्वाण में प्रार्थना करने वाली तृष्णा भी नहीं है। अतः प्रार्थना करने वाली तृष्णा के अभाव से अप्रणिहित निर्वाण भी कहलाता है[१]।

निर्वाण को अमृत, परमपद एवं परम सुख भी कहा गया है। यथा- ओदहथ, भिक्खवे, सोतं अमतमधिगतं, अहं अनुसासामि, अहं धम्मं देसेमि[२]; अर्थात् भिक्षुओं, ध्यान दो, अपना चित्त इधर लगाओ, मैने जिस अमृत को पा लिया है, उसे मैं तुम्हें बताऊँगा। 'धम्मपद' में कहा गया है कि "निब्बानं परमं सुखं"। आदि। 'मागन्दिय सुत्त' में 'कतमं आरोग्यं कतमं निब्बानं' के प्रसंग में भगवान बुद्ध 'निर्वाण' के बारे में कहते हैं कि मागन्दिय! तुम सत्पुरुषों की सेवा करो, इससे तुम्हें सदुपदेश प्राप्त होगा, तथा उस सदुपदेश के सहारे तुम धर्म की गहराई तक पहुँच जाओगे, तदनुसार आचरण करोगे, और धर्मानुसार आचरण करते-करते एक दिन स्वयं ही उस धर्म की सूक्ष्मता को जान जाओगे; समझ जाओगे; कि ये सभी रोग, व्रण और शल्य (काँटा) के समान है, ऐसा समझने से ये सब रोग, व्रण; शल्य निरुद्ध हो जायेंगे। तब तेरे उपादान न करने से भव निरोध; भवनिरोध से जाति निरोध, जाति निरोध से जरा-मरण शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास भी निरुद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार

---

१. प.दी. पृ. २८१-२८२।

२. महावग्ग, पृ. १६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पूर्ण दु:ख स्कन्ध का निरोध हो जाता है, यही निर्वाण है[१]। मज्झिमनिकाय में कहा गया है कि—'अनासवो दुक्खस्सन्तकरो होति[२]' अर्थात् चित्त विकार रहित साधक ही दु:ख का अन्त कर पाता है।

'अंगुत्तर निकाय' में भी कहा गया है कि "भिक्खु सब्बसो नेवसञ्ञानास-ञ्ञायतनं सञ्ञावेदयितनिरोधं उपसम्पज्ज विहरति, पञ्ञाय चस्स दिस्वा आसवा परिक्खीणा होन्ति। इमिना पि खो एतं आवुसो परियायेन वेदितब्बं यथा सुखं निब्बाणं"। अर्थात् नेवसंज्ञानासंज्ञायतन का समतिक्रमण करके संज्ञावेदयित निरोध को प्राप्त कर विहरता है, तथा प्रज्ञा से उसे देखकर आश्रवों से परिक्षीण होता है, इस प्रकार से आवुस क्रमश: जानना चाहिये, कि निर्वाण सुख है[३]। इसी को सानुदृष्टिक एवं दृष्टधर्मनिर्वाण भी कहा गया है[४]।

एक प्रसंग में आयुष्मान सारिपुत्र 'आनन्द' से कहते हैं कि जो प्राणी अविद्या को कमी करने वाली प्रज्ञा को यथार्थ रुप से जानते हैं, विद्या को स्थिर करने वाली प्रज्ञा को, विशेष ज्ञान की ओर ले जाने वाली प्रज्ञा को, तथा विषय को बींधने वाली प्रज्ञा को यथार्थ रुप से जानते हैं ऐसे प्राणी इसी शरीर के रहते परिनिर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं[५]। इस प्रकार निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को विमुक्त है, निवृत्त है, विगततृष्ण है, ऐसा कहा जाता है।

यहाँ निर्वाण को 'विसुद्धि' कहा गया है, "विसुद्धी ति सब्बमलविरहितं अच्चन्तपरिसुद्धं निब्बानं[६]" अर्थात् सभी प्रकार के मलों (चित्तविकारों) से रहित निर्मल अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण के अर्थ में जानना चाहिए। 'विशुद्धिमार्ग' में निर्वाण को 'अमृत' तथा 'असंस्कृत' कहा गया है, निर्वाण परमार्थत: स्वभावभूत एक धर्म है, वह प्रज्ञप्ति मात्र भी नहीं है। निर्वाण मार्ग द्वारा प्राप्तव्य होने से असाधारण है, मार्ग द्वारा प्राप्तव्य मात्र है, उत्पादनीय नहीं है, 'अप्रभव' है उत्पाद न होने से अजरामरण है। उत्पाद स्थिति भङ्ग न होने से 'नित्य' है। रूप स्वभाव का अभाव होने से अरूप है, तथा सर्वप्रपञ्चों से अतीत होने से 'निष्प्रपंच' है[७]। यह अच्युत पद है, अन्तरहित है, कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार से असंस्कृत है, लोकोत्तर पद है। यथा—

---

१. मज्झिम निकाय, मागन्दिय सुत्त, पृ. ९५५; २. म.नि. छछक्क सुत्त।
३. अंगुत्तर निकाय, १, पृ. ५४; ४. अं.नि. १,पृ. ८८।
५. अं.नि.४, पृ. १७८; ६. विसुद्धिमग्ग, पृ. ११; ७. अभि. सं.पृ. ७२५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

''पदमच्चुतमच्चन्तं, असङ्खतमनुत्तरं ।
निब्बानमिति भासन्ति, वानमुत्ता महेसयो[१] ।।'

पालि साहित्य में यत्र तत्र सर्वत्र निर्वाण को अनेक संज्ञाओं एवं उपमाओं से अलङ्कृत किया गया है, कि निर्वाण यह है, यथा—अमृत पद, शान्ति-पद, परमपद, परमसुख, चेतोविमुक्ति, मोक्ष, निरोध, परमक्षेम, विराग, संज्ञावेदियित निरोध, प्रभास्वर चित्त, विमुक्त, निवृत्त, गम्भीर, अप्रमेय, विनिर्मुक्त, विशुद्धि; क्षय, अनुत्पाद, शान्त, प्रणीत, तृष्णाक्षय, सुख, नित्य, अविपरिणामी, असंस्कृत, अनुत्तरयोगक्षेम, अतर्कावचर, ध्रुव, अजात, असमुत्पन्न; अशोक, विरजपद इत्याादि है। और भी अनेक जगह अनेक पर्यायवाची शब्द से परिभाषित किये गये हैं। यथा 'संयुत्त निकाय' में यह राग, द्वेष एवं मोह का क्षय है। मैं तुमको अन्त, अनास्रव, सत्व, पार, निपुण, सुदुर्दर्श, अजर, ध्रुव, अनिदर्शन, निष्प्रपञ्च, सत, शिव, क्षेम, आश्चर्य, अद्भुत, विराग, शुद्धि, मुक्ति, अनालय, द्वीप, लेण, त्राण, परायण का निर्देश करुंगा, ऐसा कहा गया है[२]।

आचार्य नरेन्द्रदेव जी लिखते हैं, कि निर्वाण का त्रिविध आकार है, विरागधातु, प्रहाणधातु, निरोधधातु। आर्य निर्वाण का उत्पाद नहीं करता, वह उसका साक्षात्कार करता है, वह उसका प्रतिलाभ करता है। मार्ग निर्वाण का उत्पाद नहीं करता, यह उसकी प्राप्ति का उत्पाद करता है। निर्वाण सुख है, शान्त है, प्रणीत है। जो उसे दुःखवत देखता है, उसके लिए मोक्ष सम्भव नहीं है[३]। निर्वाण बौद्धधर्म का लक्ष्य है, भगवान् कहते हैं, कि जिस प्रकार समुद्र का रस एक मात्र लवण रस है, उसी प्रकार से मेरी शिक्षा का एक मात्र रस निर्वाण है।

निर्वाण अशेष साधना का लक्ष्य है, यह परमपद है, यही खोजने का विषय है, यही प्राप्तव्य है, यही साक्षात्कर्तव्य है, निर्वाण में सभी संस्कारों का उपशम हो जाता है, इसीलिए इसे 'शान्ति पद' कहते हैं और इस शान्ति को 'परम सुख' की संज्ञा से विभूषित करते हैं। निर्वाण में आश्रव; इच्छायें, राग, द्वेष, मोह, संयोजन, तृष्णा, कर्मभव, नाम एवं रुप, संस्कार, उपधि आदि

---

१. अ.सं. पृ. ७२८।
२. संयुत्तनिकाय, असङ्खतवग्ग।
३. बौद्धधर्मदर्शन, पृ. २९७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त धर्मों का निरोध हो जाता है। वस्तुतः जन्म-मरण की परम्परा अविद्या क्लेश और कर्म पर आश्रित है, विद्या से क्लेश क्षीण हो जाता है, इस प्रकार संसार चक्र का निरोध हो जाता है, सामान्यतः इसे ही निर्वाण कहते हैं[१]।

इस प्रकार संक्षेपतः स्थविरवाद मत के आधार पर 'निर्वाण' के विषय में यह कहा जा सकता है, कि सर्वप्रथम शील में प्रतिष्ठित होकर शीलवान साधक समाधि की भावना करते हुए, लोकोत्तर समाधि को प्राप्त कर, तदनन्तर उसका प्रज्ञा अर्थात् विपश्यना भावना के साथ योग करते हुए राग, द्वेष; मोह इत्यादि समस्त क्लेशों को क्षय करते हुए, लोकोत्तर प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर तृष्णा रहित होकर 'निरुपधिशेष निर्वाण' प्राप्त करता है। समस्त तृष्णाओं का क्षय ही भगवान् बुद्ध का वास्तविक निर्वाण है।

●

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास (गो.च. पाण्डेय) पृ. ९७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोधिसत्त्व-अवधारणा के उदय में बौद्धेतर प्रवृत्तियों का योगदान

डॉ. उमाशङ्कर व्यास
नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा

बोधिसत्त्वीय आदर्श के उद्भव एवं उसके विकास में बौद्ध धर्म से बाहर के प्रभावों को खोजने का प्रयास कतिपय आधुनिक विद्वानों ने किया है। यहां यह स्मरणीय है कि महायान का ऐसा कोई भी सिद्धान्त नहीं है जिसका मूल बीज बौद्धधर्म के प्रारम्भिक काल में न खोजा जा सके। महायान में इन्हीं बीजों का अंकुरण एवं पल्लवन तद्तद्युगों एवं प्रदेशों की परिस्थितियों के अनुरूप हुआ है। साथ ही यह भी नितान्त स्वाभाविक है कि कोई भी धार्मिक चिन्तन अपने आस-पास की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। एक जीवित एवं स्पन्दनशील विचारधारा अपनी समकालीन अन्य विचारधाराओं से टक्कर लेती हुई जब आगे बढ़ती है तो अनिवार्य रूप से प्रतिद्वन्दी चिन्तनों से वह सर्वथा असंपृक्त नहीं रह पाती। संसार के अधिकतर चिन्तनों विशेषत: चिन्तनों के विकास के इतिहास में ऐसी ही प्रवृत्तियां कार्यरत दिखलाई पड़ती हैं।

बौद्धधर्म का अभ्युदय एवं विकास जिस भारतीय भूमि में हुआ, वहाँ इसके साथ वैदिक, जैन, द्रविड तथा अन्यान्य अनेक गौण धार्मिक चिन्तनों का प्रचलन थी ही। भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में पहुँचनें पर जहाँ एक ओर भागवतों एवं पाशुपतों से इस विचारधारा को टक्कर लेनी पड़ी वहीं इनका सम्पर्क यूनानी, पारसीक एवं कुछ अन्य संस्कृतियों के साथ हुआ। इस सम्पर्क का प्रभाव जहां गंधार शिल्प के अभ्युदय के साथ भारतीय कला के क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन लेकर उपस्थित हुआ वहीं इसका प्रभाव धार्मिक चिन्तन के क्षेत्र में विशेषत: बोधिसत्त्वीय आदर्श के अवतरण एवं महायान के उद्भव में कहां तक हुआ प्रस्तुत में यही विचारणीय प्रसंग है। साथ ही सुदूर एवं अतीत से भारतीय भूमि में फल फूल रहे द्रविड़ एवं वैदिक चिन्तनों के सम्पर्क का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फल बौद्ध धर्म के इस विशिष्ट स्वरूप के उपस्थापन में कहाँ तक हो सकता है, यह भी मननीय प्रश्न है,

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपरान्त अनेकों शताब्दियों के विचार विमर्श के फलस्वरूप जो महायान बौद्धधर्म तथा उसका सर्वप्रमुख बोधिसत्त्व सिद्धान्त सामने आया, उसका स्वरूप निर्माण जिन बौद्धेतर प्रवृत्तियों से आधुनिक मनीषियों ने माना है उन्हें सर्वप्रथम निम्नलिखित दो शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—

१. बौद्धेतर प्राचीन भारतीय धार्मिक चिन्तन एवं साधना।

२. भारत से बाहर के धर्म एवं संस्कृतियाँ।

इन दोनों में से पहले का विश्लेषण एवं परीक्षण करते हुए यह उल्लेखनीय है कि बौद्धधर्म अपने अनेक सिद्धान्तों एवं मान्यताओं के लिए बुद्ध से पूर्ववर्तिनी दार्शनिक एवं धार्मिक चिन्तनधाराओं विशेषतया औपनैषदिक तथा कतिपय अवैदिक चिन्तनों से पूर्णतया निरपेक्ष नहीं है। इन्हें पुनः स्थूलरूप से निम्नवर्गों में विभक्त करते हुए इनमें से प्रत्येक पर संक्षेप में दृष्टिपात करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है—

१. भागवत एवं पाशुमत जैसी भक्ति धाराएं तथा

२. जैन-परम्परा।

बोधिसत्त्वीय आदर्श के उपस्थापन में जो एक तत्त्व अत्यंत विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है वह है भक्ति-तत्त्व। डॉ हरदयाल के शब्दों में बोधिसत्त्व सिद्धान्त प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में बुद्ध भक्ति के विकास तथा बुद्धत्व के अमूर्तिकरण इन दो चिन्तन धाराओं का अनिवार्य प्रतिफल है[१]। पुनः इन्हीं के कथनानुसार पहले यह भक्ति गौतम बुद्ध के प्रति थी परन्तु शीघ्र ही उनका अमूर्तिकरण अतिमानवीयकरण या विश्वात्मीकरण हो जाने के उपरान्त श्रद्धालु उपासकों के लिए वे अनुपयुक्त एवं अनाकर्षक रहा। अतः बोधिसत्त्वों के मूर्तिकरण एवं उनकी धारणाओं में दृढ़ मूल भावना को व्यक्त करने के अवसर प्राप्त हुए। साथ ही उनका यह भी कहना है कि भारतीय धर्मों के इतिहास में भक्ति का उदय मौलिक रूप से बौद्ध साहित्य में ही हुआ हैं, बौद्धों ने इसे कहीं अन्यत्र से गृहीत नहीं

---

१. महावग्ग. पृ. ३२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है। थेरी गाथा के इस स्थल को उद्धृत करते हुए उन्होनें यह दर्शाया है कि भक्ति तत्त्व सर्वप्रथम बौद्धधर्म की ही कल्पना है— सो भत्तिमा नाम च होति पडितो जित्वा च धम्मेसु विसेसि अस्स।

डॉ हरदयाल के उपर्युक्त कथन को केवल आंशिक रूप से ही स्वीकार किया जा सकता है। यह सत्य है कि बुद्ध भक्ति का समावेश महायान बौद्धधर्म की एक आधारभूत विशेषता है किन्तु महायान की साधना में भक्तितत्त्व का यह समावेश प्रारम्भिक बौद्धधर्म की प्रवृत्तियों का स्वाभाविक विकास मात्र न होकर प्राचीन भक्ति धारा के प्रभाव के फलस्वरूप मानना अधिक तर्क-सगंत प्रतीत होता है। सर्वप्रथम डॉ. हरदयाल का यह कथन अयथार्थ प्रतीत होता है कि भक्ति मूलत: एक बौद्ध परिकल्पना है। पहले तो प्रारम्भिक बौद्धधर्म में भक्ति और श्रद्धा के भावों के अन्तर को देखते हुए यह निश्चित करना होगा कि क्या मूलत: आत्म-विमुक्ति के धर्म प्रारम्भिक बौद्धधर्म में सम भक्ति के लिए कोई स्थान था जिसका आश्रयण कर आत्म-प्रयास का श्रम के बिना ही आराध्य की कृपा या उसके सान्निध्यमात्र से समस्त प्रपंचो से उद्धरण संभव था। साथ ही प्रारम्भिक बौद्धधर्म में जहाँ श्रम या अपना पुरुषार्थ ही मुक्ति प्राप्ति करने का प्रधान साधन है और जहाँ कर्म के नियम का कोई भी अपवाद नहीं है क्या वहां भक्त की आर्तता या दीनता के लिए कोई स्थान है या क्या बुद्ध के समक्ष दीनभाव से उपस्थिति मात्र ही भव-सागर से पार उतार सकती है। कुछ विद्वानों ने आदिम बौद्धधर्म में भक्ति के कुछ तत्त्वों की विद्यमानता की जो बातें कही है, सम्भवत: वे श्रद्धा एवं भक्ति के परस्पर-व्यामिश्रण से जनित प्रतीत होती है। प्रारम्भिक बौद्धधर्म में श्रद्धा के महत्त्व की स्वीकृति स्वयं बुद्ध ने की है किन्तु यह अन्ध श्रद्धा न होकर प्रज्ञान्वया श्रद्धा है। अत: पूर्व बौद्ध साधना में कर्म ही प्रधान था वही मनुष्य का सहायक था, भक्ति अपने विशिष्ट स्वरूप में वहां प्राप्त नहीं होती।

इससे विपरीत अनेक प्रमाणों के अधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि बुद्ध से पूर्व भक्ति की साधना विद्यमान थी। स्वयं ऋग्वेद में वरुण के प्रति व्यक्त किए गए ऋषियों के उद्‌गार भक्ति भावों से ओतप्रोत है। इसे देवता भक्ति कह कर इसकी महत्ता को घटाया नहीं जा सकता। भक्ति का ऐसा सुनिर्धारित तथा स्थिर स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता है कि भक्ति तत्त्व का विकास बुद्ध जैसे किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के प्रति ही हो सकता है। यदि निर्गुण निराकार वरुण जैसे देवों के प्रति भक्ति के तत्वों को स्वीकार नहीं भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जाता तब भी बुद्ध से पर्याप्त पूर्वकाल में वासुदेव एवं पाशुपत जैसे सम्प्रदायों में वासुदेव कृष्ण आदि के प्रति भक्ति तत्त्व की विद्यमानता के अनेक साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाण विद्यमान हैं। छन्दोग्य उपनिषद में कृष्ण का उल्लेख, ईशोपनिषद में उपास्य के रूप में ईश्वर का वर्णन, श्वेताश्वतर में भक्ति सिद्धान्तों की चर्चा आदि से भक्ति साधना की किसी न किसी धारा कि विद्यमानता स्थापित हो जाती है। 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' ४.३.९८ में उपास्य के रूप में पृथक सूत्र में वासुदेव का उपन्यसन यह स्पष्टरूप से द्योतित करता है कि पाणिनि के समय तक वासुदेव कृष्ण का दैवीकरण हो चुका था तथा वे एक उपास्य देव बन चुके थे। यूनानी राजदूत मेगास्थनीज द्वारा शूरसेन प्रदेश में हेराक्लीज या कृष्ण की पूजा का अर्थ वर्णन वि. श. ई. ५० के वेसनगर अभिलेख में ग्रीक हलियोदोरस की भागवत उपाधि तथा स्वयं पालि महानिदेस में वासुदेववस्तिका का होन्ति के रूप में वासुदेव सम्प्रदाय के उल्लेख यह प्रदर्शित करने में सक्षम हैं कि वासुदेव कृष्ण बुद्ध से पूर्ववर्तीकाल से ही उपास्य बन चुके थे और द्वितीय शताब्दी ई. पू. तक तो यह एक प्रमुख भक्ति सम्प्रदाय बन गया था, जिसका प्रभाव पश्मिोत्तर भारत में यूनानी, आदि विदेशी जातियों पर भी पड़ने लगा था और जिसका एक केन्द्र शूरसेन या मथुरा के आसपास भी था। यह अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है कि पश्चिमोत्तर में पहुचते ही बौद्धधर्म को वासुदेव या भागवत सम्प्रदाय के बढ़ते हुए प्रभाव का सामना करना पड़ा हो एवं उस काल एवं उस देश की परिस्थितियों में अधिक लोकप्रिय होने के लिए भागवतों के भक्ति तत्त्व का स्वीकरण कर उपास्य के रूप में बोधिसत्त्वों के नूतन स्वरूप की कल्पना करनी पड़ी हो। अश्वघोष जो कि पश्चिमोत्तर भारत में थे इस बात के ज्वलन्त निदर्शन है कि उनके समय तक बुद्ध भक्ति एक नए स्वरूप में आ चुकी थी, आगे भले ही बोधिसत्त्वीय आदर्श का समस्त रूपेण उपस्थापन उनके समय तक न हुआ हो। इस प्रकार इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि इस प्रकार प्रभूत ऐतिहासिक साक्ष्य हमें इस बात से मिलते हैं कि बुद्धधर्म के उदय की शताब्दियों से लेकर वासुदेव पूजा किसी न किसी रूप में भारत में चली आ रही थी और उससे निश्चित निष्कर्ष किसी न किसी मात्रा में हम यह निकाल ही सकते हैं कि द्वितीय शताब्दी ई. पू. जब महायान में बुद्ध भक्ति का उदय हुआ तो उसने किसी न किसी प्रकार ज्ञात या अज्ञात रूप से वासुदेव सम्प्रदाय से अवश्य प्रेरणा प्राप्त की[१]।

---

१. बौद्धधर्म तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग-१ पृ. ५८९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महायान में श्रौत परम्परा एवं भागवत सम्प्रदाय में भक्ति तत्व के ग्रहण एवं आत्मसात् करण के रूप में इन प्रभावों के चिन्हों के साथ-साथ भागवत धर्म की प्रगति के समानान्तर रूप से विकसित होनेवाली शैव साधना के प्रभाव पर कुछ दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। शैव-साधना भारतीय भूमि की अत्यन्त प्राचीनतम साधनाओं में से एक है। इसकी विद्यमानता मोहन-जोदड़ो के समय में भी स्वीकृत है। श्वेताश्वतर उपनिषद में शिव को भगवान कहा गया है तब उनके प्रति भक्तिमय उद्‌गार व्यक्त किए गए हैं।[१] यद्यपि यह उपनिषद बुद्ध से परवर्तीकाल का है फिर भी बोधिसत्त्व की सुस्पष्ट अवधारणा के उदयं से निश्चित रूप से पूर्वकालीन है ही।

मिलिन्द प्रश्न में वासुदेव उपासकों के साथ-साथ शैवों का भी समुल्लेख किया गया है[२]। मेगास्थनीज ने भी यह लिखा है कि भारतीय लोग दायोनिसिस के पूजक थे[३]। दायोनिसिस का समीकरण शिव के साथ विद्वानों द्वारा प्रायः स्वीकृत है। भण्डारकर ने भी कम से कम द्वितीय शतक ई. पू. में शैवधर्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है[४]।

इन सभी प्रचुर ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह सूचित होता है कि ईसवीं शतक से पूर्व ही शिव के आराधकों का एक सुदृढ समूह भारतीय धार्मिक जगत में विद्यमान था। इसकी अविरलधारा अजस्र रूप से बराबर प्रवाहित होती रही एवं जिस युग में महायान धर्म का उदय हो रहा था उस समय भारतीय समाज में शैव या पाशुपत साधना भी विद्यमान थी। पतंजलि के महाभाष्य तथा मिलिन्द प्रश्न आदि से इसकी स्थिति द्वितीय शताब्दी ई. पू. में सिद्ध हो जाती है जैसा कि कतिपय आधुनिक विद्वानों की मान्यता है। यद्यपि इसका सीधा प्रभाव महायान के बोधिसत्त्व जैसे विशिष्ट सिद्धान्तों पर सस्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता फिर भी आराध्य देव या भगवान के रूप में शिव की बहुत प्राचीन काल से ही जो स्थापना हो चुकी थी उनसे बोधिसत्त्व-अवधारणा के कुछ पक्ष सर्वथा

---

१. सर्वव्यापसि भगवांस्तस्मातसर्वगतः शिवः- श्वे. ३.२ देवम् आत्मबुद्धिमकाश.....शरणमहं प्रपद्ये-श. वे ६. १८ इत्यादि

२. मि.प. पृ. १९१। सिवा वासुदेव थानिका आदि।

३. जो. एम. मेविकंडल इण्डिया पृ. २००

४. आर. जी भण्डारकर सेक्ट्स पृ. ११६,११७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रभावित नहीं रहे होंगे। विशेष रूप से अवलोकितेश्वर-बोधिसत्त्व की जो अवधारणा है उसके उदय एवं विकास में शिव पाशुमत या माहेश्वर शाखा का विशेष योगदान होना चाहिए। दोनों के कलात्मक अंकनों में भी अद्‌भुत साम्य है। तीन नेत्र एकादश मुख तथा त्रिशूल आदि के अंकनो का साम्य भी मात्र आकस्मिक नहीं हो सकता। अवलोकितेश्वर महाकरुणा का मूर्तिकरण है तो शिव भी हलाहल विष से जल रहे जगत् के परित्राता के रूप में ख्यात हैं।

वैदिक धर्म के ब्राह्मण पुरोहितों ने शनैः शनैः भागवत एवं शैव जैसे दो भक्ति आन्दोलनो को आत्मसात कर लिया एवं बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का सामना करने के निमित्त इनका उपयोग किया। ई. पू. द्वितीय शतक में शुंगराजवंश की छत्रछाया में ब्राह्मण धर्म पुनर्जागरण का उद्‌भव हुआ। फलस्वरूप बौद्धों को जनप्रियता के निमित्त प्रचार के नवीन साधनों का समावेश करना पड़ा। जैसा कि कुछ आधुनिक विद्वानों की मान्यता है। द्वितीय शताब्दी ईसवीं पूर्व बौद्ध धर्म के लिए एक अत्यन्त समस्यामय समय था। मौर्यों के पतन के उपरान्त इसे राज्याश्रय प्राप्त नहीं हो रहा था तथा इसे उन ब्राह्मणों के सामना करना पड़ रहा था जिन्होंने भागवत एवं शैव धर्मों को आत्मसात् कर अधिकाधिक लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी[१]। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के स्तम्भ अर्हत्व का भी भिक्षु अधिक एकान्तसेवी एवं अन्तमुर्खी होने लगे थे। ऐसी परिस्थितियों में महायान बौद्ध शाखा के संस्थापकों को विष्णु एवं शिव जैसे लोकप्रिय देवताओं तथा इनके अवतारों के बौद्ध प्रतिद्वन्दियों के रूप में परम कारुणिक बोधिसत्त्वों को एक नूतन अवधारणा का विकास करना पड़ा। जिसके द्वारा उन्होंने बड़ी ही सफलता के साथ अपने धर्म का नए क्षेत्रों में प्रसार किया एवं इसे अधिक से अधिक लोकप्रिय बनाया।

२. जैन परम्परा एवं बोधिसत्त्व सिद्धान्त

बौद्ध एवं जैन दोनों ही श्रमण धर्म है तथा अनेक वातों में इनमें साम्य है। साथ ही प्राचीनता की दृष्टि से जैन धर्म बौद्ध धर्म से कुछ अधिक प्राचीन

---

१. इ. डब्लयू होपिकन्स इण्डिया न्यू एण्ड ओल्ड प. ५१८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना जाता है। सर्व प्रथम प्राचीन बौद्ध धर्म में प्राप्त बोधिसत्त्व के सन्दर्भ में जैन धर्म का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन एवं बौद्ध इन दोनों ही परम्पराओं में पूर्व भव की चर्चा प्रायः समान पद्धति से प्राप्त होती है। महावीर एवं बुद्ध की भव चर्चा में तो एक विचित्र साम्य के दर्शन भी होते हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने अनेक भव पूर्व मरीचि तापस को लक्ष्य करते हुए जिस प्रकार यह कहा था कि यह अंतिम तीर्थंकर महावीर होगा, इसी प्रकार अनेक कल्पों पूर्व दीपंकर बुद्ध ने सुमेध तापस के विषय में यह वेय्याकरण किया था कि वह एक दिन बुद्ध होगा। महावीर से सम्बधित यह घटना उनके पच्चीस भव पूर्व की है जबकि बुद्ध की घटना पाचँ सौ इक्यावन भव पूर्व की है।

दोनों ही परम्पराओं के पूर्व भव की चर्चा करने वाले प्रकरणों में भव भ्रमण का प्रकार आयु की दीर्घता आदि अनेक विषय हैं। तीर्थंकरत्व प्राप्ति के लिए जो बीस निमित्त तथा बुद्धत्व प्राप्ति के लिए अपेक्षित जो दश पारमिताएं हैं उनमें कुछ साम्य है, जैसा कि निम्नलिखित सूची से सपष्ट होता है—

बीस निमित्त	**दश परिमताएं**
१. अरिहन्त की अराधना	१. दान
२. सिद्ध की अराधना	२. शील
३. प्रवचन की अराधना	३. नैष्क्रम्य
४. गुरू का विनय	४. प्रज्ञा
५. स्थविर का विनय	५. वीर्य
६. बहुश्रुतका का विनय	६. क्षान्ति
७. तपस्वी का विनय	७. सत्य
८. अभीक्षण ज्ञानोपयोग	८. अधिष्ठान
९. निर्मल सम्यग्दर्शन	९. मैत्री
१०. विनय	१०. उपेक्षा
११. षडमावश्यक का विधिवत समाचरण	
१२. ब्रह्मचर्य का निरतिचार पालन	
१३. ध्यान	
१४. तपश्चर्या	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. पात्रदान
१६. वैयाकृति
१७. समाधि-दान
१८. अपूर्व ज्ञानाभ्यास
१९. श्रुत भक्ति
२०. प्रवचन भावना

यद्यपि इन बीस निमित्तों एवं दश पारमिताओं के मध्य भावनात्मक साम्य खोजा जा सकता है परन्तु साथ ही उनमें मौलिक अन्तर यह है कि बुद्धत्व प्राप्ति के लिए ही पारमिताओं के पालन करते हैं। जैन परम्परा के अनुसार वीतरागता बौद्ध परिभाषा में अर्हत पद के लिए ही विहित है। तीर्थंकरत्व एक गरिमापूर्ण पद है। वह काम्य नहीं हुआ करता। वह तो सहज सुकृत संचय से प्राप्त हो जाता है। विहित तप को किसी नश्वर काम के लिए अर्पित कर देना जैन-परिभाषा में 'निदान' कहलाता है।

चउव्विहा खलु तब समाद्धि मवई ततद्धानों इहलोमट्ठयाए तब महिट्ठेज्जा न परलोगट्ठायाए तबमहिट्ठेज्जा, नो कित्तिवण्णसर्द्ध सिलोगट्ठयाए तब महिट्ठेज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए विमीहट्ठेज्जा[१]।

यह विरोधकता का सूचक है। भौतिक ध्येय के लिए तप करना भी अशास्त्रीय है। बौद्धों ने बुद्धत्व इसलिए काम्य माना है कि सर्वज्ञत्व के साथ-साथ व्यक्ति अपनी भव वुभुक्षा को गौण करता है और विश्व मुक्ति के लिए इच्छुक होता है भले ही संवृत्ति के धरातलपर ही। तात्पर्य यह है कि जैनों ने तीर्थंकरत्व को उपाधि-विशेष से जोड़ा है और बौद्धों ने बुद्धत्त्व को परोपकारिता से। यही अपेक्षा-भेद दोनों परम्पराओं के मौलिक अन्तर का कारण बना है। यही कारण है कि जिस प्रकार प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में बुद्धों की संख्या सीमित है और बुद्धत्व अतिदुर्लभ माना गया है उसी प्रकार जैन परम्परा में भी चौबीस तीर्थंकरों का वर्णन है जो कि कालक्रम से आते जाते रहते हैं। महायान की भाँति बुद्धों की असंख्यता, असंख्य बुद्धलोकों के अस्तित्व तथा उनकी पौराणिक प्रकृति जैसे तथ्यों का संदर्शन यहां नहीं है। बोधिसत्त्वों की परानुग्रहपरक साधना का अस्तित्व ही यहाँ नही हैं।

---

१. दश्वैकालिक अ. ९३०४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन ईरानी धर्म एवं पारसी संस्कृति का योगदान पश्चिम के अनेक प्राच्य विद्या विशारदों ने प्राचीन भारत के अनेक विचारों अवधारणाओं एवं ज्ञान की अन्य शाखाओं पर भारत से बाहर के प्रभाव को सिद्ध करने के प्रयास किए हैं। बोधिसत्त्व अवधारणा के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसे ही प्रभाव बताए गए हैं। इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि अनेक महायानी अवधारणाएँ अपने स्थूल स्वरूप में सर्वथा नूतन सी दिखती हैं परंतु इनके अव्यक्त चिन्ह सम्प्रति उपलब्ध बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक स्तरों में विद्यमान हैं। प्रधान रूप से ये अव्यक्त अंकुर ही कालान्तर में देश एवं परिस्थितियों के आनुषंगिक सहजात प्रत्ययों के सहारे सुस्पष्ट अवधारणाओं के रूप में पुष्पित एवं पल्लवित हुए। इस बात की भी प्रर्याप्त संभावना है कि कतिपय विदेशी अवधारणाओं के सम्पर्क के सहजात प्रत्यय भी इन धारणाओं के पूर्ण विकास में सक्रिय रूप में कार्यरत रहे हों। भारतीय बौद्ध धर्म का विकास भूखण्ड में प्रसार महान बौद्ध धर्म सम्राट अशोक के समय में हुआ। उसी समय यह पश्चिमोत्तर में गन्धार आधुनिक अफगानिस्तान के उन भूखण्डों तक पहुँचा। जहाँ प्राचीन पारसीक संस्कृति का पहले से ही कुछ न कुछ प्रभाव था ही। ५३० ई. पू. ३३० ई. पू. तक गान्धार एक पारसी प्रदेश था। साइरस के समय से सिकन्दर के आक्रमण के काल तक पारस का अपना विशाल साम्राज्य था। ५१८ ई. पू. के लगभग दारियस प्रथम ने सिन्धुघाटी को अपने अधीन कर लिया था[१]। अनेक शताब्दियों तक प्राचीन पारसीक संस्कृति ने एशिया के अनेक राष्ट्रों को प्रभावित किया। फिर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश तो पारस के पडोसी ही थे। बी. ए. स्मिथ के अनुसार सारनाथ का अशोक का सिंह स्तम्भ तथा पाटलिपुत्र का मौर्य प्रासाद प्रारम्भिक पारसीक संस्कृति के संसूचक हैं[२]।

सूर्य की आराधना प्राचीन ईरान की संस्कृति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू था। वैसे सूर्य तो संसार को अधिकतर आदिम सभ्यताओं में आराध्य देव रहे हैं परंतु मिस्र एवं ईरान में सूर्योपासना को एक सुस्पष्ट धार्मिक स्वरूप प्राप्त हुआ। ईरान की सूर्योपासना के प्रभाव के कुछ चिन्ह महायान बौद्ध धर्म के कतिपय पतों में पहचाने जा सकते हैं। तथा महायान देव कुल में कल्याणमय

१. पी. की. एन. मायर्स जेनेरल हिस्ट्री पृ. ६१।

२. बी. ए. स्मिथ अशोक पृ. १४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिपात करने वाले प्रभास्वर सत्त्वों की परिकल्पना तथा इस अवधारण का अभ्युदय कि बोधिसत्त्व बुद्धों के Emanic pation हैं।

यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि सूर्योपासना से प्रारम्भिक बौद्ध धर्म सर्वथा अपरिचित नहीं था। दीर्घनिकाय[१] में सूर्योपासना का उल्लेख प्राप्त होता है तथा आदिच्चुपट्ठान जातक में इसका उपहास किया गया है। स्वयं भगवान बुद्ध को अनेक स्थलों पर आदित्य बन्धु भी कहा गया है[२]। इससे यह स्पष्ट होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान भारतीय सूर्य पूजा तथा पारसीक सूर्योपासना पर आधारित एक नवीन सूर्य उपासना सम्प्रदाय का अस्तित्व था तथा बौद्ध धर्म विशेषत: परवर्ती बौद्ध शाखाओं के कुछ पक्षों पर इसका प्रभाव पड़ा। स्टाइनपेलिओ आदि विद्वानों ने चीनी तुर्किस्तान से प्रचुर मात्रा में जो प्राचीन पाण्डुलिपियां प्राप्त की थी उनके विश्लेषण से यह तथ्य सामने आया है कि यह पारसीक प्रभाव पूर्वी ईरान की उतेन भाषा के माध्यम से मध्य एशिया होते हुए चीन तक पहुँचा। सर्व प्रथम इस का मध्य एशिया की कुषसण या यूची जाति से सम्पर्क हुआ। यही जाति बाद में अपने इन प्रभावों के साथ भारत के पश्चिमोत्तर में आई। इनकी सभ्यता एवं संस्कृति एक बड़े अंश तक पारस से गृहीत थी, अंशत: यूनान से भी। इसी जाति का महान सम्राट कनिष्क बौद्ध धर्म ग्रन्थों में सम्राट अशोक के बाद दूसरा महत्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता है। इसी के समय में पेशावर में बौद्ध धर्म की चतुर्थ संगीति हुई जिसमें महाविभाषा शास्त्र के संगायन के साथ-साथ बौद्ध धर्म के स्वरूप में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिनमें बुद्ध भक्ति का सुस्पष्ट अभ्युदय तथा बोधिसत्त्व अवधारणा का विकास भी एक है।

ईसवीय शतक के प्रारम्भ के कुछ समय पूर्व तथा पश्चात् पश्चिमोत्तर भारत के गान्धार एवं आधुनिक बलख के क्षेत्रों में भारतीय पारसीक तथा यूनानी विचारों संस्कृतियों का विचित्र सम्पर्क हुआ। तक्षशिला गान्धार का तत्कालीन प्रमुख विद्या केन्द्र था। यहाँ इस प्रकार के सम्पर्कों का होना भी सर्वथा स्वाभाविक हुआ था। यद्यपि इसका सुस्पष्ट साक्ष्य सम्प्रत्ति प्राप्त नहीं है फिर भी इन सम्पर्कों के फलस्वरूप बौद्धों, भागवतों आदि भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों

---

१. दीर्घनिकाय १.२. पक्ति २२वीं

२. ड. जे. टामस बुद्ध प. २१७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विविध पक्ष सर्वथा अछूते रहे होगे। भले ही भारतीय धर्मों की अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति के अनुरूप बाहर से गृहीत इन प्रभावों का आत्मसात करण एवं परिपाचन कुछ इस प्रकार से सम्पन्न हुआ हो कि इन प्रभावों को सुस्पष्ट रूप से अब पहचान पाना भी आवश्यक बन गया हो। तथापि इन विचारों के प्रभाव चिन्ह के रूप में निम्नलिखित विशेषताओं को परीक्षणार्थ उपस्थित किया जा सकता है—

बौद्ध, वैष्णव एवं शैव धर्मों के कतिपय स्वरूपों का सुनिश्चित विकास समान काल की पृष्ठभूमि में पश्चिमोत्तर भारत में हुआ। फलस्वरूप इनके कतिपय तथ्यों में आश्चर्यनक साम्य का दर्शन होता है। उदाहरणार्थ इन सभी में यह विचार प्राप्त होता हैं कि दैवी प्रकृति का आविर्भाव चार या पाँच स्वरूपों में हुआ। पांचरात्रों के पाँच व्यूहो, महायानिकों के पाँच जिनों तथा पाँच सदाशिव तत्त्वों का उल्लेख इस सन्दर्भ में किया जा सकता हैं।

पांचरात्रों एवं महायानियों के इन परस्पर साम्य वाले सिद्धान्त का अभ्युदय पश्चिमोत्तर भारत में संभवत: उस समय हुआ जब कि यहाँ ईरानी प्रभाव की प्रधानता थी। पाँचरात्रों के व्यूहो से बहुत मिलती जुलती पारसियों के अहुर मजदा के स्पेन्ट मैन्यु एवं फावरियों की अवधारणा है जिस प्रकार अहुर मजदा के ६ अमेश स्पेन्तास बतलाए गए हैं उसी प्रकार ईश्वर को भी ६ गुणों से विभूषित बतलाया गया हैं। डॉ. हरदयाल का कथन है कि बोधिसत्त्व अवधारणा के अभ्युदय में जरथ्रुस के धर्म के योगदान की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता[१]। जरथ्रुस धर्म के प्रवासी और अमेस स्पेन्तास का बोधिसत्त्वों से अत्यधिक साम्य है। अहुर मजदाये सम्बुद्ध ६ अमेस स्पेन्तास भावों या प्रत्ययों के मूर्तीकरण हैं एवं डॉ. हरदयाल का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि प्रमुख बोधिसत्त्व भी तो वस्तुत: प्रज्ञा एवं करुणा के मूर्तिकरण[२] ही है।

जरथ्रुस धर्म के ६ अमेस स्पेन्तास ये हैं।

१. अस (सत्य)
२. बोहुमन (बृहन्मनस्)

---

१. डॉ. हरदयाल बोधिसत्वडाक्ट्रिन पृ. ३९
२. डॉ. हरदयाल बोधिसत्वडाक्ट्रिन पृ. ३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. अरमेइति (मैत्री)
४. हौरवतात् (श्रेयस)
५. क्षथ्र वेर्य (वीर्य) तथा
६. अमेरेतात (अमृतत्व)

ऐसा लगता है कि जरथ्रुस धर्म के प्रवासी का तुषित स्वर्ग के बोधिसत्त्व से अत्यधिक साम्य है।

इन प्रभावों या परस्पर साम्य के अतिरिक्त सूर्योपासना के माध्यम से जरथ्रुस धर्म का प्रभाव भी बोधिसत्त्व अवधारणा के कुछ पक्षों पर पड़ा। अमिताभ वैरोचन, दीपंकर जैसे नाम इस प्रभाव के संकेतक हैं तथा अनेक बोधिसत्त्वों को भी सौर उपाधियों से समलंकृत किया जाना भी सूर्योपासना का ही प्रभाव माना जा सकता है।

जरथ्रुस धर्म का प्रभाव सूर्योपासना के माध्यम से भक्ति तत्त्व को किसी न किसी रूप में प्रभावित किए जाने के तथ्य के रूप में भी देखा जा सकता है। सूर्योपासना की एक परिणति भारतीय भूमि में भक्ति मार्ग के अभ्युदय के रूप में भी विद्वानों द्वारा अनुमानित है। अत: भक्तिभावना के लक्ष्य के रूप में बोधिसत्त्वों की परिकल्पना का जो पक्ष है उस पर सूर्योपासना के प्रभाव के रूप में भी ईरानी प्रभाव की उपस्थिति की कल्पना सम्भव है।

प्रस्तुत प्रसंग का उपसंहरण करते हुए स्वकीय मन्तव्य के रूप में यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि ईरानी संस्कृति एवं जरथ्रुस धर्म की प्राचीनता तथा पश्चिमोत्तर भारत में इसकी उपस्थिति एक ऐतिहासिक तथ्य है तथा महायान बौद्ध धर्म के कतिपय पक्षों बुद्धों एवं बोधिसत्त्वों के सौरनामों आदि में इस संस्कृति का कुछ प्रभाव भी संभावित है फिर भी बोधिसत्त्व अवधारणा का जो सैद्धान्तिक पक्ष है उस पर कोई विशेष प्रभाव इस संस्कृति का नहीं माना जा सकता। यह तो बौद्ध धर्म के अपने आन्तरिक रूपान्तरण का ही प्रतिफल है। बुद्धत्त्व के स्वरूप में होने वाले परिर्वतन बोधि धारणाओं में रूपान्तरण आदि ऐसे तथ्य हैं जो बोधिसत्त्व अवधारणा के सौ सौ सैद्धान्तिक पक्ष के विकास के लिए आधार हैं। हाँ, कुछ एक बाह्य पक्ष यथा कतिपय बोधिसत्त्वों के सौरनाम इनका भक्ति भाव का विषय होना आदि सम्भवत: ईरानी संस्कृति एवं जरथ्रुस धर्म से पारस्परिक सम्पर्क के फलस्वरूप उदित माने जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं परन्तु यह भी सुस्पष्ट प्रमाण के अभाव में पूर्णतया असंदिग्ध प्रभाव नहीं कहे जा सकते।

यूनानी संस्कृति एवं कला तथा बोधिसत्त्व अवधारणा

३३० इ.पू. के उपरान्त भारतके पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यूनानी सम्राट सिकन्दर के आक्रमण हुए। सम्भवतः इस आक्रमण के कोई स्थायी प्रभाव तत्कालीन भारत पर नहीं पड़े परन्तु इन आक्रमणों के अनन्तर भी क्षेत्रों में यूनानी लोग रह गए। इनमें से अनेकों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार भी किया। प्राचीन मुद्राएँ इस बात का समर्थन करती हैं कि मिनान्डर जैसे अनेक यूनानी शासकों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली थी। इन यूनानियों की अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि थी, विशेषतः इनका कलात्मक पक्ष अधिक प्रौढ़ था जबकि धार्मिक चिन्तनों में भारतीय पक्ष अधिक सशक्त प्रतीत होता है। यूनानियों द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार करने से बौद्ध धर्म के चिन्तनात्मक या सैद्धान्तिक पक्ष पर सम्भवतः कोई विशेष प्रभाव पड़ता दृष्टिगत नहीं होता। किन्तु प्राचीन भारतीय पुराकथाओं एवं कल्पनाओं को बाह्य प्रभाव विशेषतः यूनानी कला ने इतना अधिक प्रभावित किया कि गन्धार शिल्प के रूप में भारतीय कला में नूतन युग का सूत्रपात ही हो गया। बौद्ध धर्म जब यूनानी पृष्ठभूमि से सुपरिचित व्यक्तियों के साथ सम्बद्ध हुआ तब एक सुनिश्चित आकार के सुनिश्चित व्यक्तियों के आराधना की प्रक्रिया क्रमशः बलवती होने लगी। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में बुद्ध का कलात्मक अंकन प्रतिमाओं के रूप में नही था। उनके प्रतीकात्मक अंकन ही सामान्य जन द्वारा अराध्य थे। परन्तु गान्धार शिल्प का सूत्रपात ऐसी पृष्ठभूमि का संकेत कराती है जहाँ पूजा के निमित्त एक सुनिश्चित व्यक्तित्व या आकार की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इस पृष्ठभूमि को भारतीय जन सामान्य की मानसिक मनोवृत्ति में भी विद्यमान कहा जा सकता है परन्तु यूनानी मनोवृत्ति कुछ अधिक सुनिश्चित मूर्तिकरण की ओर झुकी हुई थी ही। अतः यूनानी प्रभाव से गन्धार शिल्प का अभ्युदय हुआ। इसने न केवल भारतीय कला में ही क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया अपितु एक निश्चित प्रकार के निश्चित व्यक्तित्वों के समाराधन की प्रक्रिया को अधिक से अधिक बलवती बना कर महायान बौद्ध धर्म में 'बोधिसत्त्व' जैसे आदर्श व्यक्तित्व के समुपस्थापन में भी इसका अपूर्व योगदान रहा। इस प्रसंग के उपसंहार डॉ. हरदयाल के इस कथन से सहमति व्यक्त करते हुए किया जा रहा है कि यूनानी आक्रामको आब्रजकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं शिल्पियों ने बौद्धो को सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित व्यक्तित्त्व के महत्त्व को सिखाया और बौद्धों ने यूनानी देवताओं से मिलते जुलते अर्ध दैवी एवं अर्ध मानवीय सत्त्वों की आराधना के उद्देश्य से बोधिसत्त्वों के देव-कुल का आविष्करण किया[१]।

इतना तो सुस्पष्ट ही है कि गान्धार कला के अभ्युदय के रूप में यूनानी प्रभाव ने बौद्ध धर्म में एक नूतन युग का सूत्रपात किया जिससे भविष्य में बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की अवधारणा भी सर्वथा अप्रभावित नहीं रह सकी।

अव्यक्त एवं अमूर्त प्रत्ययों के समूर्तीकरण द्वारा यूनानियों ने न केवल बौद्ध कला अपितु समस्त बौद्ध धर्म के कलेवर को ही रूपान्तरित कर दिया।

ईसाई धर्म एवं बोधिसत्त्व-अवधारणा

'बोधिसत्त्व-अवधारणा' की सुस्पष्ट संरचना भारतीय भूमि में ईसाई धर्म की स्थापना से बहुत पूर्व हो चुकी थी। अतः इस अवधारणा के अभ्युदय में ईसाई धर्म के प्रभाव होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु भू-खण्डों में बोधिसत्त्व-यान एवं ईसाई धर्म इन दोनों के समकालीन अस्तित्व की बात आधुनिक विद्वानों द्वारा प्रतिपादित की जाती हैं, वहां बौद्धधर्म के पहुँचते एक तो यह अवधारणा एक सुनिश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी दूसरे इस अवधारणा के सैद्धान्तिक पक्ष में ऐसे कुछ ही तथ्य हैं जिनका ईसाई धर्म की कतिपय अवधारणाओं से साम्य प्रदर्शित किया जा सकता है और यह साम्य मात्र आकस्मिक भी तो हो सकता हैं।

वैसे इस बात की पूरी सम्भावना तो है ही कि दक्षिण भारत, मध्य एशिया, सीरिया, सिकन्दरिया जैसे स्थानों में बौद्धों एवं योरोप तथा पश्चिम एशियाई ईसाई देशों के मध्य सम्पर्क के कतिपय माध्यम रहे हों। इन प्रदेशों के अनेक स्थानों में बौद्धों श्रमणों एवं भारतीयों की उपस्थिति के अनेकों साहित्यिक साक्ष्य प्राप्त हैं[२]। इनमें से कतिपय साक्ष्य ईसाई धर्म पर बौद्ध धर्म के प्रभाव का संसूचन भी प्रतिपादित करते है[३]। यद्यपि सन्त टामस जैसे ईसाई

---

१. हरदयाल 'बोधिसत्व डाक्ट्रिन' पृ.३९।

२. एच. जी. रालिसंन 'इन्टरकोर्स' पृ. १६३, १७४ ए. लिली 'बुद्धिज्म' पृ. २३२ ई.जे. टामस 'बुद्ध' पृ.२३७।

३. वही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मदूतों के दक्षिण भारत में पधारने की बात कही जाती है परन्तु यह सर्वथा असंदिग्ध नही मानी जा सकती।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भले ही सिकन्दरिया और दक्षिण भारत में इन दोनों धर्मों के परस्पर विनिमय का प्रश्न संदिग्ध हो किन्तु सीरिया एवं मध्य एशिया में इस प्रकार के पारस्परिक आदान प्रदान की संभावना अधिक बलवती प्रतीत होती हैं। सम्राट अशोक के धर्म दूत-सीरिया एवं बैक्ट्रिया भेजे गये[१]। कंधार के समीप विद्यमान अशोक का शिलालेख तथा सम्पूर्ण अफगानिस्तान एवं हिन्दुकुश तक के क्षेत्र में विस्तृत प्रचुर बौद्ध अवशेष भी इस बात के साक्ष्य हैं कि अशोक के शासनकाल से ही वहाँ बौद्ध धर्म था। सम्भवत: ये क्षेत्र महायान के उद्भव एवं विकास के इतिहास की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। इन्हीं भू-प्रदेशों में बौद्ध धर्म एवं ईसाई धर्म के परस्पर सम्पर्क में आने की कल्पना कुछ अधिक उचित प्रतीत होती है। निष्ठावान गवेषकों ने अपने शोधों के दौरान बौद्ध एवं ईसाई उपाख्यानों, धार्मिक विधि विधानों अतिमानवीय तत्त्वों आदि में आश्चर्यजनक साम्य पाए हैं। परन्तु इनमें से अधिकतर साम्य मात्र संयोग जनित ही प्रतीत होते हैं। फिर भी जब दो धार्मिक विचारधाराएं एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो एक दूसरे से कुछ न कुछ प्रभावित होती ही हैं। जोसेफत और बलराम की कथा में यूनानी और रोमन कैथोलिक इन दोनो ही ईसाई शाखाओं ने बोधिसत्त्व शब्द को पहलवी, अरबी तथा सीरियाई माध्यमों से लेकर जोसाफत रूप में अपना लिया है। इतना ही नहीं प्रसिद्ध ईसाई सन्तों के रूप में इन दोनों को भी स्वीकार किया गया, यद्यपि इनके कथन निश्चित ही जातक कथाओं की शैली पर भगवान बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण आदि के ही हैं[२]।

अब ईसाई धर्म के आदर्शों और धारणाओं के बोधिसत्त्व अवधारणा को प्रभावित करने की बात को लिया जाय। महायान के कुछ आदर्शों एवं धारणाओं के विकास क्रम की यदि परीक्षा की जाय तो स्पष्ट रूप से परवर्ती महायान की भावना में कुछ पृथकरूपता सी दिखती हैं। नागार्जुन एवं वसुवन्धु का महायान प्रज्ञा एवं करुणा इन दोनों में प्रज्ञा को शीर्षस्थानीय महत्व प्रदान करता

---

१. वी. ए. स्मिथ अशोक पृ. ६१.

२. ई. आर. भाग ७. बरलम एंड जोसेफ पृ. ५६८ बी. एच. जी. रालिंसन 'इन्टरकोर्स' पृ १६३ आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है परन्तु शान्तिदेव ने इसका स्थान पापदेशना, क्षमा याचना, पूजा आदि को प्रदान कर दिया है। ऐसा लगता है कि शान्तिदेव के समय तक महायान की भावना में मूलभूत परिवर्तन आ गया था और यह परिवर्तन स्वयं बौद्ध धर्म में हो रहे विचार मन्थन के फलस्वरूप भी हो सकता है या भारतीय भूमि में ही उदित कतिपय अन्य विचार धाराओं के प्रभाव से भी ऐसा हो सकता है। पर इस बात की भी सुदृढ़ संभावना है कि ईसाई धर्म के प्रभाव से पाप देशना एवं क्षमायाचना जैसी प्रवृत्तियां शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार में आ गई हैं। साथ ही बोधिसत्त्वों के द्वारा दु:ख से पीड़ित समस्त मानवता के दु:ख अपने ऊपर ले लेने की जो बात है या परिवर्त की जो अवधारणा है वह भी यीशुमसीह के बलिदान तथा अपने रक्त द्वारा समस्त पापों के प्रक्षालन की विचारधारा से प्रभावित हो सकती है। जो भी हो महायान में बाह्य तत्त्वों के आत्मसात करण करने की सामर्थ्य थी। अत: यह सम्भव है कि बोधिसत्त्व अवधारणा के परिवर्त एवं पाप देशना जैसे पक्ष ईसाई धर्म के प्रभाव स्वरूप स्वीकृत किए हो परन्तु इन सब धारणा के उदय एवं इसकी अनेक महत्वपूर्ण अवधारणाओं यथा पारमिता पाचन आदि में ईसाई धर्म के प्रभाव का कोई योगदान प्रतीत नहीं होता।

निष्कर्ष:

बोधिसत्त्व अवधारणा के अभ्युदय एवं विकास में संभावित प्रभावों की उपर्युल्लिखित चर्चा के उपरान्त यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य होगा कि इस अवधारणा का विकास प्रधानत: देश एवं समयगत परिस्थितियों के बदलते हुए स्वरूप के अनुसार बौद्ध धर्म के अन्दर होने वाले स्वाभाविक एवं महा-परिनिर्वाण के कुछ ही समय उपरान्त विस्तृत भू खण्ड में फैले बौद्ध संघ में सर्व प्रथम विनय के प्रश्नों को लेकर जो विवाद उठा वह इसी परिवर्तन का द्योतक था। इसकी परिणति स्थविरवादी परम्परा में वर्णित वैशाली की द्वितीय संगीति में होने वाले विभाजन के रूप में हुई। महासांगितिक भिक्षु नूतन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में शास्ता की देशनाओं के आशय को सुरक्षित रखते हुए नवीन धारणाओं एवं आचरणों के प्रति भी उदार बने। फलस्वरूप न केवल विनयगत नियमों में नवीन तत्त्वों का समावेश हुआ अपितु बुद्धत्त्व बोधि आदि की धारणाएँ भी नए आयामों के साथ प्रस्तुत की गई। स्वयं शास्ता ने अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेशों में भिक्षुओं को आत्मदीप तथा प्रज्ञावान होने को कहा था। फलस्वरूप बौद्ध धर्म में उदार एवं निवीन चिन्तन धाराएँ प्रवर्तित होती रही। इसकी व्यापक एवं उदात्तदृष्टि का ज्वलन्त प्रमाण आचार्य नागार्जुन का स्वभावशून्यता का सिद्धान्त था जिसके अनुसार परम सत्य तो सर्वथा निष्प्रपंच है ही सांवृतिक रूप से भी कोई भी पदार्थ या धारणा निरपेक्ष रूप से सत्य हो ही नहीं सकती। अतः स्वयं बौद्ध धर्म में पहले से ही कुछ ऐसे बीज रूप में मूल तत्त्व थे जो नूतन समय एवं क्षेत्रों की मृत्तिका में अंकुरित होकर बोधिसत्त्व अवधारणा के रूप में पूर्ण प्रस्फुटित हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्यशास्त्र की प्रशाखा के रूप में कवि-शिक्षा का मूल्याङ्कन

डॉ. राजीव रंजन सिंह

अध्यक्ष

संस्कृतविद्या-विभाग,

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारत में काव्यशास्त्र या आलोचनाशास्त्र का प्रादुर्भाव अत्यन्त प्राचीन काल में हो चुका था। आरम्भिक काल में वेद की तरह यह अविभक्त और समग्र था। संस्कृत-आलोचनाशास्त्र के आदिग्रंथ भरत के नाट्यशास्त्र में साहित्य से साक्षात् सम्बद्ध सभी तत्त्वों से अतिरिक्त तत्त्वों का भी उपपादन किया गया है। वहाँ काव्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र और नाट्यशास्त्र के रूप में अथवा दृश्यकाव्य, संगीत और कविता के रूप में कोई भेद नहीं किया गया है। किन्तु परवर्ती काल में दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य के भेद से नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के रूप में आलोचनाशास्त्र दो स्वतंत्र विभागों में विभक्त हो गया। यद्यपि तब भी इन दोनों शाखाओं में रसादि विषयों पर समान रूप से विचार किया गया किन्तु उक्त विचार के उद्देश्य में पर्याप्त अन्तर आ चुका था। नाट्यशास्त्र प्रयोग-विज्ञान के रूप में विकसित हो रहा था जबकि काव्यशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य काव्य की परिभाषा, उसके मूल तत्त्व, उसका वर्गीकरण आदि हो चुका था। इसमें भी प्रमुखता काव्य के आत्मतत्त्व के संबंध में विभिन्न विचारधाराओं, यथा रससंप्रदाय, अलंकारसंप्रदाय, ध्वनिसंप्रदाय आदि, के विवेचन को प्राप्त था।

काव्य के हेतु के संबंध में काव्यशास्त्रियों के मध्य मतभेद है। किन्हीं के अनुसार कवित्व जन्मजात होता है और इसलिये काव्य का मूल हेतु है— प्रतिभा जो जन्मजात संस्कार विशेष है। अन्य विद्वानों के अनुसार कवित्वशक्ति जैसे जन्मजात होती है वैसे अर्जित भी की जा सकती है। इनके मत में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास समुदित रूप से काव्य के मूल हेतु है। इनमें से 'प्रतिभा या शक्ति' नैसर्गिक है, 'निपुणता' लोक और शास्त्र में प्रचलित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहारों के सूक्ष्म और गभीर अध्ययन से प्राप्त होती है तथा काव्यतत्त्वज्ञों के निर्देशों के अनुसार किये गये यत्न से 'अभ्यास' की सिद्धि होती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथों में आरम्भ से ही इन सभी विषयों पर विचार प्राप्त होता हैं। अलंकारशास्त्र के ग्रंथ जहाँ एक ओर साहित्यशास्त्र के तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं वहीं यह व्यावहारिक निर्देश भी देते हैं कि काव्य रचना के प्रशिक्षु को किस तरह से अभ्यास करना चाहिये, किन-किन विषयों का अध्ययन इस कार्य में सहायक हो सकता है अथवा वे कौन-कौन से प्रचलित शब्द और व्यवहार हैं जिनको काव्य-रचना में आदर दिया जाना चाहिये आदि। उदाहरण के लिये आद्य काव्यशास्त्री भामह (५००ई.) ने सर्वप्रथम व्याकरण, छन्द:शास्त्र, कोश, इतिहासाश्रित कथा, लोकव्यवहार, तर्कशास्त्र, ललितकला आदि विषयों की सूची प्रस्तुत की है जिनका ज्ञान काव्य निर्माण में अत्यन्त उपयोगी सामग्री के रूप में ग्राह्य है। आचार्य वामन (८वी शती) ने भी काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में ऐसी उपयोगी सामग्रियों की सूची (कारिका१.३से१.२०तक) प्रस्तुत की है जिसमें भामह की सूची के अतिरिक्त नीतिशास्त्र, कामशास्त्र, राजनीति, लोकव्यवहार आदि का भी समावेश है। साथ ही काव्याङ्गों का विचार करते हुए उन्होंने पदों के स्थापन और विकल्प (अवापोद्वाप) आदि प्रयोग का विधान प्रशिक्षुओं के लिये ही किया है। इसी प्रकार देशविरुद्ध, कालविरुद्ध उल्लेखों से बचने का निर्देश, काव्यरचना के लिये आदर्श समय और स्थान का उल्लेख तथा विशेष अर्थदर्शन की प्रक्रिया भी इसी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। काव्यशास्त्र में परुष और कोमल वर्णों का निर्धारण, रीतियों की व्यवस्था आदि भी अभ्यासार्थ शिक्षापरक ही हैं। फिर भी इन तत्त्वों की चर्चा प्रासङ्गिक या गौणरूप से ही प्राप्त है। प्रारम्भिक कवियों के लिये व्यावहारिक-शिक्षापरक स्वतंत्र विचार इनमें उपलब्ध नहीं था।

राजशेखर (९००ई.) ने अपनी काव्यमीमांसामें सर्वप्रथम कवियों के लिये रचना-तकनीक की व्यावहारिकशिक्षा को स्वतन्त्र महत्त्व दिया। साहित्यशास्त्र के तात्त्विक विवेचन के साथ ही इसमें साधारण भूगोल, कवियों की प्रचलित प्रथा, ऋतुवर्णन में ध्यान देने योग्य बातें, कविगोष्ठी-वर्णन आदि विषयों की पर्याप्त पर्यालोचना की गयी। कवि के लिये उपयोगी जानकारी देने वाले विश्वकोश सा यह ग्रंथ प्रतीत होता है। फिर भी कवियों के लिये व्यावहारिकशास्त्र-शिक्षापरक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्चा यहाँ अलंकार शास्त्र के विषयों से मिला हुआ ही है, इसकी स्वतंत्रत सत्ता नही है और यह ग्रंथ अन्य अनेक विषयों को भी समान महत्त्व देते हुए ही विवेचन करता है। अत: इसे कविशिक्षा का मौलिक ग्रंथ स्वीकार करने की अपेक्षा आकर ग्रंथ मानना ही अधिक उपयुक्त है। क्षेमेन्द्र (११वीं शती) ने औचित्य-विचार-चर्चा, सुवृत्तितिलक और कविकण्ठाभरण नाम के ग्रंथो की रचना की। औचित्यविचारचर्चा अधिक अंशो में साहित्यशास्त्रपरक ग्रंथ है जिसमें औचित्य को काव्य का अन्यतम कारण बताया गया है। सुवृत्तितिलक में छन्दों के वर्णन के साथ ही संभवत: छन्दों के प्रभाव का भी वर्णन है और उसमें छन्दों की स्वतन्त्र रूपसे रसोपकारकता का संकेत दिया गया है—

'काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च ।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ।। (सु.ति.३विन्यास/७)

साथ ही किस कवि का किस छन्द पर विशेष अधिकार है इसकी गणना भी वहाँ की गयी है। कविकण्ठाभरण में कवित्व की प्राप्ति अथवा उसमें उत्कर्षप्राप्ति के उपायों का वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से यह अधिक अंशों में तथा मौलिक रूप में कविशिक्षापरक ग्रंथ माना जा सकता है। हेमचंद्र (११वीं शती) ने कविशिक्षा के उद्देश्य से काव्यानुशासन ग्रंथ लिखा जो प्राय: संग्रह ग्रंथ सा है। इसमें काव्यमीमांसा आदि से लम्बे-लम्बे अंश उद्घृत हैं। यद्यपि इसमें कविशिक्षापरक काफी सामग्री है पर यह काव्यशास्त्र की तत्त्वमीमांसा से मिली हुई है, शिक्षापरक स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। वाग्भटद्वय के ग्रंथ वाग्भटालंकार और काव्यानुशासन भी इसी पद्धति पर लिखे गये ग्रंथ हैं।

बारहवीं शती में जयमङ्गलाचार्य ने 'कविशिक्षा' नामक अपना ग्रंथ प्रस्तुत किया। पूर्णत: और स्वतंत्र रूप से कविशिक्षा पर लिखा गया यह प्रथम ग्रंथ है। इसमें एक श्लोक अणहिणामपटण के राजा सिद्धराज जयसिंह की प्रशंसा में मिलने से इसकी रचना बारहवीं शती पूर्वार्द्ध में होना सुनिश्चित है। तेरहवीं शती में विजयचंद्र ने 'कविशिक्षा' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। यह इस विषय पर गभीर और स्वतंत्र चिन्तन प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त इससे तत्कालीन इतिहास, भूगोल और मध्यकालीन भारत की साहित्यिक स्थिति की विशद् और महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। इसी शती में अरिसिंह और अमरचंद्र यति ने काव्यकल्पलतावृत्ति, परिमलटीका और काव्यकल्पलतामञ्जरी की रचना की। इन ग्रंथो का विषय शुद्ध रूप से कविशिक्षा है। परिमल की रचना यद्यपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्यकल्पलता की टीका के रूप में हुई पर इसमें स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन बहुशः दृष्ट है। चौदहवीं शती में देवेश्वर की रचना काव्यकल्पलता एवम् सोलहवीं शती में महादेव की कविकल्पलताटीका और केशवमिश्र का अलंकारशेखर इसी श्रेणी की रचनायें हैं। इनके अतिरिक्त हलायुध का कविरहस्यम्, देवेन्द्र की कविकल्पलता, गङ्गादास की काव्यशिक्षा, सूर्यशर्मा की कविकल्पलता टीका, केशव की कविजीवनम्, कृष्णकवि की चित्रबन्धः आदि रचनायें स्वतंत्र रूप से इस विषय का विवेचन करती हैं और एतत्परक साहित्य को समृद्ध करती हैं। कविकल्पलताविवेक, काव्यविशेष, कविशिक्षावृत्ति, कविता-करणोपायः आदि कुछ ऐसे ग्रंथों का उल्लेख और विवरण भी प्राप्त है जिनके रचनाकार तो अज्ञात हैं पर इनका विषय शुद्ध रूप से कविशिक्षा ही है। इस तरह कविशिक्षा का बीज भरत के नाट्य शास्त्र में ही काव्यशास्त्रः-विषय में अन्तर्भूत रूप से प्राप्त होता है। काव्यशास्त्र के अङ्गरूप में ही शनैः-शनैः संवर्द्धित होते हुए ग्यारहवीं शती तक यह महत्त्वपूर्ण एवम् पल्लवित विषय के रूप में सुप्रतिष्ठ होता है तथा तेरहवीं शती के पूर्वार्द्ध से ही काव्यशास्त्रीय चिन्तन की स्वतंत्र प्रशाखा के रूप में मान्य हो जाता है।

वैसे तो आरम्भ में कविशिक्षा का विषय काव्य-रचनोपयोगी व्यावहारिक निर्देशों तक सीमित था किन्तु सम्वर्द्धना और स्वतन्त्र सत्ता के साथ ही इसके विषयवस्तु में विस्तार होता गया। फिर भी स्थूल रूप से इसके विषयवस्तु को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) छन्दःसिद्धि—

काव्य अधिकांशतः छन्दोबद्ध है। बिना अर्थ-प्रत्यय के भी रसोद्बोधन की इनमें स्वरूपयोग्यता है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में इसका संकेत दिया है कि कौन से छन्द किन रसों या भावों के अनुकूल हैं। क्षेमेन्द्र ने भी इसका विवरण दिया है कि किन कवियों की किस छन्दरचना में विशेष क्षमता है। पर कवि-शिक्षा ने इसे मुख्य प्रतिपाद्य के रूप में अपनाया तथा शब्दार्थ से हटकर वर्ण मात्र का सहारा लेते हुए ध्वनियों के सहारे इसकी सिद्धि की सलाह दी। इसीलिये प्रायः छन्दःसिद्धि को प्रत्येक कविशिक्षा रचना ने अपने प्रथम तीन अध्यायों के अन्तर्गत ही स्थान दिया है। यह विचारणीय है कि विप्रलम्भ शृंगार रस के जितना अनुकूल शार्दूलविक्रीडित, सम्भोग-शृंगार के जितना अनुकूल शिखरिणी, कोमल प्राकृतिक चित्रण के जितना अनुकूल मालिनी आदि छंद है उतना कोई अन्य नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने ध्वनि तथा गति-यति प्रभाव से ही वे इन भावों के उद्‌बोधन में समर्थ हैं। अतः कविशिक्षा इन छन्दों में झटिति पाटव का तथा अल्पतम परिवर्तन कर एक छन्द से दूसरे छन्द में रचना करने के कौशल का प्रतिपादन करती है। इस विषय पर अत्यधिक शोध की अपेक्षा अभी भी है।

(ख) शब्द-सिद्धि—

विभिन शब्दों के प्रभाव का विश्लेषण तथा ऐसे शब्दों का अनुशासन जिनके प्रयोग से झटिति पादपूर्ति, समाससिद्धि या अलंकारसिद्धि अथवा एक से दूसरे छन्द या अलंकार में प्रवेश हो सके—यह कविशिक्षापरक साहित्य का दूसरा प्रमुख प्रतिपाद्य है। साथ ही विभिन एकाक्षरशब्दों के प्रयोग, विभिन्न शब्दों के तत्तद् अर्थों का काव्यरचना में विनियोग आदि का निर्देश प्रायः कविशिक्षा का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है।

(ग) अलंकार-सिद्धि—

इस में विभिन्न अलंकारों की झटिति उपपत्तिपरक शब्दों का व्याख्यान मिलता है। साथ ही बहुप्रचलित अलंकारों के प्रयोग-पाटव में त्वरित नैपुण्य हेतु उपाय सुझाये गये हैं।

(घ) वर्ण्य-विषय—

विभिन्न वर्णनीय विषयों के संबन्ध में ध्यान रखने योग्य बातों के अतिरिक्त किस वर्णन से कौन सा विषय अलंकृत और चमत्कृत हो सकता है इसका निर्देश भी इस शास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य है। यद्यपि कविसमय (कवि सम्प्रदाय में प्रचलित मान्यताओं) का पर्याप्त उल्लेख यत्र-तत्र उपलब्ध है किन्तु उन्हें एकत्र कर उनमें परिवर्द्धन-परिवर्तन की संभावनाओं पर विचार करना संप्रति महत्त्वपूर्ण अपेक्षा है।

(ङ) चित्रकाव्य—

चित्रकाव्यों को भले ही काव्यशास्त्र ने अधम काव्य के रूप में स्वीकार किया हो पर कवि शिक्षा के प्रमुख प्रतिपाद्यों में यह एक है। विभिन्न आकृतियों के रूप में छन्द रचना की इस विधा को कविशिक्षापरक कई ग्रंथो ने विशेष महत्त्व दिया है और इनपर सम्पूर्ण अध्याय की रचना की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के प्रतिपाद्यों से कविशिक्षा का प्रतिपाद्य सर्वथा भिन्न है और इस रूप में यह उन शास्त्रों का अङ्ग प्रतीत होता है पर यह सुविदित है कि किसी कार्य के होने में साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता का ज्ञान अनिवार्य रूपेण अपेक्षित है। इनमें भी यदि इतिकर्तव्यताज्ञान न हो तो प्रवर्तना सही रूप से नहीं हो सकती है। उक्त शास्त्रों के सन्दर्भ में कविशिक्षा को भले ही अङ्ग या साधन मात्र माना जाये पर काव्यरचनातकनीक के विशिष्ट अध्ययन के कारण कविशिक्षा को स्वतंत्र शास्त्र मानना सर्वथा उपयुक्त है। यह काव्यरचनाधर्मिता का अनुशासन होने से शास्त्र कोटि में स्वीकार्य है। काव्य शास्त्र के उपपाद्यों की झटिति उपपत्ति का प्रतिपादक शास्त्र होने से इसे नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र की तरह ही काव्यशास्त्रीय चिन्तन की तृतीय प्रशाखा के रूप में मान्य किया जाना सर्वथा उपयुक्त हो सकता है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोभाकर मित्र की काव्यदृष्टि

डा.काली प्रसाद दुबे
उपाचार्य, सं.विद्या विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी

शोभाकरमित्र द्वारा विरचित अलंकाररत्नाकर उनकी एकमात्र काव्यशास्त्रीय कृति है। साहित्यशास्त्र का यह एक प्रकरण ग्रन्थ हैं, जिसमें इसके नाम के अनुरूप ही केवल अलंकारों का ही प्रतिपादन किया गया हैं। सूत्र-वृत्ति उदाहरण और परिकरश्लोकात्मक शैली में लिखे गये इस अलंकारग्रंथ के ११२ सूत्रों में कुल १०९ अलंकारों का निरूपण किया गया है, जिनमें से ६९ अलंकार पूर्ववर्ती आचार्यों से ग्रहण किये गये हैं, शेष ४० अलंकार शोभाकर की स्वयं की कल्पना से प्रसूत हैं। पूर्ववर्तीआचार्यों में मुख्यत: शोभाकर ने भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक को अपना उपजीव्य बनाया हैं।[१] किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उन्होनें अलंकारो के लक्षणों एवं उनके उदाहरणों का ज्यों का त्यों उनके मूल स्रोत के अनुरूप ही अनुकरण कर लिया हैं, अपितु जैसा कि उन-उन स्थलों से स्पष्ट होगा, उन्होनें पुनरुक्तवदाभास, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, रूपक, समासोक्ति, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति, समाधि, सूक्ष्म, उदात्त, संकर, प्रभृतिअलंकारों के मूल लक्षणों में दोषाविष्कृति करते हुए इन के नवीन लक्षणों की सृष्टि की हैं, और तदनुरूप उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। नवीन अलंकारों की उद्भावना में तो शोभाकरमित्र ने अपूर्व कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है, किन्तु ऐसा करने में शोभाकरमित्र अकेले नहीं हैं। आचार्य भरत से लेकर अप्पयदीक्षित तक जितने अलंकार शास्त्री हुए हैं, प्राय: सभी ने नवीन अलंकारों की कल्पना की हैं। अन्यथा भरत के चार अलंकार कुवलयानन्द तक १२५कैसे हो जाते? अलंकारो की यह उत्तरोत्तर बृद्धि कोई आश्चर्यजनक बात भी नही है, क्योंकि उक्तिवैचित्र्य ही अलंकाररूप में परिणत होती हैं और उक्तिवैचित्र्य की कोई इयत्ता नहीं है, यह अनन्त हैं। अत: जिस आचार्य को जितने प्रकार के उक्ति वैचित्र्य प्रतिभासित हुए उतने प्रकार

१. द्रष्टव्य- अप्रकाशित शोधप्रबध 'शोभाकरमित्रकृत अलंकाररत्नाकर एक अध्ययन' डॉ. कालीप्रसाद दुबे, पृष्ठ२१-३०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अलकारों की कल्पना की। उक्तिवैचित्र्य की इस प्रतीति में कल्पना के धनी शोभाकर क्यों पीछे रहते? यद्यपि बीच-बीच में कुछ ऐसे भी आचार्य हुए यथा हेमचन्द्र, वाग्भट, मम्मट आदि जिन्होनें अलंकारों की बाढ़ रोकने का प्रयास किया, किन्तु वे अंशत: ही सफल हो सके।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शोभाकर के पूर्व साहित्यशास्त्र के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा रही हैं। अलंकारशास्त्र के सभी सम्प्रदाय शोभाकर के पूर्व उदभूत हो चुके थे और ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य[१] मम्मट ध्वनि सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित कर अन्य सम्प्रदाय के मतवादों को निरस्त कर चुके थे। शोभाकर जो मम्मट के कुछ काल अनन्तर ही आविर्भूत हुए इससे अप्रभावित कैसे रहते। साथ ही अपनी स्वतंत्र चिंतन प्रतिभा तर्कप्रवणता और विविधतापूर्ण वैदुष्य के कारण किसी एक आचार्य का अन्धानुकरण करना भी उनके लिए सम्भव कैसे रहता। फलत: जो विचार उन्हें उचित तथा तर्कसंगत प्रतीत हुए उसे उन्होनें विना किसी संकोच एवं दुराग्रह के पूर्ववर्ती आचार्यों से ग्रहण किया और जहाँ उन्हें इनके विचारों से असहमति प्रतीत हुई, उन्होनें अपना स्वतंत्र मत प्रतिपादित किया। अस्तु।

'शब्दार्थौ काव्यम्' यह शोभाकर का काव्यलक्षण है, अर्थात् न तो केवल शब्द काव्य हैं और न केवल अर्थ-काव्य हैं। शब्दार्थयुगल शब्द और अर्थ ये दोनों काव्य के घटक हैं। शब्द त्रिविध हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक। किन्तु अर्थ चार हैं। वाच्य, लक्ष्य, अर्थसामर्थ्यलभ्य जैसे तुल्ययोगिता आदि में औपम्य आदि और व्यंग्य। त्रिविध शब्द तथा प्रारंभ के तीनों भेदों सहित अर्थ ये काव्य के अंग, शरीर हैं, अंगी आत्मा तो व्यंग्यार्थ अर्थ का चतुर्थ भेद है, जो रस आदि हैं—

'शब्दश्च वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकत्वेन त्रिभेदोऽपि तच्छरीरैकदेशभूत: वाच्यलक्ष्यार्थसामर्थ्यलभ्यव्यंग्यतयार्थश्चतुर्भेद:। अर्थसामर्थ्यलभ्यार्थो यथा तुल्ययोगितादादौपम्यादि। तत्रार्थस्त्रिभेद: काव्यशरीरावयव: शब्दार्थशरीरत्वावत्तस्य। व्यंग्यस्तु रसादि:। काव्यजीवितहेतुभूतत्वेन तस्याङ्गित्वम्।[२]

रस को काव्यजीवितमानना नि:सन्देह ध्वनिसम्प्रदाय का ही अनुसरण है। साथ ही अर्थसामर्थ्यलभ्य अर्थ को स्वीकार करके शोभाकार ने एक नवीन विचार की प्रस्तुति की हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नवीन अर्थ के बोध के लिये वे अनुमान का आश्रय लेते है।

---

१. द्रष्टव्य- अलंकाररत्नाकर पृष्ठ१८९; २. अलंकाररत्नाकर पृष्ठ१८९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोभाकर के पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन ने रस की प्रधानता और गौणता के आधार पर काव्य के मुख्यत: दो भेद-ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य स्वीकार किये हैं। शोभाकर को भी उन्हें स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। चित्रकाव्य का इन्होंने भी निराकरण ही किया हैं। ध्वनिस्वरूप के विषय में शोभाकर का कथन है — 'यत्र तु वाच्यस्य व्यंग्यार्थ पर्यवसायितया व्यंग्यस्य प्राधान्यं न व्यंग्यगर्भता स ध्वनर्विषय:। (अलकारत्नाकर पृष्ठ८०) अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ में पर्यवसान होने में व्यंग्य की प्रधानता होती है, व्यंग्यगर्भता नहीं वह ध्वनि का विषय हैं। शोभाकर की इन पंक्तियों को ध्वनिकार का अनुवादमात्र कहा जा सकता है। ध्वनि के विषय में ध्वनिकार का कथन हैं—

'यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित: ।।

अर्थात् जिस काव्य में वाचक शब्द एवं वाच्य अर्थ गौण रहते हुए, प्रतीयमान अर्थात् व्यंग्य अर्थ को प्रधानता से अभिव्यक्त करते हैं। उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं।

गुणीभूतव्यंग्य काव्य वहाँ होता हैं, जहाँ प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही चमत्कारकारी होता है। यथा—

'तस्य प्रतीयमानस्य वाच्यं प्रति उपस्कारकत्वाद् गुणीवृत्तत्वेन अलंकार्यत्वाभावाद् अलंकारता। वाच्यस्यैवोपस्कार्यत्वेन प्राधान्याद् अलंकारता।[१]

इसी प्रसङ्ग में आगे शोभाकारमित्र गुणीभूतव्यंग्य के स्फुट नाम के भेद का खण्डन करते हैं और उसे असुन्दर नामक भेद में अन्तर्भूत मानने का पक्ष प्रस्तुत करते हैं। यथा—

'अत्र वाच्यापेक्षया व्यंग्यस्य चमत्कारकारित्वाभावात्तद्सुन्दराख्ये गुणीभूतव्यंग्यभेदेऽन्तर्भावात्किं स्फुटत्वरूपदोषोद्भावेन।.....

किन्तु गुणीभूतव्यंग्य के भेद के विषय में यह शोभाकर का अपना मत नहीं प्रतीत होता। यह तो भेदवादियों के मत में सुधारहेतु परामर्शमात्र हैं। उनके अपने मत में तो गुणीभूतव्यंग्य के भेद का अभाव ही है—

---

१. अलंकाररत्नाकर पृष्ठ८०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'तस्मात्प्रसन्नगंभीरपादरूपगूढाख्यगुणीभूतव्यंग्यभेदस्याभाव एवेति किंबहुना'[१] और भी- 'यथा च गुणीभूतव्यंग्यस्य भेदा न सम्भवन्ति तथोक्तमन्यत्रेति तत एवावधार्यम्'[२] अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य के भेद ही सम्भव नहीं हैं।

चित्रकाव्य को आनन्दवर्धन ने महाकवियों के काव्य का केवल 'प्रतिबिम्बकल्प' अथवा 'आलेखप्रख्य अनुकरण' कहा है। वह केवल काव्यानुकार अथवा वाग्विकल्प है। आनन्दवर्धन के मत में ऐसा काव्य हेय हैं।[३] फिर भी रसभावविरहित काव्य का उन्होनें चित्र भेद स्वीकार कर लिया है। इसके विपरीत अभिनवगुप्त ने चित्रकाव्य को अकाव्य ही कहा है। शोभाकर इस प्रकरण में अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए लिखते हैं— 'अलंकारो की अलंकारता तभी है, जब कोई अलंकार्यतत्त्व भी हो। अलंकार्यतत्व के न रहने पर अलंकार का निबन्धन मात्र शब्दार्थचित्रता है। इसलिए जिन लोगों का यह कथन है कि उपमा आदि अलंकार चित्र हैं, वह उचित नहीं हैं। चित्रकाव्य और अलंकार एक साथ नहीं रह सकते। यदि चित्रता (रसहीनता) है, तो अलंकार कहाँ रहेगा, वह किसको अलंकृत करेगा और यदि किसी को अलंकृत नहीं करेगा तो उसकी अलंकार संज्ञा ही क्यों होगी और यदि उसकी अलंकार संज्ञा बनती है तो अलंकार्य रसादि भी अवश्य रहेगा। तब रसादि के रहने पर चित्रकाव्य की सिद्धि कैसे होगी। शोभाकर के तर्क में यहाँ बल प्रतीत होता हैं। स्पष्टता के लिए मूलपंक्तियों को उद्धृत करना असमीचीन नहीं होगा—

'तेनालंकार्यसद्भावेऽनुप्रासोपमादेरलंकारव्यपदेश'' तदभावे तु शब्दार्थ-चित्रता। तेन यदुक्तमनुप्रासोपमादयोरलंकाराश्चित्रमिति तदयुक्तम्। चित्रत्वेऽलंकार-त्वाभावादलंकारसम्भावनिबन्धनेऽलंकारत्वे चित्रत्वानुपपत्ते:। तत्स्थितमेतदलंकार्या-भावे चित्रत्वमन्यत्र त्वलंकारव्यपदेश एवेति।[४]

इसी बात को वे संक्षेप में परिकरश्लोक के माध्यम से भी कहते हैं[५]

इह मुख्यरसदिसम्भवे स्यादुपमादौ नियमादलंकृतीत्वम् ।
रसभावविवर्जितस्य चित्रव्यपदेशो न पुनस्तदन्तिकेऽपि ।।

---

१. वही पृष्ठ८०-९१। २. वहीं। ३. भारतीयसाहित्यशास्त्र, देशपाण्डे पृष्ठ३७२।
४. अलंकाररत्नाकर पृष्ठ१९३। ५. वही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दवृत्तियाँ

काव्यशास्त्र में शब्दव्यापार के तीन भेद माने गये हैं— अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना। शब्द के उच्चारण के साथ ही साक्षात् जिस अर्थ का बोध होता है वह उस शब्द का मुख्य अर्थ अथवा वाच्य अर्थ है और वही आनन्दवर्धन के अनुसार वाक्यार्थ है।[१] जिस कारण इस वाक्यार्थ का बोध होता है, वह है अभिधा- शब्द की मुख्यवृत्ति। मम्मट के अनुसार संकेतित अर्थ का प्रतिपादन करने वाली शब्दवृत्ति अभिधा है[२] और उस अर्थ का बोधक शब्द वाचक रत्नाकरकार यहाँ भी ध्वनिकार के ही आशय का अनुसरण करते हैं। आर्थी उत्प्रेक्षा के विवेचन के प्रसङ्ग में वाक्यार्थ प्रतीति के बीजभूत जिस अर्थव्यापार की चर्चा उन्होनें की है, वह अभिधा ही हैं। यथा—

'वाक्यार्थप्रतीतिसमय एव पदार्थसमन्वयपर्यालोचनया आवर्तमानस्य हेतोरतात्विकावगतेरार्थः सम्भावनात्मक इवार्थ इत्यार्थी।[३]

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस मुख्यार्थ से काम नहीं चलता, तब उसी से सम्बन्धित एक अन्य अर्थ से काम चलाना पडता हैं। यह ध्वनिकार के अनुसार शब्द की गुणवृत्ति है और इसी को लक्षणा भी कहा गया है। ऐसे अर्थ को लक्ष्यार्थ कहा गया है, और वह शब्द जिससे इस अर्थ का बोध होता है, लाक्षणिक है। जिस वृत्ति के कारण लक्ष्य अर्थ का बोध होता हैं वह लक्षणा कही गयी हैं। यह लक्षणा दो प्रकार की होती हैं—प्रयोजनरहिता रूढा और प्रयोजनसहिता कार्या। रूढा लक्षणा में प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ का अभाव होने से कोई चारुता नहीं होती, अतः सहृदयों के हृदय को वह आह्लादित नहीं करती। वह रस की परिपोषक नहीं होती, अतः अलंकार नहीं है। कार्या उससे भिन्न होती है, वह व्यंग्य का विषय होती हैं, अतः काव्यजीवित होने से कविगण द्वारा समादृत होती हैं। इस विषय में ध्वनिकार आदि को कोई विप्रतिपत्ति नहीं हैं।[४] इसी प्रसंग में शोभाकर सादृश्य एवं सम्बन्धान्तर सम्बन्ध से भी लक्षणा स्वीकार करते हैं। पर्यायोक्त के प्रकरण में उन्होनें उपादान लक्षणा को मान्य ठहराया हैं। यथा—

---

१. आनन्दवर्धनः डॉ. रेवा प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ२४३-५५। २. काव्यप्रकाश-सूत्र१।
३. अ.र. पृष्ठ५०। ४. अ.र.पृष्ठ.३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सापेक्षत्वे तु कुन्ताः प्रविशन्तीतिवदर्थप्रतीतिर्लक्षणया न तु व्यंजनेन उपादानलक्षणाया अस्तमयप्रसंगात्।'[१] इससे स्पष्ट होता है कि लक्षणा के दो अवान्तर प्रकार उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा भी उन्हें मान्य हैं। इस सम्पूर्ण मान्यता के लिये शोभाकरमित्र ध्वनिकार के ऋणी हैं।

काव्य में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त एक व्यंग्यार्थ भी माना गया है और इसका बोध कराने वाला शब्द व्यंजक तथा व्यापार व्यंजना है। मम्मट के अनुसार लक्षणा में प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए व्यंजना व्यापार के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं हैं।[२] शोभाकर भी इसी प्रकार का मन्तव्य प्रकट करते हैं— 'फलस्य या व्यंजनतो गतिस्सा ज्ञेया ध्वनित्वव्यपदेशहेतुः।'[३] ध्वनि की हेतुभूत इस व्यंजना का स्वरूप निर्धारण करते हुए मम्मट का कथन है कि अनेकार्थक शब्द के किसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर (उससे अन्य) अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द व्यापार व्यंजना है। आनन्दवर्धन ने मुख्य और गुणवृत्ति से अतिरिक्त शब्द व्यापार को व्यंजना कहा हैं।[४] शोभाकर ने व्यंजना का प्रादुर्भाव वहाँ माना है, जहाँ वाच्यार्थ में बाधा न रहते हुए भी, शब्द से अथवा अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति होती हो। शोभाकर की निम्न पंक्तियों का आशय यही हैं—

'वाच्यस्य अबाधितत्वेन पर्यवसितत्वे व्यंजनस्य सम्भवात्' ।

उक्त तीनो प्रकार से बोधित होने वाले अर्थ वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का विवेचन वे इन पंक्तियों में करते हैं—

'यत्र तु पर्यवसिते वाक्यार्थे योऽर्थोऽलंकारो वा प्रतीयते स प्रतीयमानो व्यंग्य इत्युच्यते। अपर्यवसिते मुख्यबाधे लक्ष्यः तदभावे त्वार्थ इति सर्वत्र निर्णयः।'[५] (अ.र.पृष्ठ ५०)

गुणालंकारनिरूपण

शोभाकर के पूर्ववर्ती आचार्य ध्वनिकार काव्यजीवितभूततत्त्व रस की स्थापना कर चुके थे और गुण को उन्होनें रसधर्म के रूप में निरूपित किया था और अलंकार को शब्दार्थ का धर्म माना था। ध्वनिकार की पंक्ति है—

---

१. अ.र.पृष्ठ८१.

२. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनात्रापरा क्रिया ।। (का.प्र.सूक्त२३)

३. अ.र.पृष्ठ.६६। ४. अ.र.पृष्ठ५०।

५. विशेष द्रष्टव्य- पं.रेवाप्रसाद द्विवेदी-आनन्दवर्धन पृ.२५५-८४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।

अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्या कटकादिवत्।। (ध्वन्यालोक-२।६)

यद्यपि आनन्दवर्धन के पूर्व वामन, दण्डी, भामह आदि को गुण और अलंकार दोनों की शब्दार्थधर्मता ही इष्ट है। दोनों में भेद यह है—गुण शब्दार्थों के नित्यधर्म हैं और अलंकार अनित्य धर्म। वामन का गुण है 'काव्यशोभा को उत्पन्न करने वाला धर्म, (काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः) और अलंकार हैं उस काव्यशोभा के अतिशय के हेतु, (तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः) गुण अकेले ही काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न कर सकते हैं, अलंकार नहीं। वामन के पूर्ववर्ती भामह और उसके टीकाकार भट्टोद्भट गुण और अलंकार में भेद नहीं मानते, उनमें भेद मानना भेड़चाल मात्र हैं। यथा—'समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः। ओजप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्यास्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां स्थितिः।'

मम्मट ने भट्टोद्भट के इस मत को मान्यता नहीं दी और वामन के मत में से केवल गुणों की ही अनिवार्यता उन्होनें स्वीकार की। गुण शोभाजनक नहीं उत्कर्ष के हेतु हैं और वे शब्दार्थधर्म नहीं, आनन्दवर्धन के अनुसार ही रस के धर्म हैं। अलंकार अवश्य शब्दार्थ के धर्म हैं—

'ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।। (का.प्र.सूत्र-८६)

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽगद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। (का.प्र.सूत्र८७)

शोभाकर आनन्दवर्धन के मत का अवलम्बन करते हैं, और ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों को रस का धर्म बताते हैं। ये गुण रस में अनिवार्य रूप से रहते हैं। वे कहते हैं— 'काव्यजीवितहेतुभूतत्वेन रसादेः अङ्गिमत्वम्। तद्गताश्च ओजप्रसादादयो गुणाः'। अलंकार उस काव्यजीवित का शोभाधायक तत्त्व हैं। इसके साथ उसका सबंध उपस्कार्य-उपस्कारक का हैं 'तस्यात्मभूतस्य रसादेः उपस्कारकत्वेन गताः अलंकाराः।' किन्तु चित्रकाव्य के निराकरण में शोभाकर ने एक और रोचक बात कही है कि अलंकार्य-अलंकार का सम्बन्ध अनिवार्य हैं। इस प्रकार अलंकार रस के नित्यधर्म हो जाते हैं। ध्वनिकार ने भी अलंकार की शब्दार्थनिष्ठता उपचार से ही माना हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तिनिरूपण

अलंकारशास्त्र में वृत्ति, रीति, मार्ग, संघटना तथा शैली शब्द प्रायः समानार्थक हैं।[१] वृत्ति शब्द का प्रयोग आचार्य उद्भट ने किया हैं। उन्होनें अपने काव्यालंकारसारसंग्रह ग्रंथ में उपनागरिका, परुषा तथा कोमला- इन तीन वृत्तियों का वर्णन किया है। इन्हीं वृत्तियों को वामन ने वैदर्भी,गौड़ीया तथा पांचाली नाम से अभिहित किया हैं।[२] कुन्तक[३] तथा दण्डी[४] का मार्ग तथा आनन्दवर्धन की संघटना एक ही तत्व है जिसे आधुनिक समीक्षकों ने शैली का नाम दे दिया है। आनन्दवर्धन ने संघटना के तीन असमासा, मध्यमसमासा, तथा दीर्घसमासा रूप से माना है और उसे गुणों का आश्रित बताया हैं—

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता

तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ।

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।। (ध्वन्यालोक ३।५-६)

शोभाकरमित्र भी ध्वनिकार का अनुसरण करते हुए वृत्ति को गुणों के माध्यम से (गुणों के आश्रित रह कर) रसादि का परिपोषक माना है और उसे वर्णसंघटना बतलाया हैं—

'वृत्तिश्चानुगुण्येन रसादिपरिपोषकं वर्णानाम्। सा च सुकुमारासुकुमार-मध्यमवर्णारब्धत्वात्त्रिविधा। तत्र सुकुमाराणां श्रृंगारकरुणयोः परिपोषकत्वम्। असुकुमाराणां वीररौद्रवीभत्सेषु मध्यमानां हास्यभयाद्भुतशांतिषु।' (अ.र.पृष्ठ४)

इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि शोभाकरमित्र काव्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वों के मर्मज्ञ एक प्रकाण्ड आलंकारिक हैं, तथापि काव्यात्मतत्त्व के रूप में उन्हें रसादि ही इष्ट हैं, जो व्यंग्य है। अलंकार तो उसके उपस्कारकमात्र हैं। अतः अलंकारों का निरूपण करने पर भी उन्हें अलंकारवादी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वे ध्वनिवादी आचार्य हैं और आनन्दवर्धन के मत के निर्भान्त परिपोषक हैं।

---

१. काव्यप्रकाश पृष्ठ ४०५ सम्पादित आचार्य विशेश्वर

२. का.प्र.सूत्र ११०की वृत्ति- 'एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी, गौडी पांचालाख्या रीतयो मताः।'

३. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थान हेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकाः ।। वक्रोक्ति.१।२४।।

४. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ध्येते प्रस्फुटान्तरौ ।। आव्यादर्थ१।४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेपालराष्ट्रे बौद्धदर्शनस्याध्ययनाध्यापनयोर्व्यवस्था तद्विश्लेषणं च

डॉ. रमेश कुमार द्विवेदी

अध्यक्ष, बौद्धदर्शन विभाग:
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय:, वाराणसी

विश्वेऽस्मिन् एशियाखण्डमेव तादृशं स्थलं वर्तते, यत्रनकेषां धर्माणां सम्प्रदायानां प्रादुर्भावोऽभवत्। पारसीयहूदी-ताओ-कनफ्यूसियन-बौद्ध-जैनादयो धर्मा अस्मिन्नेव पावने भूमण्डलेऽभवन्निति सर्वेषां नास्ति अज्ञातचरम्। अस्मिन्नेव स्थल विशेषे ईशवीयकालत: प्राय: षड्शतवर्षपूर्वमेव दार्शनिक-वैचारिक-सांस्कृतिकक्रान्तीनां प्रादुर्भाव: समजनि इति न तिरोहितं विदुषाम्।

तत्रापि नेपालस्य दक्षिण पश्चिमभूभागे लुम्बिनीवने यो हि महापुरुषो जन्म लेभे स एव समग्रस्य विश्वस्य पथप्रदर्शक इति वयं सगौरवं वक्तुं शक्नुम:। स च शाक्यमुनिर्गौतमो बुद्ध: विशिष्टाया: करुणाया: प्रतीकताया मानवतायाश्च परिपोषक:, अहिंसा सत्ययोमूर्तिमान् इव इति तज्जीवने एव तस्य यश: चतसृपि दिक्षु प्रसारं लेभे। तस्य धर्मे नासीद् विरोध: कस्यापि सद् विचारस्य कस्यापि जीवस्य नासीत् अहितचिन्तनम्। अस्मिन् धर्मे "बहुजनहिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय" भावना जागर्ति। समन्वयात्मकविश्वकल्याणस्य भावना आसीत्। जनसामान्यानां दु:खेन परितप्तोऽसौ गौतमबुद्ध अस्माद् किं वा स्वीयराज्यात् लुम्बिनीत: स्वयं युवकाले व्यक्तिगतसुखं परित्यज्य समग्रपरितप्त-मानवताया: समुद्धाराय महाभिनिष्क्रमणं चकार। ततश्च तेन निर्वाणाख्यं महत्तमं तत्त्वजातं लब्धं तस्य च निर्वाणस्य प्राप्तये अद्यापि असंख्यका: जना: सततं साधनायां सन्तीति महद्गौरवमस्माकम् तेन चासौ बुद्धौ भगवत् शब्दवाच्य इति जनताया विदुषाञ्च कृतज्ञताया: फलम्। तस्यैव भगवतो बुद्धस्य वचनामृतै: स्वीयजीवनपद्धतिं विनिर्धारयन्तो न केवलं जना अपितु अनेकानि राष्ट्राण्यपि विद्यन्तेतमामिति तस्य लोकोत्तरं माहात्म्यमद्यापि द्रष्टुमनुभवितुं वा शक्यते। पुनश्च तदानीमपि एतादृशं कालजातं समागमत यत्र तदीयोपदेश-प्रभावेण प्रभाविता:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्तः अशोक-मिलिन्दशालिवाहन-कनिष्क-हर्षवर्धन सदृशाः महान्तः प्रशासकाः स्वीयवैभवैः तं धर्मं वर्धितवन्तः तथा च समस्त मोहमददोषजातान् परित्यज्य लोकहिततत्पराः सन्तः पवित्रं जीवनमतिवाहितवन्तः। नेपालात् प्रादुर्भूतस्य तस्य भगवतो बुद्धस्य अयं सन्देशः यूनान-तूरान-चीन-जापानादिशासकानामपि शिरोधार्योऽभवत्। अस्मिन्नाधुनिकेऽपि युगे बुद्धोपदिष्टमार्गस्यानुयायिनां संख्या हिन्दूनामपेक्षया विपुला वर्तते। ते च बौद्धाः इमं नेपालं पुण्यभूमिं बुद्धभूमिं तीर्थभूमिं च मन्यन्ते। स च सुगतः एकोनविंशतिवार्षिके वयसि स्वीयं राजभवनं परित्यज्य तपसि प्रवृत्तः वनं जगाम। कालान्तरे भारतस्य पुण्यभूमौ गया क्षेत्रे तपस्तेपे षड्वर्षाणि। तदानीं स भगवान् सम्बोधि प्राप्नोत्। अष्टाविंशति दिनानि स समाधिसुखे निमग्नोऽभवत्। तच्च महत्सुखं बौद्धवाङ्मये बहुत्र वर्णितं वर्तते। तच्च विज्ञानं यद्धितेनालाभि तदन्येभ्यो दातुं समुद्यतोपि सहसा संशयपदवीमाप्नोत्। कृतः मया काठिन्येन यो हि धर्मः लब्धः व्यर्थं तस्य प्रकाशनम्। रागद्वेषादिभिः संपृक्तजनतायाः कृते न सुबोधोऽसौधर्मः। प्रतिस्रोतगामी सूक्ष्मगभीरः दुर्बोधः धर्मः रागादिदोषैः रञ्जिताः तमसा आवृत्ता जनाः द्रष्टुं न शक्नुवन्ति इति। एतस्य मज्झिमनिकाये इत्थं वर्णितं वर्तते—"अधिगतो खो म्यायं धम्मो गम्भीरो दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो पणीतो अतक्कावचरो निपुणो पण्डितवेदनीयो। आलयरामा खो पनायं पजा आलयरता आलयसम्मुदिता। आलयरामाय खो पन पजाय आलयरताय आलयसम्मुदितायं दुद्दसं इदं ठानं यदिदं-इदप्पच्चयतापटिच्च-समुप्पादो। इदं पि खो ठानं दुद्दसंयदिदं सब्बसङ्खारसमथो सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बानस्स। अहं चेव खो पन धम्मं देसेय्यं, परे च मे न आजानेय्युं, सो ममस्य किलमथो, सा ममस्स विहेसा ति। तथा चेयं गाथा—

"किच्छेन मे अधिगतं, हलं दानि पकासितुं ।
रागदोसपरेतेहि, नायं धम्मो सुसम्बुधो ।।

पटिसोतगामि निपुणं, गम्भीरं दुद्दसं अणुं ।
रागरत्ता न दक्खन्ति, तमो खन्धेन आवुटा ति ।।

एवं सत्यपि तदानीं बुद्धस्यानौत्सुक्यं विलोक्यं ब्रह्मा तत्र सहसा प्रकटो वभूव। स च निवेदयामास यल्लोकस्य समुद्धाराय भवता अवश्यमेव हि धर्म उपदेष्टव्यः। ततः परमेव भगवान् बुद्धः वाराणसीमागत्य धर्मचक्रप्रर्वतनमकरोति इति परम्परावादिनां मतम्। ततस्तु बुद्धः लुम्बिनीं आजगाम। तत्र च स्वीयं भ्रातरं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नन्दं भिक्षुसंघं नेतुं तेन महान् यत्नः कृतः। प्रातः एव भिक्षार्थं तद्गृहं गतोऽपि भिक्षामप्राप्यैव प्रत्यावर्तित इति विज्ञाय नन्दः स्वकीयां भार्यां परित्यज्य गन्तुमुत्सुकः। नन्दस्य तदानीन्तनगमनस्य वर्णनं महाकविना अश्वघोषेन कियता मनोहररुपेण व्यधायि तद्यथा—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष ।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ नतस्थौ तरस्तरङ्गप्विव राजहंसः ।।

कियद् गौरवमस्य देशस्य, यत्र भगवान बुद्धोआविर्वभूव। यो हि समग्रस्य जगतः निर्वाणाय कृतसंकल्पो वर्तते। महायानपरम्परायां तु तावद् बुद्धः स्थास्यति यावदस्य समग्रस्य प्राणिजातस्य निर्वाणं न भवति। तादृशस्य बुद्धस्य जन्मभूमौ तदीय दर्शनस्याध्यापनव्यवस्था पूर्णरुपेण अद्यावधि नासीदिति च खिद्यते मादृशानां मानसम्। किन्तु इदानीमत्रस्थैः पदाधिकारिभिः महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालये बौद्धदर्शनस्य अध्ययनाध्यापनयोः व्यवस्था सत्र १९९२-९३ तः प्रारब्धम्। सौभाग्यं समग्रस्य बुद्धपरम्परावादि समूहस्य।

महेन्द्रसंस्कृतविश्वविद्यालये संस्कृत सम्मेलने गमनेन मया ज्ञायते यदत्र हस्तलिखितानां बौद्धग्रन्थानां महान् राशि अस्तीति। तेषां ग्रन्थानां सम्पादनं प्रकाशनञ्च यावत् कालपर्यन्तं न जायते तावत् सर्वेऽपि तदीय-ग्रन्थाध्येतारो वञ्चिता एव भवन्तीति। सम्प्रति महेन्द्रविश्वविद्यालयस्य बौद्धदर्शन विभागः तेषाममूल्यानां ग्रन्थरत्नानां प्रकाशनं विधास्यति। तेषां प्रकाशने सहयोगाय वयं भारतवासिनः विशेषतः सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य बौद्धदर्शन विभागः सर्वदा तत्परो वर्तते।

नेपालगमनेनेतद् विज्ञातं यत् बौद्धअध्येता श्रीमान् वी.एच. हड्रसन महोदयः १८३३तः १८४३ वर्ष पर्यन्तमिह स्थित्वा विपुलं बौद्धसाहित्यं संगृहीतवान्। तेन संग्रहीताभ्यः ग्रन्थपोटलिकाभ्यः षड्अशीति (८६) पोटलिका वङ्गस्य एशियाटिकसोसाइटि इत्याख्य संस्थायै प्रदत्ताः। पञ्चाशिति (८५) पोटलिकाः रायल एशियाटिक सोसायटी इत्याख्य लन्दनस्थ संस्थायै प्रदत्ताः। त्रिशत् (३०) पोटलिकाः भारतीयकार्यालयपुस्तकालयाय लन्दनस्थाय प्रदत्ताः। सप्त (७) पोटलिकाः वेडलिन पुस्तकालयाय यो हि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय वर्तते तस्मै प्रदत्ताः। चतुः सप्तति एकशतोत्तर (१७४) पोटलिकाः एशियाफिंग सोसाइटी इत्याख्यसंस्थायै प्रदत्ताः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हन्त। एतावन्तो बौद्धग्रन्था अस्मात् देशात् गता इति विज्ञाय कस्य बौद्धधर्मावलम्बिनः बौद्धग्रन्थानां अध्येतुः मनसि दुःखं न भवेत ततः परमपि अद्यावधि ये ग्रन्थाः सन्ति अत्र तेषां प्रकाशनं विधीयते वा? न खलु नेपालेन अपवादं विहाय कश्चनापि ग्रन्थः प्रकाशितः।

इयं नेपालभूमिः, तत्रापि विशेषतः काष्ठमण्डवस्तु बौद्धग्रन्थानां संरक्षणभूमि वर्तते। यदा भारते मुस्लिमानाम् आक्रमणं वभूव तदानीं ये विद्वासंः ततः पलायिता ते अत्रैव आगत्य ग्रन्थसंरक्षणं अकुर्वन्। दशमशताब्दौ यदा तिब्बतं प्रति भारतीया विद्धांसौ जग्मुः तदानीं नेपाल एव तेषां मार्ग आसीत। अत्रैव सहस्राधिक-बौद्धग्रन्थानां तिब्बती भाषायां अनुवादो वभूव। यदा च नालन्दा विश्वविद्यालयः बख्तियारखिल्जीनामकेन मुस्लिम आततायिना प्रज्वालितः द्वादशशताब्दीं तदानीं ये ग्रन्थां अवशिष्टाः तेऽपि अत्रैव आनीय तैः विद्वद्भिः संस्थापिताः। त एव च ग्रन्था अद्य विश्वस्मिन् प्रकाश्यन्ते पठ्यन्ते पाठ्यन्ते च।

तादृशे महनीये देशे बुद्धधर्मदर्शनयो अध्ययनाध्यापनाय यो हि प्रयासो विधीयमानो वर्तते। या च जागर्तिं इह बौद्ध विद्याध्ययनाय सम्प्रति दृश्यते तेन वयं नितरां प्रसीदामः। भगवतो बुद्धस्य आविर्भावः संसारस्य आध्यात्मिकपथे कियान् महत्त्वपूर्ण उपलब्धिरासीत् तस्यानुमानस्तु विश्वस्य असंख्यकान् तदनुयायिनों विलोक्य सहजतया कर्तुं शक्यते।

बौद्ध विद्याया अध्ययनाय नेपालजनमानसे या जिज्ञासा समुत्पन्ना विद्यते, तेन वयं भारतवासिनो नितान्तमुत्साहिताःस्म अस्मिन् विषये सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयस्य बौद्ध विद्या अध्ययन प्रमुखरुपेण अहं सर्वविधसहायतायैः संकल्पं करोमि।

नेपाले परम्परागत बौद्ध धर्मानुयायिनः सन्ति। किन्तु महनीय शास्त्रीयपरम्परायाः ज्ञानाभावेन शनैः-शनै ह्रासतां गच्छतीति बौद्धधर्मस्य, बौद्धकर्मकाण्डस्य, बौद्धदर्शनस्य च ज्ञानं तेषां कृते नितान्तमावश्यकं प्रतिभाति। पाठ्यक्रमे बौद्धागम, बौद्धतन्त्र, बौद्धन्याय, बौद्धयोगनाञ्च समावेशः कर्तव्यः।

बौद्धविद्यायाः मूलग्रन्थाः पालिसंस्कृतभाषयोः विद्यन्ते। यथा पाश्चात्यदेशेषु तथा च भारतस्याधुनिकविश्वविद्यालयेषु बौद्धविद्यायाः यादृशः पाठ्यक्रमो वर्तते तादृक् पाठ्यक्रम इह नेपाले महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालये नास्ति। भारतस्यआधुनिक विश्वविद्यालयेषु विश्लेषणप्रधान पद्धतिर्वर्तते यो हि बौद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मदर्शननृत्यशिल्पादयः सांस्कृतिकतत्त्वानामेवाध्यापनं कारयति। तया पद्धत्या परम्परागत बौद्धविद्यायाः मूलोच्छेद एवाभवत् इति दौर्भाग्यमस्माकम्। तेषु विश्वविद्यालयेषु ये पठन्ति ते केवलं विश्लेषणमेव कर्तुं पारङ्गताः जायन्त नतु विषयं सम्यक् रुपेण जानन्ति। यथा प्रमाणवार्तिक विषये ते वदन्ति सम्यक् रुपेण इतिहासस्य विश्लेषणं कुर्वन्ति, किन्तु तत्र किमस्ति तत् न विदन्ति। अत एव सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय सदृशः एवं महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालयस्य पाठ्यक्रमः निर्धारितोऽस्ति। अध्यापकानां चयनेऽपि परम्परागताध्येतारः डॉ. काशीनाथ न्योपाने महोदयस्य चयनं जातं। यादृशं भारतस्य आधुनिक विश्वविद्यालेषु बौद्धविद्यायाः अध्ययनं जायते तत्र बौद्धशिल्प, बौद्धस्थापत्य, बौद्धाचार विचार, बौद्धनृत्य, बौद्धजीवन दर्शनादीनामेव विश्लेषणेन अध्ययनेन चिन्तनेन वा परम्परागत विद्यायाः ते विमुखा सञ्जाता इति अत्र नेपाले सौभाग्यात् न तथास्ति इति अहं जानामि।

अत्र महेन्द्र विश्वविद्यालये पूर्वस्नातकेऽपि अध्ययनं भवतीति समीचीनम्। आधुनिकविश्वद्यालयेषु यद् हि एम.ए. कक्षासु पाठ्यते तदिह पूर्वस्नातक कक्षायां पाठयितुं शक्यते।

सम्प्रतिं सन्ताक स्नातकोत्तरयोः कृत्ते सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयादेव प्रायः पाठ्यक्रमः प्रचलति।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

१. बौद्धधर्मदर्शन—आचार्यनरेन्द्रदेव
२. मज्झिमनिकाय—देवनागरीलिपि
३. खुद्दकनिकाय—देवनागरीलिपि
४. बौद्धदर्शनमीमांसा—आचार्यबलदेवउपा.
५. बुद्धचरितम्—महाकविअश्वघोषविरचित
६. सौन्दरनन्द—महाकविअश्वघोषविरचित
७. ललित विस्तर—महाकविअश्वघोषविरचित
८. बौद्धधर्म दर्शन का इतिहास डा.जी.सी. पाण्डेय
९. धम्मपद।
१०. भारतीय दर्शन—आचार्यबलदेव उपा.
११. भारत का इतिहास।
१२. विश्व का इतिहास।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंगाल के प्राचीन बौद्धविहारों में श्रमणों के नियम और शिक्षा व्यवस्था

श्री षष्ठीपद, चक्रवर्ती
प्राध्यापक, के.बौ.वि.संस्थान,
चोगलमसर, लेह, लदाख

बौद्ध युग में शिक्षा भिन्न प्रकार की होती हुई भी भारत की एकात्मकता के साथ मिलती थी। बौद्ध विहार केन्द्रिक शिक्षा व्यवस्था के साथ ही बाह्यजगत् से शिक्षा ग्रहण के भी माध्यम बने हुए थे। प्राचीन बङ्गाल में शिक्षा के अनेक विषय जानने को मिलते है। उस समय की शिक्षा व्यवस्था का भार बौद्ध भिक्षुओं के ऊपर ही था। भिक्षु निर्बाध रूप से शिक्षा दे सके इसके लिए बङ्गाल के विभिन्न स्थानों में नालन्दा विहार की तरह विहारों का निर्माण किया गया था। इन सभी विहारों में असंख्य भिक्षु दूसरे प्रान्तों से आकर शिक्षा ग्रहण करते थे।

नागार्जुन कोण्डालिपि के द्वारा ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में ही बङ्गाल में बौद्धविहारों का निर्माण हो चुका था। बङ्गाल थेरवादी परम्परा के भिक्षुओं का केन्द्र था। ये सम्भवत: तीसरी और चौथी ई.पू. के रहे होगे। इसके पहले भी इस देश में मौर्ययुग में उत्तर बङ्गाल प्राचीन पुण्डवर्धन नाम से विख्यात क्षेत्र में भी बौद्धविहार थे। यह महास्थान गड़लिपि के द्वारा जाना जाता है। बाढ़ और अग्नि आदि से खाद्यान्न की क्षति होने पर विहारों में एकत्रित खाद्य सामग्री आम आदमी को दी जाती थी। पूर्वबङ्गाल में जो आज बङ्गलादेश के रूप में जाना जाता है, वहाँ पर अनेक विहार थे। इसका ज्ञान हमे गुनाइघट लिपि से मालुम होता है। वन्यगुप्त ने ५०८ गुप्ताब्द में आचार्य शान्तिदेव के द्वारा निर्मित महायान सम्प्रदाय बौद्धविहार के लिए भूमिदान किया था।

चीनदेश से जो सब भ्रमणकारी भारत वर्ष में आये थे उन लोगो के यात्रा वृत्तान्तों से जानकारी मिलती है कि कार्जङ्गल, समतट, पण्डुवर्धन और ताम्रलिप्ति (वर्तमान में तमलुक) में बहुत सारे बौद्धविहार और विद्यालय थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतिहासकारों ने कार्जङ्गल को वर्तमान में राजमहल, पण्डुवर्धन को वगुड़ा जिला या उसके नजदीक कोई स्थान, तमतर विहार को त्रिपुरा या नोयाखाली जिला, कर्ण सुवर्ण को मुर्शिदावाद जिला और ताम्रलिप्ति को (वर्तमान मे तमलुक) मेदिनीपुर जिला के रूप में बताया है।

युवाङ्च्वाङ् (६३०-६४० ईस्वी) बङ्गाल में आकर कार्जङ्गल में ६-सात बौद्धविहार और तीन सौ भिक्षुओं को रहते हुये देखा था। उन्होंने पण्डुवर्धन में करीब तीस बौद्धविहार देखे थे जिनमें हीनयान और महायान सम्प्रदाय के लगभग तीन हजार भिक्षु रहते थे। युवाङ्गच्वाङ् ने राजधानी पुण्डवर्धन के समीप बौद्धविद्या निकेतन का भी उल्लेख किया है। जिसमें एक बहुत बड़ा सभा कक्ष और दो मञ्जिला इमारत थी। वहाँ पर सात सौ महायान भिक्षुओं का निवास स्थान भी था, पूर्व भारत के अनेक भिक्षु यहाँ आकर बौद्धविद्याओं का अध्ययन अध्यापन करते थे। उस बौद्ध विद्या निकेतन का नाम भासुविहार था। कर्णसुवर्ण में भी बौद्धों का बहुत प्रभाव था। यहाँ तीन विहारों में देवदत्त सम्प्रदाय के भिक्षु थे। उनके सिद्धान्त के अनुसार दुग्धपान निषेध था। यहाँ भी राजधानी के समीप 'रक्तवीति' या 'रक्तमृत्तिका' (उस मे थोड़ा सन्देह है कि वास्तव में क्या नाम है) नाम का एक बौद्धविद्यानिकेतन था, जिसमें बहुत दूर-दूर से प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु आकर रहते थे। चीन देश के भिक्षुओं के लिए श्रीगुप्त ने एक बौद्धविहार का निर्माण कराया था जिसका उल्लेख इत्सिङ् के ५६ बौद्ध भिक्षुओं से सम्बन्धित ग्रन्थ में है। इस विहार का नाम 'मृगशिखावन विहार' था। प्रसिद्ध इतिहास विद् डॉ. बीरेन्द्र चन्द्र गांगुली ने इस विहार का स्थान मुर्शिदावाद जिला में उल्लेखित किया है।

चीनी भ्रमणकारियों के अनुसार समतट में भी बौद्धधर्म का प्रभाव बहुत अधिक था। सुवाङ्च्वाङ् ने वहां पर तीस बौद्धविहार और थेरवादी सम्प्रदाय के दो हजार भिक्षुओं को रहते हुये देखा था। Hwuilun ने इसे एक प्रमुख बौद्धशिक्षा केन्द्र माना है। सेङ् चुङ् ने अपनी विवरणों में लिखा है कि समतट के बौद्ध राजा 'राजभट्ट' एक महान धार्मिक और त्रिरत्न के उपासक थे।

उपरोक्त चीनी यात्री के यात्रावृत्तान्त से यह ज्ञात होता है कि इन सब स्थानों में से ताम्रलिप्ति (वर्तमान में तमलुक) ही संस्कृत भाषा और बौद्धधर्म दर्शन के अध्ययन के लिए सबसे उत्तम स्थान था, तत्कालीन भौगोलिक पथनिर्देश से ज्ञात होता है। चीन से आने के लिए समुद्र पथ से ही भारत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष में आना होता था, और यही से जहाज में चढ़ना होता था। सर्व प्रथम ताम्रलिप्ति में ही उतरना होता था। इसका ज्ञान हमें हुईलन (Hwilun) के मार्ग निर्देश से होता है। फाहियन ने दो वर्षों तक ताम्रलिप्ति में रहकर सूत्रग्रन्थों का अध्ययन किया था, और बुद्धमूर्त्ति का चित्रण किया था, उनके समय में यहाँ पर लगभग २२ बौद्धविहार थे और सभी विहारों में बौद्धभिक्षु रहते थे। युवाङ्च्वाङ् ने दस विहार और एक हजार भिक्षु देखे थे। यहाँ पर हाङ् नामके एक महायानी बौद्ध भिक्षु ने बारह वर्ष तक निवास कर संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था, भिक्षुशीलप्रभा ताम्रलिप्ति में तीन साल तक संस्कृत भाषा सीखने के लिए रहे थे। Hiun-Ta यहाँ एक वर्ष तक संस्कृत भाषा सीखने के लिये रहे। युयां-चुयां का एक विद्यार्थी यहाँ बारह वर्ष तक रहा और संस्कृत भाषा का बहुत बड़ा विद्वान् बना। इत्सिङ् ने वहाँ जहाज से उतर कर उसका दर्शन किया और ताम्रलिप्ति में पांच मास तक रहकर भाषा सीखकर उनके साथ भारत वर्ष के और बौद्धतीर्थ स्थलों के दर्शनार्थ गया। इत्सिङ् ने अपनी यात्रा विवरणी में भाराहा विहार की शिक्षा व्यवस्था और अनुशासन के विषय में लिखा है। उन्होंने अपने विवरण में यह भी उद्धृत किया कि उस समय ताम्रलिप्ति में पाँच बौद्धविहार थे।

पाल राजाओं के समय में बङ्गाल में अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण हुआ, जिनमें धर्मपाल का सर्वाधिक योगदान रहा। उनके द्वारा निर्मित मुख्य विहारों में से मगध में विक्रमशिला विहार, विरेन्द्र सोमपुर विहार, बङ्गाल में विक्रमपुरी विहार, पहाड़पुर के ग्वाल विहार प्रमुख हैं। सत्यपीर टीले के पुरातात्विक उत्खनन से यहाँ एक बहुत बड़े बौद्धविहार की जानकारी मिली है। इस विहार में भिक्षुओं के निवास के लिए छोटे-छोटे दौ सौ कमरे निकले है, और प्रत्येक कमरे में मूर्ति रखने की भी व्यवस्था थी। पुरातत्विकों का अनुमान है कि इस विहार में लगभग एक हजार भिक्षु रहते थे और विहार के समीप सत्यपीर टीले में एक बौद्ध तारादेवी के बड़ा मन्दिर भी प्रकाश में आया है। उत्खनन से धर्मपाल के द्वारा निर्मित सोमपुर विहार के भिक्षुसंघो के नामाङ्कित कुछ शिलापट्ट भी मिले है, जिनमें वीर्य्येन्द्रभद्र नाम के समतट-निवासी भिक्षु ने सोमपुर विहार को एक बुद्धमूर्ति दान में दी थी। सम्भवत: वीर्य्येन्द्रभद्र का काल दशवीं शताब्दी रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। नवमी से ग्यारवीं शताब्दी तक इस विहार को देश-विदेश में बहुत अच्छा माना जाता था। तिब्बती इतिहास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से ज्ञात होता है, कि आचार्य बोधिभद्र इस विहार में रहते थे, आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान अतीस ने इस विहार में कुछ दिन रहकर इस विहार के दूसरे आचार्यों के सहयोग से आचार्य भाव विवेक द्वारा लिखित 'माध्यमिकरत्न प्रदीप' का अनुवाद किया था।

तिब्बती शास्त्र (तेङ्गुर) के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि विक्रमपुरी विहार बङ्गाल में था आचार्य कुमारचन्द्र ने इस विहार में रहते हुये एक तन्त्र ग्रन्थ लिखा था, और इन्द्रभूति की पुत्री लीलावज्र और तिब्बती श्रमण पुण्यध्वज ने मिलकर उस तान्त्रिक ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था। चीनी इतिहासकार प्राग-सामजन्-जां ने लिखा है कि त्रैकुटक विहार बङ्गाल में था, इस विहार में आचार्य हरिभद्र ने राजाधर्मपाल के अनुरोध पर अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की आचार्य नागार्जुन और मैत्रेयनाथ के सिद्धान्तों के आधार पर एक टीका लिखी थी, वह टीका अभी भी संस्कृत में उपलब्ध है और अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता पर सबसे अच्छी टीका मानी जाती है।

विक्रमशिला विहार के मगध में स्थित होने पर भी यहाँ अनेक आचार्य और भिक्षु बङ्गाल से आकर रहते थे। आचार्य जेतारि ने (९४०-९८०) ईस्वी में विक्रमशिला विहार से राजपण्डित की उपाधि प्राप्त की थी। विक्रमशिलाविहार में अध्यापक के रूप में रत्नकीर्त्ति, रत्नवज्र, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नाकर शान्ति, यामारी आदि आचार्यों की गणना ख्यातिलब्ध विद्वानों में होती थी। राजा रामपाल ने जगद्दल विहार निर्माण कराके उसमें अवलोकितेश्वर और तारामूर्त्ति की स्थापना की थी। उक्त विहार बङ्गाल और करतोया नदी के संगम पर स्थित रामावती नगर में निर्मित था ऐसा इतिहासकारों का मत है। आचार्य विभूति चन्द्रदानशील, मोक्षाकरगुप्त, सुभाकरगुप्त, धर्माकरगुप्त आदि प्रसिद्ध आचार्य इस विहार में रहते थे। तिब्बती विद्वान् इस विहार में आकर इन आचार्यों की सहायता से संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद करते थे।

चीनी भ्रमणकारी प्राग-साम-जन्-जां ने अपने यात्रा वृत्तान्त में लिखा है कि चटगांव के पण्डित विहार में तन्त्रविद्या का अध्ययन होता था। इस विहार के भिक्षु तिलिपा तन्त्र विद्या के प्रसिद्ध आचार्य थे, यह उनके शिष्य नाड़पाद की तन्त्र विद्या में ख्याति से ज्ञात होता है। तिब्बती इतिहास से ज्ञात होता है कि पट्टी केरक नगर में एक विहार था, इस विहार में बैठकर आचार्य नाड़पाद ने वज्रपाद सार संग्रह ग्रन्थ लिखा था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस समय इन सब विहारों को सुरक्षित रखने के लिए और भिक्षुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राजाओं से दान मिलता था, जैसे 'मृगशिखावन' विहार के खर्च हेतु श्रीगुप्त ने वीस ग्राम दान में दिये थे, कृषि योग्य जमीन की आय से ही विहारों का खर्च चलता था, इससे ज्ञात होता है कि उस समय इन विहारो के आर्थिक व्यय का सम्पूर्ण भार राजाओं और धार्मिक जनता द्वारा दिये दान से ही चलता था।

चीनी यात्री इत्सिङ् ने अपनी यात्रा वृत्तान्त में भारा विहार के विषय में विस्तार से उल्लेख किया है, उस समय भिक्षुओं की जीवन प्रणाली और शिक्षा आदि के विषय में ज्ञात होता है कि भिक्षुओं के लिए कृषि कार्य निषिद्ध था, इसलिए विहार के सन्निकट गाँव के कृषकों को खेती दी जाती थी। किसान उस खेती से उत्पन्न धान्य को तीन भागों में विभक्त कर विहार को देते थे। उस समय सभी विहारों की कृषि योग्य जमीन और बगीचे आदि होते थे; यह सब उस समय के राजाओं के द्वारा दान में दिया जाता था क्योंकि विहार में निवास कर रहे भिक्षुओं का खाना और शिक्षा आदि उसी पर निर्भर था।

भाराविहार में यह सब कार्य देखने के लिए जिस भिक्षु को नियुक्त किया जाता था उसको कर्मदान से जाना जाता था। उनका कार्य इस प्रकार होता था, विहार में घण्टी बजाना, चौबीस घण्टे में आठ बार घण्टा ध्वनि होता था, प्रातः काल चार बजे घण्टा ध्वनि के द्वारा भिक्षुओं को शयन से जगाकर बुद्धचिन्तन में ध्यान लगाना, द्वितीयवार घण्टी बजाकर नहाने के लिए और पूजा के लिए सभी भिक्षुओं को सूचित करना, दिन को बारह बजे घण्टा ध्वनि के द्वारा भिक्षुओं को खाने के लिए एकत्रित करना, इस प्रकार भिक्षुओं को विहारों में नियम पालन के लिए घण्टा ध्वनि होती थी, इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय विहारों तथा उनसे सम्बन्धित शिक्षालयों में कितना अच्छा अनुशासन था।

'भाराविहार' किसी बाह्य व्यक्ति के अधीन नहीं था, उस विहार के मुख्य भिक्षु के द्वारा निर्वाचित कार्य परिषदों के द्वारा सभी प्रकार के कार्य और विहार के नियम आदि का निर्धारण होता था, यह कार्य परिषद विहार के स्थविर कर्मदान, वयोवृद्ध भिक्षुओं, भिक्षुणी, श्रमण, उपासक एवं उपासिकाओं को लेकर निर्वाचित होता था। विनय नियम का पालन यहाँ इतनी दृढ़ता से होता था कि यदि कोई व्यक्ति किसी भिक्षु को खाने के लिए कुछ देता था तो वह परिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की स्वीकृति विना उसे खा नहीं सकता था, इस प्रकार के अनेक नियम थे, जैसे भिक्षुओं को कार्य परिषदों के नियम से ही चलना, तद्विपरीत आचरण करने पर उन्हें विहार से निष्कासित कर दिया जाता था, यदि कोई भिक्षुणी किसी भिक्षु से मिलना चाहती है तो वह परिषदों की आज्ञा पर ही मिल सकती थी, वह किसी भिक्षु के कमरे में नहीं जा सकती थी, किसी कारणवश उसे बाहर जाना होता या किसी गृहस्वामी के यहाँ जाना होता था तो चार भिक्षुणी मिलकर ही जा सकती थी।

बड़े आचार्य और भिक्षुओं के रहने के लिए कार्य परिषद ही कमरे की व्यस्था करती थी, विहार के परिचारकों को उन भिक्षुओं और आचार्यों के कार्य के निमित्त आदेश कार्य परिषद् ही देती थी, जो आचार्य प्रतिदिन धर्म उपदेश करते थे उनके विहारों के दैनिक कार्यों को करने में प्रतिबन्ध नहीं होता था, यदि कोई गृहस्वामी भिक्षु बनने की इच्छा प्रकट करता था तो उसे विहार की कार्य परिषदों से आदेश लेना होता था, कार्य परिषद् उस व्यक्ति के विषय में पूर्ण जानकारी के उपरान्त ही उसको पहले उपासक, तदुपरान्त भिक्षु बनाती थी, उसके पश्चात् विहार के रजिष्टर पंजिका में उसका पजीकरण होता था।

अगर कोई भिक्षु विहार का नियम भङ्ग करता था तो उसे विहार से निष्काषित करने का अधिकार कार्य परिषदों को होता था,। प्रत्येक मास के चार दिन शाम को प्रत्येक विहार से भिक्षु इन विहार में एकत्रित होकर विहार के नियम और विनय के विषय में आलोचना करते थे और उन नियमों पर चलने के लिए सभी को प्रेरित करते थे। विदेशी भिक्षु के रहने और भोजन आदि का प्रबन्ध इन परिषदों द्वारा ही किया जाता था। पांच दिन तक विदेशी भिक्षु को उत्तम भोजन दिया जाता था, उसके बाद उसको विहार के अन्य भिक्षुओं के समान ही भोजन दिया जाता था।

भगवान् बुद्ध के त्रिरत्न की उपासना ही प्रत्येक भिक्षु की मुख्य पूजा थी, विहार में बुद्धमूर्ति की पूजा प्रत्येक भिक्षु का प्रतिदिन का नियम था। प्रातःकाल विहार की घण्टाध्वनि के साथ ही सभी भिक्षुओं के समक्ष विहार की बुद्धमूर्ति को सुगन्धित पानी से धोकर पोछकर उसकी पुष्प और अगरबत्ती द्वारा पूजा की जाती थी। यह कार्य परिषदों के आदेश से ही करना पड़ता था, इसके पश्चात् भिक्षु अपने अपने कमरे में जाकर उसी प्रकार मूर्ति की पूजा करते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शाम को कार्यदान की घण्टा ध्वनि को सुनकर विहार के भिक्षु विहार का और स्तूपों की परिक्रमा के लिए एकत्रित होते थे। स्तूपों और विहार का परिक्रमा करने के बाद भगवान बुद्ध का स्तोत्र पाठ करते थे। उसके बाद पूजा भवन में एकत्रित होते थे, वहाँ पर बड़े भिक्षु के साथ सूत्रपाठ और बोधिचर्यावतार आदि ग्रन्थों का पाठ करते थे। तदुपरान्त भक्ति सूत्र से दस श्लोक पाठ करके पूजा का समापन करते हुये बोधिसत्त्व और अर्हतों के समक्ष नत मस्तक होते थे, प्रात: चार बजे की घण्टा ध्वनि होने पर भिक्षुओं अपने अपने कक्ष मे जाकर ध्यान और बुद्ध प्रार्थना करते थे। यही विहार के भिक्षु संघो की दिनचर्या थी, भारत वर्ष के प्रत्येक विहार में और भारा विहार में भी भिक्षु गृहस्वामियों के पुत्रों को शिक्षा देते थे और गुरू दक्षिणा के रूप में शिष्यों से जमीन आदि प्राप्त होती थी जो कि भविष्य में विहारों की सम्पत्ति बनी। जो शिष्य भिक्षु बनने की और शास्त्र अध्ययन करने के लिए आते थे उन सब उपासको को श्वेत वस्त्र धारण करना होता था, और जो शिष्य मात्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए आते थे, उनको ब्रह्मचारी कहा जाता था, ये दोनों प्रकार के शिष्य विहार में भोजन और वस्त्र का खर्च स्वयं ही वहन करते थे। उन्हें भोजन और वस्त्र के लिए धन विहार के भिक्षु संघ से प्राप्त नहीं होता था, लेकिन यदि कोई विद्यार्थी संघ के लिए कुछ कार्य करता था तो उसको भिक्षु संघ के कोषागार से कुछ अर्थ प्रदान किया जाता था या विहार में बिना खर्च से भोजन आदि की व्यवस्था होती थी। प्रतिदिन प्रात:काल में विद्यार्थी गुरू के समक्ष उपस्थित होते थे तथा गुरू को प्रणाम करके अध्ययन प्रारम्भ करते थे।

उस समय विहार में छ: साल की आयु में शिक्षा प्रारम्भ होती थी, आठ साल से पन्द्रह साल तक विद्यार्थियों को सूत्र, धातु, विभक्ति और पाणिनि के सूत्र आदि का अध्ययन कराया जाता था। चीनदेश के भिक्षु ने ताम्रलिप्ति (वर्तमान में तमलुक) में आकर पहले पाणिनि के व्याकरण का अध्ययन करते थे। उस समय के विहार स्थित शिक्षालयों की शिक्षा व्यवस्था में इन विषयों की शिक्षा दी जाती थी, १. शब्दविद्या २. शिल्पविद्या ३. चिकित्साशास्त्र ४. हेतुविद्या ५. अध्यात्मविद्या आदि का गहन अध्ययन कराया जाता था और उपासकों के लिए विनयपिटक एवं बौद्धधर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्ययन कराया जाता था।

उस समय विहारों में अध्यात्म शिक्षा के साथ साथ चिकित्साशास्त्र के अध्ययन के लिए तक्षशिला सबसे अच्छा माना जाता था। मिलिन्द पञ्हो एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातक आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण शिक्षा और बौद्ध शिक्षा दोनों ने मिलकर भारतवर्ष की शिक्षा और संस्कृति को उन्नत किया। हिन्दू संन्यासियों और बौद्धभिक्षु तपोवन और विहारों में नहीं रहे बल्कि उन्होंने विदेश में परिभ्रमण कर ऋषि और मुनिओं और भगवान् बुद्ध के उपदेशों का प्रचार किया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण, छन्द, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष आदि शिक्षाओं के साथ-साथ तर्कविद्या, हेतुविद्या, चिकित्साविद्या, शिल्पविद्या और संगीतविद्या आदि को एक सूत्र में ग्रथित कर भारतीय संस्कृति को चरमोत्कर्ष पर ले जा सके। उस समय विहार अध्यात्म शिक्षा केन्द्र थे। भारविहार, तक्षशिला और ताम्रलिप्ति विहारों में अध्यात्म शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक जीवन व्यवस्था की शिक्षा दी जाती थी। यही भारतीय शिक्षा का सर्वमान्य मूल मन्त्र था—

''श्रद्धया देयम् श्रद्धया आदेयम्''

।। इति शम् ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोट देश में बौद्धधर्म एवं श्रमणपरम्परा का आगमन

श्री पेमा गारवङ्ग

प्राध्यापक

एस. आई. एच. एन. एस.

शेडा, देवराली, गन्टोक, सिक्किम।

भोट देश में सर्व प्रथम राजा ञाणी चेन्पो से लेकर २८ वें राजा ल्हा थोथोरी ञेनचेन के पूर्व काल तक बौद्ध धर्म का कहीं उल्लेख ही नहीं था, मगर ल्हा थो थोरीञेनचेन के समय पर उन्हें कुछ सूत्र और मन्त्र के पुस्तक तथा स्वर्ण स्तूप प्राप्त हुआ, जिसका अर्थ न समझने पर भी इसे अत्यन्त गोपनीय बता कर पूजने लगे और इसका अर्थ पाँच पुश्तों के बाद समझ में आयेगा इत्यादि भविष्यवाणी के रूप में राजा ने स्वप्न में देखा। इस तरह भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग ७७७ वर्ष के बाद तिब्बत यानी भोट देश में सर्वप्रथम बौद्ध धर्म के आरम्भ का समय माना जाता है।

ठीक पाँच पुश्तों के बाद ३३ वें धर्म राज सोङ चेन गम्पो ने अपने राज्य सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिये (भाषा) लिपी का होना सब से महत्वपूर्ण जान कर अपने मन्त्रियों में से थोनमी अनु या संभोट के साथ अन्य १६सर्व श्रेष्ठ बुद्धि वाले युवाओं को स्वर्ण आदि देकर आर्य देश में अध्ययन के लिये भेजा। मगर इन सभी में से संभोट ही एक मात्र सफल होकर लौटा और वार्मन काल और गुप्त काल के समय पर उत्तर भारत में प्रचलित लिपी शारदा और नागरी के आधार पर भोट भाषा की लिपी की रचना की जिस में चार स्वर और तीस व्यजन को निर्धारित किया। व्याकरण से सम्बन्धित आठ पुस्तक भी लिखा मगर उन में अब तक प्रचलित दो को माना जाता है। एक है, स्वर और व्यञ्जन का प्रयोग तथा दूसरा लिङ्ग का भेद। इस तरह थोन्मी संभोट ने आर्य देश के आचार्य कुमार, ब्रह्मन शंकर इत्यादि के साथ कई ग्रन्थों का भोट भाषा में अनुवाद भी किया। राजा ने चीन और नेपाल के राजकुमारी से विवाह किया, वे रानियाँ अपने साथ वहाँ से बुद्ध के दो प्रतिमा भी ले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आई जिन्हें पश्चात् तिब्बत के रामोछे और रासा ठुल नाङ मठ में स्थापित कर राजा ने भोट देश में बौद्ध धर्म की स्थापना की।

फिर ठीक पाँच पुश्तों के बाद ३८ वें धर्मराज णीसोङ देउचेन ने अपने पूर्वजों से प्रेरित होकर जन समुदाय के कल्याण हेतु कुछ कार्य-क्रम निर्धारित किया जिन में से विशेष कर समये नामक स्थान में एक भव्य विहार का निमार्ण किया ताकि उस में बौद्ध धर्म का अध्यन-अध्यापन किया जा सके। शीघ्र ही भूमि परीक्षण के पश्चात् विहार का निर्माण प्रारम्भ किया फिर भी चौंका देने वाली बात यह थी कि दिन में मनुष्यों के द्वारा किए गए काम को रात में भूत-प्रेत द्वारा नष्ट कर मिट्टी और पत्थर जहाँ का तहाँ पहुँचा दिया जाता था। इस लिए राजा, मन्त्रियों सभी ने चिन्तित होकर राजगुरु से सलाह लिया और उन के कथनानुसार आर्य देश के महापण्डित शान्तरक्षित को भोट देश में आमन्त्रित किया। ल्हासा से होकर समये के डाकमर राजमहल पहुँचने पर आचार्य ने विहार निर्माण स्थल में भूमि अधिष्ठान किया और दस कुशल, अठारह धातु, द्वादस प्रतीत्यसमुत्पाद से सम्बन्धित धर्म उपदेश देने पर भूत-प्रेत, पिशाच, राक्षस आदि ने क्रोधित हो कर ल्हासा के लाल पहाड़ पर वज्रपात किया। पर फङथङ राज महल बाढ़ में बह गया और अनेक तरह की महा-मारी फैलने से प्रजा में विद्रोह हो गया और धर्म को दोषी ठहराने लगे, इससे राजा, मन्त्री सभी ने चिन्तित होकर महापण्डित शान्तरक्षित से समाधान के लिये सलाह ली और उनके कथनानुसार आर्य देश से सर्वश्रेष्ठ उज्जेन के महागुरु आचार्यपद्मसंभव को आमन्त्रित करने से ही सभी की मनोकामना पूर्ण होगी।

तत्काल राजा ने भसलनङ, नानम दोर्जे दूदजोम और सहयोगियों को निमन्त्रण और अनेक मूल्यवान रत्न के साथ आर्य देश भेजा। वे सब दूत मेङयुल नाम के स्थान पर पहुँचे, जो शायद नेपाल और तिब्बत की सीमा पर हैं। आचार्य पद्मसम्भव ऋद्धि शक्ति द्वारा उस स्थान पर पहले ही पहुँच चुके थे। दूतों को अनजान बन कर पूछने पर बताया कि वे लोग तिब्बत के राजा के आदेशानुसार भारत में आचार्य पद्मसंभव को निमन्त्रित करने के लिये जा रहे हैं। तो आचार्य पद्मसंभव ने अपने पैर बिना जमीन पर टिकाये टहलते हुए बताया कि, मैं कई दिनों से तुम सभी की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। उन्होनें अटल विश्वास में निमन्त्रण तथा स्वर्ण इत्यादि भेंट के रूप में चढ़ाया तो सारे स्वर्ण तिब्बत की ओर उछालते हुऐ भविष्य के लिये मंगल कामना के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिब्बत के लिये प्रस्थान किया। जैसे ही आचार्य पद्मसंभव ने तिब्बत की सीमा में प्रवेश किया तो भूत-प्रेत, पिशाच-राक्षस आदि इर्ष्या के कारण अशान्त हो उठे। उन में से यरल्हा शाम्पों, गङकर शामेद, ञेनछेन थङ्ल्ह जैसे शक्तिशाली प्रेत और अन्य जिस किसी ने भी हानी पहुँचाने का प्रयास किया वे शक्तिहीन (मूर्छित) हो गये। उस के पश्चात् उन सभी ने धर्मपालों के रूप में अपने बल और शक्ति का प्रयोग करने की प्रतिज्ञा ली।

तत्पश्चात् ठीसोङ देच्छेन ने सम्मान पूर्वक आचार्य पद्मसंभव जी का स्वागत किया। धर्मराज की प्रार्थना पर आर्चाय ने ओतेन्तपुरी विहार से प्रेरणा लेकर समये महाविहार का शिलन्यास किया एवं धर्म-पालों और भूत-प्रेत, पिशाच, मनुष्य आदि के द्वारा प्रथम बौद्ध महाविहार की स्थापना सम्पन्न हुई। जो बज्रयान का केन्द्र बिन्दु के रूप में जाना गया। आचार्य पद्मसंभव, महापण्डित शान्तरक्षित और धर्मराज ठीसोङ देच्छेन (खेन ल्होप छोस्सुम) इन तीनों ने समये महाविहार को पारम्परिक ढंग से प्रतिष्ठा प्रदान की।

बौद्धधर्म को पूर्ण रूप से विस्तार एवं विकसित करने के लिये बौद्ध भिक्षु या श्रमणों का होना सब से महत्वपूर्ण था इसलिये सर्वास्तिवाद के बारह भिक्षु तिब्बत में आमन्त्रित किए गये। शान्तरक्षित ने उपाध्याय के रूप में सर्व प्रथम सात बालकों को परीक्षण के लिये प्रब्रज्या प्रदान किया और बाद में तीन सौ से अधिक लोगों को प्रब्रज्या प्रदान कर भिक्षु संघ की स्थापना की। बेरोचाना, कवा पलच्छेक, चोकरो लुयी ज्ञालछेन, शाङ येशेदे इत्यादि को भरत में बौद्ध दर्शन के अध्यन के लिये भेजा गया। अध्यन पूर्ण करने के बाद में विद्वान् स्वदेश लौट कर बौद्ध शास्त्रों के अनुवाद में जुट गये।

इस के पश्चात् आर्य देश के सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा और विक्रमशिला से महा पण्डित आचार्य विमलमित्र, शान्तिगर्भ, धर्मकीर्ति और आचार्य कमलशील जैसे एक सौ आठ विद्वानों ने तिब्बत में काग्यूर-१०८ और तैनग्यूर-२१८ पुस्तकों का अनुवाद किया। बाद में इसी का ञिङमा, प्राचीन मतके नाम से जाना गया। इस प्रकार बौद्ध धर्म तिब्बत में व्यापक रूप से फैला और इस तरह गृहस्थ और भिक्षु श्रमणों की परम्परा अब तक बौन को जोड़कर ञिङमा, काग्युद, साक्य और गेलुक सम्प्रदायों के रूप में प्रचलित है। ये सभी अपने-अपने मठ और बौद्ध विहारों में अक्षुण्ण रूप से अभ्यासरत पाये जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्षिप्त में कहा जाय तो द्वितीय बुद्ध महागुरु पद्मसंभव, महापण्डितों और धर्म राजाओं के आशीर्वाद के फलस्वरूप आज इस युग में भी जहाँ एक ओर मोह, द्वेष, ईर्ष्या से भरा हुआ संसार है तो दूसरी ओर देश विदेश सारे विश्व में बौद्ध धर्म फलता-फूलता विश्व शान्ति के लिये दया, करुणा और भाईचारे जैसे सन्देशों पर भी चिन्तन करता देखा जा सकता हैं।

इसलिये अन्ततः महागुरू आचार्य पद्मसंभव और उन महात्माओं को सच्चे हृदय से श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ।

।। भवतु सर्वमङ्गलम् ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में कर्म-सिद्धान्त

डॉ. सुदीप जैन
उपाचार्य, प्राकृत विभाग
श्रीलाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म-निवर्हणम् ।
संसारदुखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

इस मगंल पद्य में **आचार्य समन्तभद्र** ने धर्म को कर्म-निवारक बताया है तथा उसके फलस्वरूप जीवों को सांसारिक दु:ख से मुक्ति एवं उत्तम सुखकी प्राप्ति होना प्रतिपादित किया है।

'कर्म' दर्शनशास्त्र का प्रधान विषय

कर्म सिद्धात दर्शनशास्त्र का प्रधान तथा महत्त्वपूर्ण विषय है। सभी दर्शनों में इस विषय पर विशेष चिंतन किया गया है। जैसे, सुख-दु:ख का अन्वेषण करते हुए न्याय-वैशेषिक में कहा गया है—"संसार में कोई सुखी है कोई दु:खी है, किसी को खेती आदि करने से विशेष लाभ होता है, इसके विपरीत किसी को हानि होती है, किसी को अचानक संपत्ति मिल जाती है और किसी पर सहसा बिजली गिर जाती है,— ये सब किसी दृष्ट-कारण के निमित्त से नहीं है, अत: इनका कोई अदृष्ट-कारण मानना चाहिए[१]।

महात्मा बुद्ध ने भी कहा है— हे मानव! सभी जीव अपने कर्मों से ही फल का भोग करते हैं। सभी जीव अपने कर्मों के आप मालिक हैं, अपने कर्मों के अनुसार ही नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं। अपना कर्म ही अपना बंधु है, अपना कर्म ही अपना आश्रय है। कर्म से ही प्राणी ऊंचे और नीचे होते हैं।[२]

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, प्रस्तावना, पृष्ठ२।
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, प्रस्तावना, पृष्ठ२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार सुख-दुःख और जन्म मरण के कारण पर सांख्ययोगादि सभी दर्शनिकों ने गहरा अनुचिन्तन किया है। परन्तु इस विषय में प्रायः सभी एकमत है कि जन्म-मरण का कारण व्यक्ति के अपने परिणाम होते हैं, परिणाम से कर्म और कर्म से गतियों में भ्रमण होता है। गतियों की प्राप्ति होने पर शरीर, शरीर में इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण और विषयों को ग्रहण करने से राग-द्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार अनादिकाल से जीव का यह संसार चक्र चला आ रहा है।

सांख्य और मीमांसा-दर्शन में भी संस्कारों तथा उसके बीजभूत कर्म का उल्लेख करते हुये कहा गया है "जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज होता है, उसी प्रकार संस्कार से कर्म तथा कर्म से संस्कार उत्पन्न होता है[१]।"

कर्म के साधन मन, वचन तथा काय से तीन होते हैं, जिनके द्वारा प्राणी प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता रहता है और उनसे अंतःकरण में सहजरूप से संस्कारों का निर्माण होता रहता है। वे संस्कार शुभाशुभ पुण्य-पापरूप में स्वीकार किये गये हैं। जैनदर्शन में इनका विवेचन करते हुये कहा गया है— "कायवाङ्मनः कर्मयोगः" "**शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य**" अर्थात् मन-वचन-काय से प्राणी जो कुछ भी करता है, वह शुभ और अशुभरूप होता है। शुभ 'पुण्य' का कारण है और अशुभ 'पाप' का कारण है। इसी प्रकार मनुजी ने 'मनुस्मृति' में कहा है—

"शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्[२]।"

अर्थात् मन-वचन-काय से किये जाने वाले कर्मों का फल शुभ या अशुभ होता है। योगदर्शन में भी इसी प्रकार पुण्य-पाप के हेतु शुभाशुभ कर्मों का विवेचन प्राप्त होता है।

इस प्रकार पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ कर्मों का उल्लेख किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों में प्राप्त होता है। न्याय-वैशेषिक इसे 'धर्म-अधर्म' कहते है, मीमांसा-दर्शन में इसे 'अपूर्व' कहा गया है। योगदर्शन में इसे ही 'कर्म' के नाम से अभिहित किया गया है। बौद्ध धर्म में 'कुशल तथा अकुशल कर्मों' के द्वारा कर्म-विषयक सिद्धात का विवेचन किया गया है।

---

१. सांख्यकारिका, ६७

२. मनुस्मृति, अ. ११, श्लो.३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म-सिद्धान्त का उल्लेख अन्य दर्शनों में प्रासंगिकरूप से ही प्राप्त होता है। परन्तु जैनदर्शन की तात्त्विक और कार्मिक दोनों ही धारायें समानरूप से साथ-साथ चलती रही हैं।

योगदर्शनकार **महर्षि पतंजलि** ने 'दृष्ट और जन्म वेदनीय' के रूप में केवल दो अधिकारों की स्थापना की है। वेदान्तदर्शन में **स्वामी शंकराचार्य** ने 'आगामी, संचित और प्रारब्ध' त्रिविध कर्मों का उल्लेख किया है। यह उल्लेख भी अत्यंत संक्षिप्त तथा संकेत मात्र पाया जाता है, जिससे कर्म-सिद्धांत की गहनता का स्पष्ट परिचय प्राप्त नहीं होता।

कर्म-सिद्धांत की गहनता का परिचय देने के लिये जैनदर्शन में दस अधिकारों की स्थापना की गई है। जिनमें आगामी, संचित और प्रारब्ध कर्म तो हैं ही, परन्तु वर्तमान कर्मों के आधार पर उन कर्मों की शक्ति के हीनाधिक होने का सूक्ष्म विवेचन भी अन्य अधिकारों में प्राप्त होता है।

जैन वाङ्मय के इस विशाल साहित्य में कर्म-सिद्धांत का विवेचन करने वाला विभाग 'करणानुयोग' कहलाता है। 'करण' शब्द के दो अर्थ जैनदर्शन में प्रसिद्ध हैं— एक जीव के परिणाम और दूसरा इन्द्रिय। कर्म-सिद्धांत के 'करण' शब्द 'परिणाम' अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। जीव के राग-द्वेषादि परिणाम ही उसके 'कर्म' कहलाते हैं, जिनके फलस्वरूप उसे नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव— इन चतुर्गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। यह भ्रमण ही संसार कहलाता है, इसलिये करणानुयोग में तीन बातों का उल्लेख किया गया है—जीव के परिणाम, विविध कर्म और उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाला चतुर्गतिरूप संसार। जीव के परिणामों का विवेचन करने वाला, विविध प्रकार के कर्मों तथा उनकी बन्ध उदयादि अवस्थाओं को दर्शाने वाला और संसार भ्रमण के स्वरूप का चित्रण करने वाले लोक-विभाग,—इन तीन अवान्तर विभागों द्वारा दर्पण के समान विषय का प्रतिपादन करने वाला अनुयोग 'करणानुयोग' है।

सभी दर्शनों में दुःख का मूलकारण अविद्या को ही बताया है। जैनदर्शन में अविद्या के स्थान पर 'मिथ्यात्व' कहा गया है, जिसका अर्थ है—वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न जानकर विपरीत को ही यथार्थ मानना। मिथ्यात्व को ही सुख-दुःख अथवा कर्मबन्ध के कारणों में सबसे प्रथम कारण कहा गया है।

जैनदर्शन में कर्म की व्याख्या इस ढंग से की गई है कि ईश्वर, ब्रह्म, विधाता, दैव और पुराकृतकर्म- सब कर्मरूपी ब्रह्मा के पर्यायवाचक हो गए हैं।[१]

---

१. महापुराण, ४।२७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य कर्म और भावकर्म

जैन-परम्परा में कर्म का केवल क्रियारूप ही मान्य नहीं है, अपितु क्रिया द्वारा आत्मा के संसर्ग में आने वाले एक विशेष जाति के सूक्ष्म पुद्गल को 'द्रव्यकर्म' के रूप में माना है। इस प्रकार जैनदर्शन में कर्म के दो रूप माने गये—भावकर्म और द्रव्यकर्म। जीव की क्रिया भावकर्म और उसका फल द्रव्यकर्म है। कर्म की जीव से सबंधित क्रिया भावात्मक होने के कारण 'भावकर्म' कहलाती है और कर्म की पौद्गलिक अवस्था द्रव्यात्मक होने के कारण 'द्रव्यकर्म' कहलाती है।[१]

पुद्गल **वर्गणाओं** के पारस्परिक बन्ध से जो 'स्कन्ध' बनते हैं, वे द्रव्यकर्म हैं। ये द्रव्यकर्म, वर्गणा भेद से पाँच प्रकार के कहे गये हैं। इनसे ही स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का निर्माण होता है। जीव का योग या प्रदेश परिस्पन्दन, द्रव्यकर्म और भावकर्म के मध्य की सन्धि है।[२]

इन दोनों में परस्पर कार्य-कारण संबंध है। भावकर्म कारण और द्रव्यकर्म कार्य है, परन्तु द्रव्यकर्म के अभाव में भावकर्म की भी निष्पत्ति नहीं होती, इसी कारण द्रव्यकर्म भी भावकर्म का कारण है। भावकर्म और द्रव्यकर्म का कार्य-कारणभाव अनादि से ही है।[३] यह संबंध कहाँ से प्रारम्भ हुआ, यह कहना कठिन है, क्योंकि जैनमतानुसार जीव और पुद्गल का संबंध अनादिकाल से है। यह एक दृढ़ यथार्थ है, जिसे अन्य सभी दर्शनों ने भी स्वीकार किया है।[४] यद्यपि सन्तति के दृष्टिकोण से भावकर्म और द्रव्यकर्म का कार्य कारण भाव अनादि है, परन्तु व्यक्तिशः विचार करने पर, किसी एक द्रव्यकर्म का कारण, एक भावकर्म ही होता है। राग-द्वेष-रूप परिणामों के कारण ही जीव, द्रव्यकर्म के बन्धन में बद्ध होता है और उसी के फलस्वरूप संसार में परिभ्रमण करता है। यद्यपि जीव और कर्म का संबंध अनादि है और कार्य-कारणरूप से यह चक्र चलता रहता है, परन्तु विशेष अभ्यास और आत्मिक शक्ति से इस चक्र को रोका जा सकता है। जैसे खान से निकले सोने में, सोने और मिट्टी का संबंध अनादिकाल से है, परन्तु आग में तपाने से उस अनादि संबंध का विच्छेद हो जाता है। इसी प्रकार जब जीव निरन्तर अभ्यास द्वारा भावकर्मों पर नियंत्रण कर लेता है, तब द्रव्यकर्म तथा भावकर्मों का यह अनादि-प्रवाह रुक जाता है। इसीलिए द्रव्यकर्म तथा भावकर्म का संबंध 'अनादि' होते हुए भी 'सान्त' है।

---

१. आप्तपरीक्षा, ११३-११४;
२. कर्मसिद्धान्त, पृष्ठ ६७१
३. आत्ममीमांसा, पृष्ठ९६;
४. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृष्ठ २२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म की विविध अवस्थायें

जैन कर्म-सिद्धान्त में कर्म की विविध अवस्थाओं का अतिसूक्ष्म वर्णन किया गया है। सैद्धान्तिक भाषा में इन अवस्थाओं को 'करण' कहा जाता है। **करण दस होते हैं**— बन्ध, उदय, सत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उपशम, उदीरणा, निधत्त और निकाचित।— ये दस करण प्रत्येक कर्म-प्रकृति में होते हैं।[१]

१. बन्धकरण: — 'राजवार्तिक' के अनुसार—"**आत्मकर्मणोरन्योन्य-प्रवेशलक्षणो बन्ध:**"[२] अर्थात् जैसे लोहे और अग्नि का एक ही क्षेत्र है और नीर तथा क्षीर मिलकर एक क्षेत्रावगाही हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होकर सूक्ष्म पुद्गल एक क्षेत्रावगाही हो जाते हैं।

अमूर्त जीव से मूर्त कर्मों का संबंध कैसे?

कर्म पुद्गल रूप होने के कारण मूर्तिक हैं और जीव को जैनदर्शन में अमूर्तिक कहा गया है। मूर्त कर्मों का अमूर्त जीव पर प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए, परन्तु अमूर्त जीव पर मूर्त कर्मों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ज्ञान आत्मा का गुण होने के कारण अमूर्त है, परन्तु मदिरा सेवन कर लेने से आत्मा का ज्ञान गुण लुप्त हो जाता है। अमूर्त गुणों पर मूर्त मदिरा का प्रभाव जिस प्रकार स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार अमूर्त जीव से मूर्त कर्मों का संबंध भी संभव है।[३]

२. उदयकरण: — कर्मों के विपाक अर्थात् फलोन्मुख अवस्था को 'उदय' कहते हैं।[४] पूर्व संचित कर्म जब अपना फल देता है, तो उस अवस्था को जैन कर्मसिद्धान्त की भाषा में **'उदय'** कहा गया है। यह उदय 'सविपाक' और अविपाक के भेद से दो प्रकार का होता है। उदय क्रम से परिपाक काल को प्राप्त होने वाला **'सविपाक उदय'** कहलाता है। विपाक काल से पहले ही तपादि विशिष्ट क्रियाओं के द्वारा कर्मों को फलोन्मुख अवस्था में ले आना **'अविपाक उदय'** कहलाता है।[५]

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४३७। २. राजवर्तिक, पृष्ठ २६
३. जैनतत्त्वकलिका, पृष्ठ १५५ ४. सर्वार्थसिद्धि, पृ. ३३२
५. वही, पृष्ठ ३९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. सत्त्वकरण:— जीव से संबद्ध हुए कर्म स्कन्ध, तत्काल फल नहीं देते। बन्धने के दूसरे समय से लेकर फल देने के पहले समय तक वे कर्म आत्मा के साथ अस्तित्व रूप में रहते हैं। कर्मों की उस अवस्था को सत्ता या सत्त्व कहा जाता है।[१]

सत्त्व के दो भेद किये जा सकते हैं—' उत्पन्न स्थान सत्त्व' और 'स्वस्थान सत्त्व'। अपकर्षण आदि के द्वारा अन्य प्रकृति रूप से किया गया सत्त्व, 'उत्पन्न स्थान सत्त्व' कहलाता है और बिना अन्य प्रकृतिरूप हुआ सत्त्व 'स्वस्थान सत्त्व' कहलाता है।

४. अपकर्षणकरण:— **''स्थित्यनुभागयोर्हानिरपकर्षणम्''** कर्मों की स्थिति अर्थात् बंधे रहने का समय और अनुभाग अर्थात् शक्ति, इन दोनों में हानि हो जाना 'अपकर्षण' कहलाता है।[२] 'अपकर्षण' भी दो प्रकार का होता है—'व्याघात' और 'अव्याघात'। व्याघात अपकर्षण को **'काण्डकघात'** भी कहते हैं। इससे जीव में इतनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह गुणाकाररूप से कर्मों को क्षय कर देता है। यह मोक्ष का साक्षात् कारण है और ऐसा अपकर्षण उच्चकोटि के ध्यानियों को ही होता है। इसके विपरीत अव्याघात अपकर्षण में साधारणरूप से कर्मों की स्थिति और अनुभाग में हानि होती है।[३] अपकर्षण तभी संभव है, जब तक कर्म उदयावली में नहीं आते। उदय की सीमा में प्रवेश कर जाने पर अपकर्षण संभव नहीं होता, क्योंकि सत्तागत कर्मों का ही अपकर्षण हो सकता है।[४]

५. उत्कर्षणकरण:— उत्कर्षण भी दो प्रकार का होता है— व्याघात और अव्याघात। जिस समय पूर्वसत्ता में स्थित कर्म परमाणुओं से नवीन बन्ध अधिक हो, परन्तु इस अधिक का प्रमाण एक 'आवलि' (जैन मान्य गणित की एक विशेष गणना) से अधिक न हो, तब वह अवस्था व्याघात दशा कहलाती है। इसके अतिरिक्त शेष उत्कर्षण की निर्व्याघात अवस्था ही होती है।[५] 'उत्कर्षण' कर्म की उसी अवस्था में संभव होता है, जब तक कर्म उदय की

---

१. कसायपाहुड, पुस्तक पृष्ठ २९१।
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४३८।
३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-१, पृष्ठ ११६।
४. कर्म रहस्य, पृष्ठ १७४।
५. कसायपाहुड भाग-५, २४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सीमा में प्रवेश न करें, सत्तारूप में ही हों। उदय की सीमा में प्रवेश हो जाने पर उत्कर्षण संभव नहीं होता।[१]

६. संक्रमणकरण — 'परप्रकृतिरूप-परिणमनम् संक्रमणम्' अर्थात् पहले बंधी कर्म प्रकृति का अन्य प्रकृति रूप परिणमन हो जाना 'संक्रमण' है।[२] संक्रमण चार प्रकार का होता है— प्रकृति संक्रमण, स्थिति संक्रमण, अनुभाग संक्रमण और प्रदेश संक्रमण।

७. उदीरणाकरण — 'भुंजणकालो उदओ उदीरणापक्वपाचण-फलं'[३] कर्मों के फल भोगने के काल को 'उदय' कहते हैं और भोगने के काल से पहले ही अपक्व कर्मों को पकाने का नाम 'उदीरणा' है। इनको 'प्रीमैच्योर रियलाइजेशन'[४] अर्थात् अपरिपक्व प्रत्यक्षीकरण अथवा समय से पूर्व भोग में आना कहा है।

८. उपशमकरण — कर्मों के उदय को कुछ समय के लिए रोक देना 'उपशम' कहलाता है।[५] कर्म की इस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं होते। फिटकरी के डालने से जिस प्रकार मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और कुछ समय के लिए स्वच्छ जल ऊपर आ जाता है, इसी प्रकार कर्मों की उपशमन अवस्था में परिणामों की विशुद्धि के कारण कर्मों की शक्ति अनुद्भूत हो जाती है। कर्मों की यह क्षणिक विश्रान्ति ही उपशम कहलाती है।[६]

९. निधत्तकरण — इस विशेष अवस्था में आत्मा के साथ कर्म इस प्रकार संबंधित हो जाते हैं कि कर्मों में उत्कर्षण और अपकर्षण के अतिरिक्त उदय, उदीरणा संभव नहीं होते।[७]

१०. निकाचितकरण — कर्म की अवस्था नाम 'निकाचना' है, जिसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा ये चारों अवस्थायें असंभव होती हैं।[८] जैनसम्मत निकाचित कर्म को योग-सम्मत 'नियतविपाकी'[९] कर्म के सदृश माना जा सकता है।

---

१. कर्मरहस्य, पृष्ठ १७४; २. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४३८।
३. प्राकृत पंचसंगहो, ३/१३; ४. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृष्ठ २६७।
५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग१, पृष्ठ ४६४।
६. राजवार्तिक, पृष्ठ १००।
७. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४५०;
९. योगदर्शन भाष्य २/१३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कर्म-बन्ध के इन पाँच हेतुओं का ही उल्लेख किया है **"मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः।"** पाँचो कारणों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. मिथ्यात्व — बन्ध का सबसे प्रथम तथा प्रधान कारण 'मिथ्यादर्शन' है। आत्मा से विपरीत श्रद्धा को 'मिथ्यादर्शन' कहते हैं।[१] स्वात्मतत्त्व से अपरिचित संसारी आत्मायें शरीर, धन, पुत्र, स्त्री आदि में ममत्व बुद्धि रखती हैं। इन सबकी प्राप्ति को इष्ट तथा इनसे विच्छेद को अनिष्ट मानती हैं और इष्ट के प्रति प्रवृत्त तथा अनिष्ट की ओर से निवृत्त होने का प्रयास करती है। यही रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति बन्ध का मुख्य कारण बन जाती है। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति का मूलकारण मिथ्या श्रद्धा है। यह मिथ्या श्रद्धा दो प्रकार से होती है—१. परोपदेशपूर्वक, २. नैसर्गिक।[२]

२. अविरति — कर्मबन्ध का दूसरा कारण 'अविरति' है। **'विरमणं विरतिः'** अर्थात् विरक्ति होना विरति है और विरति का अभाव ही अविरति है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह— इन पांचों दोषों से विरक्त न होना ही अविरति कहा जाता है।[३] दूसरे शब्दों में कहा गया है कि आभ्यन्तर में, जिन परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न, परम सुखामृत का अनुभव करते हुए भी, बाह्य विषयों में अहिंसा, असत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन व्रतों को धारण न करना ही 'अविरति' है[४]

३. प्रमाद — कर्मबन्ध का तीसरा कारण प्रमाद है। 'प्रमाद' का अर्थ है आत्मविस्मरण। कुशल कार्यों में अनादर अर्थात् कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की स्मृति में असावधानी करना ही आत्मविस्मरण है।[५] **पूज्यपादजी** ने प्रमाद शब्द का अर्थ करते हुए कहा है—**'प्रमादः कुशलेष्वनादरः'**[६] क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य आदि धर्मों में अनुत्साह या अनादर भाव के भेद से प्रमाद अनेक प्रकार का है।[७] प्रमाद के मुख्यतया पांच भेद कहे गये हैं— विकथा, कषाय, इन्द्रियराग, निद्रा और प्रणय।[८]

४. कषाय — कर्मबन्ध का चतुर्थ कारण 'कषाय' है। कषाय को प्रमाद में भी गर्भित किया जा सकता है, क्योंकि प्रमाद के भेदों में कषाय को गिनाया गया है।

---

१. णियमसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा९१;
२. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ३७५।
३. बारस अणुवेंक्खा गाथा ४८;
४. दव्वसंगहो टीका, गाथा३०, पृष्ठ८८।
५. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन, पृष्ठ १९३;
६. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ३७४।
७. राजवार्तिक, पृष्ठ ५६४;
८. भगवती आराधना, पृष्ठ ८१२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. योग — कर्मबन्ध का पंचम कारण योग हैं। यहाँ पर 'योग' का अर्थ है— मन, वचन और काय की क्रियायें।[१] इन तीनों की क्रियाओं से कर्मबद्ध आत्मा में पुनः पुनः कर्मों का संचय होता रहता है। योग दो प्रकार का होता है— कषायसहित और कषायरहित। कषायसहित योग संसार का कारण होने के कारण 'साम्परायिक' कहलाता है। 'सम्पराय' संसार का पर्यायवाची है,[२] संसार का हेतु होने के कारण ही इसे 'साम्परायिक' नाम दिया गया है। कषायरहित योग 'ईर्यापथ' नाम के क्षणिक बन्ध का कारण होता है। 'ईर्यापथ बन्ध अगले क्षण ही बिना फल दिये नष्ट हो जाता है। इसकी स्थिति एक समय मात्र की होती है।[३]

कर्मबन्ध के भेद-प्रभेद

जैनदर्शन में कर्म-बन्ध के भेदों का विवेचन अतिसूक्ष्म दृष्टि से किया गया है। कर्मों का बन्ध चार प्रकार का होता है— कर्मों के स्वभाव, कार्य तथा गुणों को बताने वाला बन्ध **'प्रकृति बन्ध'**, कर्मों के काल का निर्धारण करने वाला बन्ध **'स्थिति बन्ध'**, कर्मों की विपाक शक्ति को दर्शाने वाला बन्ध **'अनुभाग बन्ध'** और कर्मों के पिण्डत्व को दर्शाने वाला बन्ध **'प्रदेश बन्ध'** कहलाता है।[४]

आचार्य उमास्वामी ने सूत्र में इन चारों भेदों का निर्देशन करते हुए कहा है— **'प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः'**[५] इन चारों में से प्रकृति और प्रदेश बन्ध, मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से होते हैं। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को जैनदर्शन में 'योग' कहा जाता है।[६] **नेमिचन्द्राचार्य** ने कहा है— **''जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होति''**[७]

संसार की वृद्धि करने वाले कषायसहित कर्म को 'साम्परायिक' और संसार की वृद्धि न करने वाले कषायरहित कर्म को 'ईर्यापथ' कर्म कहा जाता है— **''सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयो;''**[८] ईर्यापथ कर्म की तुलना गीता के 'निष्काम कर्म' से की जा सकती है,[९] क्योंकि ईर्यापथ कर्म में भी निष्काम कर्म के समान ही इच्छा का अभाव होता है, जिसमें पुनर्जन्मरूप संसार फल को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती ।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ३२१; २. वही।
३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृष्ठ ३६१।
४. दि हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृष्ठ १७६।
५. तत्त्वार्थसूत्र, ८/३; ६. वही, ६/१।
७. दव्वसंगहो, गाथा ३३; ८. तत्त्वार्थसूत्र, ६/४।
९. धवला, पु. १३, भाग४, पृष्ठ ५१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतिबन्ध — 'प्रकृति का अर्थ है स्वभाव'।[१] अन्य कारणों से निरपेक्ष कर्मों का जो मूल स्वभाव है, वह ' प्रकृति बन्ध' कहलाता है। प्रकृति, शील और स्वभाव ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।[२] (प्रकृतिबन्ध संबंधी तालिका अंत में देखें)

स्थितिबन्ध — कर्मों का विभाजन उनके स्थिति काल के आधार पर भी किया जा सकता है। कुछ कर्म क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं और कुछ कर्म हजारों वर्ष का समय लेते हैं। यह समय परिमाण ही 'स्थितिबन्ध' हैं[३]। 'स्थिति' का अर्थ है अवस्थान काल,[४] यह गति से विपरीत अर्थ का वाचक है। ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वभाव भी एक निश्चित काल तक ही रहता है। यह निश्चित काल ही कर्मों का **स्थिति बन्ध** कहलाता है।[५] तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु को छोड़कर सब प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कट संक्लेश परिणाम से होता है और जघन्य बन्ध उत्कट विशुद्ध परिणाम से होता है।

अनुभाग बन्ध — विविध कर्मों के पाक अर्थात् फल देने की शक्ति को 'अनुभव' या 'अनुभाग' कहते हैं। 'अनुभाग' बन्ध की परिभाषा करते हुए **आचार्य उमास्वामी** ने कहा है **''विपाकोऽनुभवः''**[६] अनुभाग बन्ध कर्मों के नाम के अनुसार ही होता है। **आर्चाय उमास्वामी** ने सूत्र में कहा है **'स यथानाम'**[७] अर्थात् ज्ञानावरणी कर्म का फल ज्ञान के भाव को अनुभव करना, दर्शनावरणी कर्म का फल दर्शन के अभाव को अनुभव करना और वेदनीय कर्म का फल साता अथवा असाता को अनुभव करता है। इसी प्रकार अन्य सभी कर्मों का फल उसके नाम के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है।

प्रदेशबन्ध — कर्म प्रकृतियों के कारणभूत सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही, अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणुओं का आत्म-प्रदेशों के साथ संबंध को प्राप्त होना ही 'प्रदेश बन्ध' कहलाता है।[८]

'प्रदेश बन्ध' कर्मरूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या का निर्धारण करता है।[९] मन, वचन और काय के योगों की तीव्रता होने पर अधिक प्रदेशों का बन्ध होता है और मन्दता होने पर अल्प प्रदेशों का बन्ध होता है[१०]।

---

१. प्राकृत पंचसंगहो, ४/५१४
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा २;
३. हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृष्ठ १६२।
४. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २२;
५. वही, पृष्ठ ३७९।
६. तत्त्वार्थसूत्र, ८/२१;
७. वही, ८/२२।
८. तत्त्वार्थसूत्र, ८/२४।
९. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ३७९।
१०. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ १३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार योगशक्ति की हीनाधिकता पर ही कर्मपरमाणुओं की हीनाधिकता अवलम्बित है।

निष्कर्ष:—उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय—ये पांच कर्मबन्ध के कारण होते हैं। इन भाव कर्मों के निमित्त से ही ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का आगमन होता रहता है। जीव की प्रत्येक क्रिया में ये कर्म छिपे होते हैं, इसी कारण पूर्व-कर्म फलोन्मुख होकर जीव से पृथक् हो जाते हैं।

कर्म प्रकृति-संबंधी एकत्र परिगणन तालिका : कुल प्रकृतियाँ– १४८

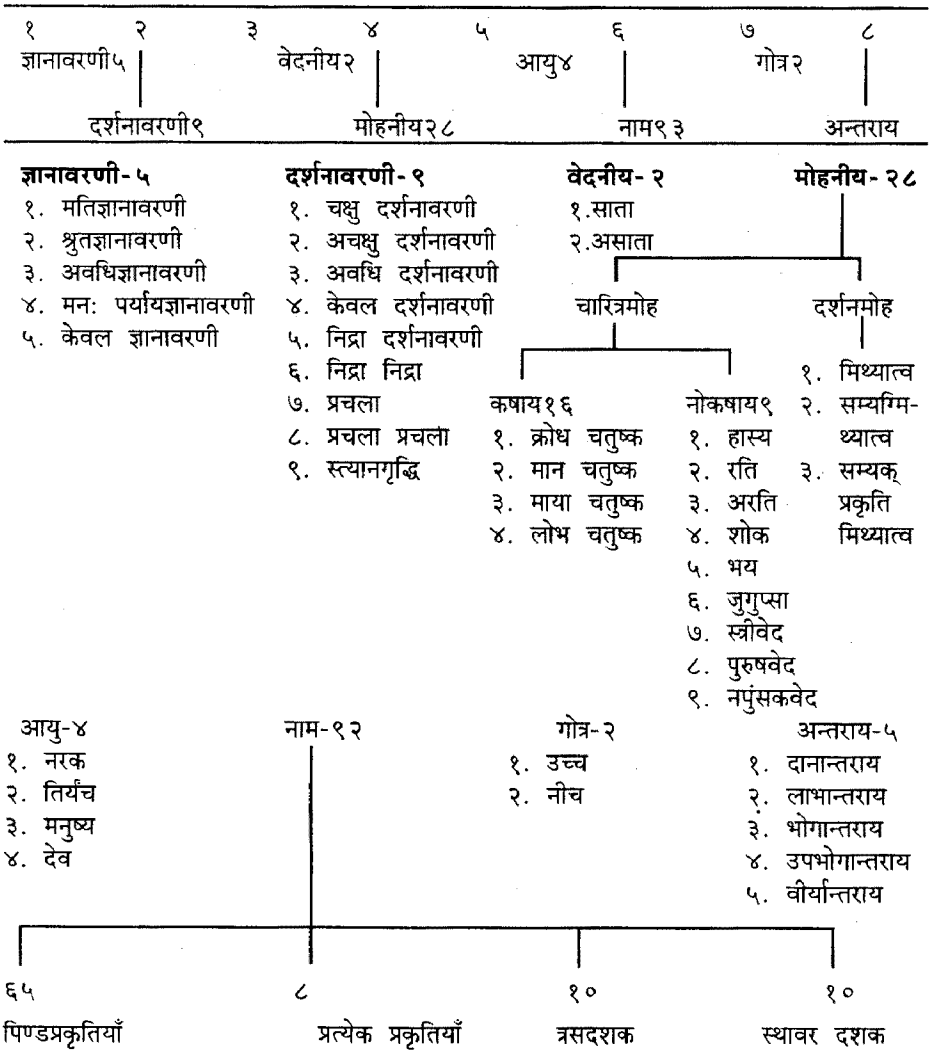

(इनका नाम निर्देशन नाम कर्म में किया गया है)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनाचारदर्शन का व्यावहारिक पक्ष

डॉ. कमलेश कुमार जैन

वरिष्ठ प्राध्यापक-जैनदर्शन,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वराणसी

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपगता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।

भारतीय-परम्परा में धर्म और दर्शन का विशेष महत्त्व है। जहाँ धर्म श्रद्धा-प्रमुख है, वहीं दर्शन चिन्तन-प्रधान है। श्रद्धा जनसामान्य को प्रभावित करती है और चिन्तन बौद्धिक वर्ग को। सुखी जीवन जीने के लिये मानव जाति ने प्रारम्भ से ही विविध प्रकार के नये-नये तौर-तरीके खोजे हैं, जिन्हें हम आज की दुनियाँ में वैज्ञानिक आविष्कारों के नाम से जानते हैं। ये सभी प्रकार के आविष्कार मानव मस्तिष्क के चिन्तन का श्रेष्ठ परिणाम हैं। किन्तु इन आविष्कारों के दुरुपयोग से भी इनकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि नये-नये आविष्कारों से जहाँ हमें भौतिक सुख-समृद्धि प्राप्त हुई है वही तथाकथित बुद्धिवादियों के कई मानव-विरोधी आविष्कारों से समूचा विश्व विनाश के कगार पर पहुँच गया है। ऐसी विषम परिस्थिति में भारतीय संस्कृति में रचे-पचे ऋषियों/मुनियों के चिन्तन ने हमें एक ऐसी नवीन दिशा दी है, जो हमारी भौतिक सुख-समृद्धि के साथ-साथ हमारी आध्यात्मिक उन्नति का भी मार्ग प्रशस्त करती है। अतः निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि उपर्युक्त पद्धति ही भारतीय-दर्शन का मूलाधार है।

यद्यपि भारतीय संस्कृति की शीतल छाया में पल्लवित एवं पुष्पित विविध दर्शन हमारे देश में पाये जाते हैं, जो साधनों की विविधता के कारण पृथक्-पृथक् अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु इन सभी दर्शनों का साध्य एक ही है, जो मानव जाति के कल्याण को स्वीकार करता है। यदि सूक्ष्म-दृष्टि से विचार किया जाये तो ज्ञात होता है कि भारतीय-दर्शन के मूल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में दो संस्कृतियाँ स्पष्ट दिखलाई देती हैं— एक वैदिक और दूसरी श्रमण। वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत साँख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा आदि दर्शनों का विकास हुआ है और श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत जैन और बौद्धदर्शन का। जैनदर्शन अहिंसावादी दृष्टिकोण प्रधान है और बौद्धदर्शन करुणावादी दृष्टिकोण प्रधान। किन्तु इन दोनों दर्शनों के मूल में प्राणिमात्र के दुःख का दर्शन किया गया है और इन दोनों दर्शनों का साध्य जीव मात्र के कल्याण की भावना के रूप में प्रकट हुआ है।

वर्तमान काल की दृष्टि से जैनदर्शन एवं बौद्धदर्शन के चिन्तक क्रमशः भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध माने गये हैं, किन्तु पूर्वापर की दृष्टि से भगवान् महावीर पूर्ववर्ती हैं। इन्हें पालि-साहित्य में निगण्ठनातपुत्र के नाम से अभिहित किया गया है।

जैन-साधना का मार्ग अत्यन्त कठोर है। इसमें शिथिलाचार को कोई अवकाश नहीं है, जब कि बौद्ध-साधना का मार्ग सापेक्ष दृष्टि से सरल और व्यावहारिक है। क्योंकि मध्यम प्रतिपदा के रूप में विकसित बौद्ध-सिद्धान्त देश-कालानुरूप हैं।

जैन साधकों की ऊँचाइयों को व्यावहारिक बनाये रखने में आज अनेक मुश्किलें सामने आ रही हैं, जिसका प्रमुख कारण जहाँ आज के मानव की बदली हुई मानसिक प्रवृत्ति है, वहीं देश-काल के अनुसार जैन-चिन्तकों द्वारा परिस्थितियों से समझौता न कर पाना भी है।

जैन-साधना पद्धति को दो रूपों में विकसित किया गया है। प्रथम है साधु-जीवन और द्वितीय है श्रावक-जीवन अथवा गृहस्थ जीवन। ऊपर जिस कठोर मार्ग की चर्चा की गई है वह साधु-जीवन को ध्यान में रखकर की गई है। इसका दूसरा पक्ष व्यावहारिक है। यह गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित है। यद्यपि जैन-साधना-पद्धति में साधु और श्रावक के द्वारा पालने योग्य मूल नियम पृथक्-पृथक् नहीं है, किन्तु जिन मूलनियमों का पालन साधु पूर्ण रूप से करता है सूक्ष्म रूप से करता है, उन्हीं मूल नियमों का पालन श्रावक (गृहस्थ) एक देश (स्थूल रूप से) करता है। उसे ही जैन दार्शनिकों/चिन्तकों ने क्रमशः महाव्रत और अणुव्रत के नाम से उल्लिखित किया है। जैन साधु अथवा श्रावक के लिये जिन मूलनियमों का पालन करना आवश्यक माना गया है, वे हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाँच मूलनियमों का पालन सच्चे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु और श्रावक दोनों के लिये आवश्यक है। यद्यपि ऊपर पृथक्-पृथक् पाँच मूलनियमों का उल्लेख किया गया है, किन्तु इनके भी मूल में अहिंसा नियम का पालन करना ही एक मात्र उद्देश्य है। शेष चार नियम उसी अहिंसाधर्म की रक्षा के लिये हैं। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पालन के अभाव में अहिंसा धर्म का पालन अधूरा है। अथवा उसका पूर्णतया पालन कर पाना सम्भव नहीं है।

जैन-चिन्तकों ने एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी चेतनधारियों को जीव के रूप में स्वीकार किया है। अत: जब तक यह ज्ञात न हो जाये कि कौन-कौन जीव हैं अथवा कहाँ-कहाँ जीव राशि है तब तक उनकी रक्षा कर पाना सम्भव नहीं है। जैन-चिन्तकों ने प्रारम्भ से ही पेड़-पौधों में जीवपना स्वीकार किया है, जिसकी पुष्टि आधुनिक वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र वसु ने भी अपने वैज्ञानिक प्रयोगों के माध्यम से कुछ वर्षों पूर्व की थी और आज सम्पूर्ण बौद्धिक जगत् इस बात से सहमत है कि पेड़-पौधों में भी जीवपना पाया जाता है। अत: अहिंसा के प्रति समर्पित कोई भी व्यक्ति पेड़-पौधों को भी जानबूझकर नष्ट नहीं करेगा। अन्यथा वह हिंसा के प्रति उत्तरदायी बनने से अपने को बचा नहीं सकेगा।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण की जो समस्या है उसका मूल कारण पेड़-पौधों की अन्धाधुन्ध कटाई है और पेड़-पौधों की कमी के कारण वर्षा की भी कमी हुई है, जिससे हमारे खाद्यान्नों के उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ा है और हमारे देश में खाद्य-समस्या का संकट पैदा हो गया है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि जैन-चिन्तनों ने अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन किया है, उतना जीवन में पालन करना सम्भव नहीं है। अत: उनके इस अहिंसा-विवेचन की आलोचना की जाती है। इस सन्दर्भ में मैं जैन-चिन्तनों की ओर से कुछ न कहकर मात्र राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के जीवन से सम्बन्धित एक घटना का उल्लेख करना चाहूँगा।

एक बार कुछ इसी प्रकार से कुछ बुद्धिजीवियों ने महात्मा गाँधी के समक्ष एक प्रश्न उपस्थित करते हुये कहा था कि महात्मा जी! आप अहिंसा की जितनी सूक्ष्मतम परिभाषा करते हैं, उसका जीवन में पालन करना सम्भव नहीं है। इसका उत्तर देते हुये महात्मा गाँधी ने कहा था कि यदि हम अहिंसा की परिभाषा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनुरूप अहिंसा का पालन नहीं कर पाते हैं तो यह हमारी कमजोरी है, किन्तु अपनी इस कमजोरी के कारण अहिंसा की परिभाषा को नहीं बदला जा सकता है।

इससे स्पष्ट है कि जैन-चिन्तकों ने अहिंसा का जो सूक्ष्म-विवेचन किया है, उसका पालन करने के लिये कटिबद्ध होना आवश्यक है, तभी हम अपने पर्यावरण की रक्षा कर सकेंगे और उससे होने वाली हानियों से बच सकेंगे।

आज सम्पूर्ण विश्व युद्ध की आशंका से ग्रस्त है और स्थिति इतनी भयंकर हो गई है कि सभी देश एक दूसरे से भयभीत हैं। फलस्वरूप सभी देशों ने अपनी-अपनी रक्षा के लिये शस्त्रों का संग्रह कर रखा है। देश के आर्थिक बजट का लगभग आधा अंश मात्र अस्त्र-शस्त्रों के जुटाने एवं उनकी साज-सम्हाल करने में ही खर्च किया जा रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति में एक मात्र अहिंसा सिद्धान्त ही ऐसा है, जो विश्व के सभी प्राणियों को भयमुक्त जीवन प्रदान कर सकता है और विश्व के कोने-कोने से उठी निःशस्त्रीकरण की आवाज को मूर्त रूप दे सकता है। बिना अहिंसक जीवन के सुख-शान्ति सम्भव नहीं है।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है कि—जिस प्रकार के आचार-व्यवहार से तुम्हें कष्ट की अनुभूति होती है वैसा आचार-व्यवहार तुम दूसरों के साथ भी मत करो[१]।

जैन-चिन्तकों ने अहिंसा के पश्चात् जीवन में सत्य धर्म को स्वीकार किया है। यह सत्य धर्म भी हमारे जीवन में आवश्यक है, अन्यथा हम दूसरों का हृदय नहीं जीत सकते हैं।

इसी प्रकार जीवन में अचौर्य (चौर्य कर्म से विरत होना) का भी विशेष महत्त्व है। इससे जीवन में जहाँ पुरुषार्थ को बढ़ावा मिलता है, वहीं हम दूसरों के द्वारा अर्जित सुख-सम्पत्ति को उसकी अनुमति के बिना ग्रहण न करने से उसे दुःखी होने से बचा सकते हैं। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने धन को प्राण की संज्ञा दी है। क्योंकि धन-सम्पत्ति के चले जाने/नष्ट हो जाने से व्यक्ति को इतना

---

१. यही बात महाभारत में भी कही गई है—
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कष्ट होता है कि वह आत्मघात जैसे जघन्य कृत्य करने से भी नहीं चूकता है। अत: किसी जीव को कष्ट न हो इस दृष्टि से जीवन में अचौर्य नियम का पालन करना आवश्यक है।

आज देश की बढ़ती हुई जनसंख्या पर नियन्त्रण पाने के लिये विविध कृत्रिम-साधनों का प्रयोग किया जा रहा है, जो जनसंख्या वृद्धि पर किञ्चित् नियन्त्रण तो करते हैं, किन्तु बदले में अनेक रोगों को भी दे जाते हैं। अत: कृत्रिम-साधनों का प्रयोग हानिकारक है। जैन-चिन्तकों ने जैनाचार के अन्तर्गत जीवन में ब्रह्मचर्य को पालन करने का उपदेश दिया है। वस्तुत: यह आत्मसंयम के माध्यम से जनसंख्या की वृद्धि पर तो रोक लगाता ही है, साथ ही अन्य विविध जानलेवा रोगों/हानियों से स्वत: बच जाता है। आज विश्व स्तर पर फैले एड्स जैसे जानलेवा रोगों पर भी ब्रह्मचर्य के माध्यम से नियन्त्रण पाया जा सकता है।

जन सामान्य के असन्तोष का एक कारण आर्थिक विषमता भी है और इस विषमता को दूर करने के लिये आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के संग्रह का निषेध जैन-चिन्तकों ने किया है। इसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में अपरिग्रहवाद कहा गया है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी द्वारा प्रवर्तित ट्रष्टीशिप का सिद्धान्त इसी अपरिग्रहवाद का नवीन संस्करण है, जिसकी प्रेरणा उन्हें जैन साधु रायचन्द्र जी से प्राप्त हुई थी। गाँधी जी रायचन्द्र जी को अपना गुरु मानते थे।

इस प्रकार जैन-चिन्तनों द्वारा पल्लवित एवं पुष्पित ये पाँच सिद्धान्त हैं, जिनका केन्द्र-बिन्दु अन्तत: अहिंसा ही ठहरता है। इन्हीं पाँच को योगसूत्र में यम कहा गया है।

इन पाँचों सिद्धान्तों के पालन की अपेक्षा एक साथ सम्पूर्ण समाज से करना एक दु:साहस मात्र होगा, किन्तु इनको अपने व्यक्तिगत जीवन में उतारने का प्रयास किया जा सकता है उनके पालन की जिम्मेवारी ली जा सकती है और इसी प्रकार सभी व्यक्ति अपनी-अपनी जिम्मेवारी ले लें तो एक-एक इकाई मिलकर एक स्वस्थ समाज की संरचना करने में समर्थ हो सकेंगें और इस प्रकार अपनी-अपनी जिम्मेवारी निभाने से किसी भी व्यक्ति को किसी भी अन्य व्यक्ति से उक्त नियमों को पलवाने का भार नहीं उठाना पड़ेगा और सम्पूर्ण समाज को सुधारने की एक सुखद कल्पना की जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त पाँच नियमों के पालन के साथ-साथ एक बात और। हम अपने जीवन में जीव मात्र के प्रति मैत्री स्थापित करें। अपने से अधिक गुणवान् व्यक्ति को देखकर उसका आदर-सम्मान कर हर्ष का अनुभव करें। कष्ट में पड़े जीवों के प्रति कृपाभाव बनाये रखें और जो व्यक्ति हित की बात न सुनता हो तो उसके प्रति माध्यस्थभाव को धारण करें। क्योंकि उसके प्रति हमने अपना कर्तव्य निभाने का पूरा-पूरा प्रयास किया है और कोई यदि उसे स्वीकार न करे तो उसमें संकल्प-विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है।

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ! ।।

इस प्रकार यदि हम अपने जीवन में उपर्युक्त पाँच सिद्धान्तों का पालन कर सकें और अन्त में कही गई चार भावनाओं अथवा बौद्धदर्शन की शब्दावली में चार ब्रह्मविहारों अथवा योगदर्शन के अनुसार चित्त-प्रसाधन के चार कारणों पर अमल कर सकें तो हमारा व्यावहारिक जीवन सफलता के सोपानों का स्पर्श कर सकेगा और हम अपने जीवन को उन्नत बना सकेंगे।

ये गुण आप सब में भी आयें और आप भी उन ऊँचाइयों का स्पर्श कर सकें। इसी भावना के साथ अपनी बात समाप्त करता हूँ।

●

स्याद्वादो विद्यते यत्र,
पक्षपातो न विद्यते ।
अहिंसायाः प्रधानत्वं
जैनधर्मः स उच्यते ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन श्रमण परम्परा और अनेकान्त दर्शन

डॉ. अशोक कुमार जैन

सहायक आचार्य,
जैन विद्या एवं तुलनात्मक-दर्शन विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ नागौर, राजस्थान

भारतवर्ष की दो परम्परायें बहुत प्राचीन हैं। एक है श्रमण परम्परा और दूसरी है वैदिक परम्परा। श्रमण परम्परा निर्वृतिमूलक है। समत्व की साधना द्वारा राग, द्वेष और मोह रूप **वैभाविक** परिणतियों का उपशमन कर नि:श्रेयस की प्राप्ति इसका परम लक्ष्य है। श्रमण परम्परा इस बात को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करती है कि मनुष्य को आत्मिक विकास के लिए किसी की कृपा या दया की आवश्यकता नहीं उसमें स्वयं ही अनन्त शक्ति विद्यमान है। संयम, तप और त्याग के माध्यम से स्वयं में अन्तर्निहित अनन्त शक्ति को उद्घाटित किया जा सकता है।

श्रमण परम्परा में जैनधर्म और दर्शन का प्रमुख स्थान है। प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद[१] में केशी वातरशना आदि जैन श्रमण मुनियों के उल्लेख मिलते हैं। भागवत[२] का उल्लेख है कि 'भगवान ऋषभ ने श्रमणों का धर्म बताने के लिए ही जन्म धारण किया था। भगवान् ऋषभ की परम्परा में महावीर पर्यन्त अन्य २३ तीर्थंकर हुए जिनमें भगवान पार्श्व और महावीर दोनों ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं। जैनधर्म के श्रमण धर्म, आर्हत् धर्म और निर्ग्रन्थ धर्म ये तीन प्राचीन नाम हैं। बाद में जैन नाम का प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

धर्म, संस्कृति और दर्शन ये तीनों मानव जीवन के विकास की सीमा रेखायें हैं। इन तीनों को विभक्त नहीं किया जा सकता। तीनों का समन्वित

---

१. ऋग्वेद १०:१३६:१-४ भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ. १३

२. वर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत भगवान् परमर्षिभि: प्रसादतो नाभे: प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दिर्शतकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावतार''। श्री मद्भागवत ५:३:२०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप ही मानव जीवन के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। संस्कृति जब आचारोन्मुख होती है तब उसे धर्म कहा जाता है और जब वह विचारोन्मुख होती है तब उसे दर्शन कहा जाता है। संस्कृति का बाह्य रूप एवं क्रियाकाण्ड धर्म है और संस्कृति की आन्तरिक रेखा अथवा चिन्तन दर्शन की संज्ञा को प्राप्त करता है। संस्कृति का अर्थ है संस्कार। संस्कार चेतन का ही हो सकता है, जड़ का नहीं। इस सन्दर्भ में संस्कृति का सम्बन्ध चेतन से ही है, अचेतन से नहीं। जब प्रकृति में विकार आ जाता है तब उसके सुधार के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वही संस्कार अथवा संस्कृति है[१]।

जैन परम्परा की प्राचीनता के उल्लेख साहित्य में तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं ही। पुरातात्विक सन्दर्भो में श्रमण तीर्थंकरों की मूर्तियाँ तथा अभिलेख इसकी प्राचीनता के जीवन्त प्रमाण हैं। जैन संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए आ. समन्तभद्र ने लिखा है—

दया दम त्यागसमाधिनिष्ठं नय प्रमाण प्रकृताञ्ज सार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिनं त्वदीयं मतमद्वितीयम्[२] ।।

अर्थात् हे भगवन्! आपका मत (सिद्धान्त) अद्वितीय है, क्योंकि वह जीवदया से परिपूर्ण है, दम (आत्म नियन्त्रण) और त्याग की गरिमा से मण्डित होता हुआ समाधि (सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमयी) धर्मनिष्ठ है तथा नयों और प्रमाणों द्वारा अनेकान्तात्मक यथार्थ वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक होकर सत्य ज्ञान की ठोस नींव पर प्रतिष्ठित है एवं समस्त दोषों से रहित (निष्कलंक) है। इस प्रकार वह सचमुच ही अद्वितीय है।

अहिंसा जैनधर्म का मूलाधार है। जैन तीर्थंकारों ने मनसा, वाचा, कर्मणा सभी क्षेत्रों में समता की प्रतिष्ठापना का उपदेश दिया इसी कारण आचार की समता अहिंसा में, विचारों की समता अनेकान्त में, वाणी की समता स्याद्वाद और समाज की समता अपरिग्रह में सन्निहित है। समदृष्टि बनने के लिए वस्तु स्वरूप का यथार्थज्ञान (तत्वज्ञान) आवश्यक है। जैनदर्शन ने वस्तु को

---

१. श्रमण संस्कृति, सिद्धान्त और साधना में पं. विजयमुनि शास्त्री का लेख पृ. २५।
२. आ. समन्तभद्र : युक्त्यनुशासन ६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यपर्यायात्मक माना है। वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता को तो जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यदर्शन भी स्वीकार करते हैं परन्तु जैनदर्शन के अनेकान्त का प्रमुख आधार वस्तु में विरोधी युगलों का होना है। वे विरोधी युगल हैं १. शाश्वत और परिवर्तन २. सत् और असत् ३. सामान्य और विशेष ४. वाच्य और अवाच्य। द्रव्य में इस प्रकार के अनन्त विरोधी युगल होते हैं। उन्हीं के आधार पर अनेकान्त का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है[१]।

अनेकान्त के लक्षण के सम्बन्ध में आ. अकलंकदेव ने अष्टशती नामक भाष्य में लिखा है कि वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण करने का नाम अनेकान्त है[२]। आचार्य अमृतचन्द ने समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में लिखा है कि जो वस्तु तत्स्वरूप है वही अतत्स्वरूप भी है। जो वस्तु एक है वही अनेक भी है। जो वस्तु सत् है वही असत् भी है तथा जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है। इस प्रथम एक ही वस्तु में वस्तुत्व में निष्पादक परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकर्मशत करना ही अनेकान्त है।

अनेकान्त जैनदर्शन का प्राण तत्व है। वह चिन्तन के धरातल पर स्वस्थ मानसिकता का सञ्चार कर लोगों में सहिष्णुता का विकास करता है। हमें अपने दृष्टिकोण के साथ-साथ दूसरों की दृष्टि का भी समादर करना चाहिए। जहाँ पक्षपात की दुरभिसंधि व्याप्त है वहाँ तत्त्व का चिन्तन समीचीन नहीं हो सकता। जैसी दृष्टि होती है वैसी ही सृष्टि होती है। भगवान् महावीर ने जन जीवन में व्याप्त विषमता की खाई समाप्त करने के लिए अनेकान्त दृष्टि पर बल दिया। श्रद्धा और तर्क दोनों की मर्यादाओं को दृष्टिगत करते हुए वस्तु का विमर्श करना चाहिए। हेतुगम्य पदार्थों में तर्कबुद्धि का प्रयोग युक्तिसंगत है परन्तु अहेतुगम्य पदार्थों में श्रद्धा भावना को ही स्थान देना चाहिए क्योंकि स्वभाव में तर्क नहीं चलता। अनेकान्त दृष्टि ने परस्पर विरोध की भूमिका में खड़े हुए विचारों को समन्वय के सूत्र में स्थापित कर मानव समता की सृष्टि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

---

१. आचार्य महाप्रज्ञ : जैनदर्शन और अनेकान्त पृ. ८।

२. सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्त प्रतिक्षेप लक्षणोऽनेकान्तः।।
अष्टशती, अष्टसस्त्री पृ. २८६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्त के दो रूप हैं नय और प्रमाण। द्रव्य के एक पर्याय को जानने वाली दृष्टि नय है और अनन्त विरोधी युगलात्मक समग्र द्रव्य को जानने वाली दृष्टि प्रमाण है। चूंकि जैनदर्शन ने वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मक माना है इस कारण उसने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों से विश्व की व्याख्या की है। अभेद की दृष्टि से द्रव्य की प्रधानता होती है और भेद दृष्टि में पर्याय की प्रधानता होती है। द्रव्य और पर्याय का अनन्यभूत सम्बन्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

पज्जय विजुदं दव्वं दव्यविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अषाणभूदं भावं समणो परूविंति[१] ।।

अर्थात् पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय नहीं है। दोनों अनन्यभूत हैं ऐसा श्रमण प्ररूपित करते हैं। जहाँ वेदान्त दर्शन में यह प्रतिपादित किया गया कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है वहाँ जैनदर्शन ने दोनों को सत्य स्वीकार किया। अभेद भी सत्य है और भेद भी सत्य है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय जब परस्पर में सापेक्ष रहते हैं तभी सम्यक् नय कहलाते हैं। यदि द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा न करके स्वतन्त्र रूप से द्रव्य को विषय करता है अथवा पर्याय का निराकरण करता है तो वह मिथ्या नय है। इसी प्रकार यदि पर्यायार्थिक नय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा न करके स्वतन्त्र रूप से पर्याय को विषय करता है अथवा द्रव्य का निराकरण करता है तो वह मिथ्या नय है अतः नयों का परस्पर सापेक्ष होना आवश्यक है। आ. समन्तभद्र ने कहा है 'निरपेक्षा नयो मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत[२]।

स्वयम्भूस्तोत्र[३] में अनेकान्त भी प्रमाण और नयरूप साधनों की अपेक्षा से अनेकान्त रूप कहा गया है। वह प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त रूप है और विवक्षित नय की अपेक्षा एकान्तरूप है। अनेकान्त भी सर्वथा अनेकान्त रूप नहीं है किन्तु कथंचित् अनेकान्तरूप और कथंचित् एकान्तरूप है। जब वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी विवक्षित नय की दृष्टि से किसी एक धर्म का प्रतिपादन करता है तब वही अनेकान्त एकान्त रूप हो जाता है किन्तु अन्य धर्म सापेक्ष

---

१. यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यम् इत्येकवस्तु वस्तुत्व निष्पादक परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वय प्रकाशनमनेकान्तः। समयसार (आत्मख्याति १०।२४७)।

२. पञ्चास्तिकाय गाथा, ३. आप्तमीमांसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने के कारण वह सम्यक् एकान्त है, मिथ्यैकान्त नहीं। मिथ्यैकान्त तो अन्य धर्मों का निराकरण करके केवल एक धर्म को सिद्ध करता है[१]।

अनेकान्त मूलतः मैत्री का वैचारिक सिद्धान्त है। विरोध अस्तित्व का सार्वभौम नियम है। ऐसा कोई भी अस्तित्व नहीं है जिसमें विरोधी युगल एक साथ न रहते हों। एक भाषा में अस्तित्व को विरोधी युगलों का समवाय कहा जा सकता है। अनेकान्त ने इस सत्य का दर्शन किया। विरोधी युगलों के सह अस्तित्व को भाषा अथवा परिभाषा दी उसमें रहे हुए समन्वय में सूत्र खोजे। अनेकान्त जैनदर्शन की व्याख्या सूत्र बन गया। अनेकान्त को समझे बिना जैनदर्शन को नहीं समझा जा सकता[२]। आचार्य अमृतचन्द लिखते हैं—

नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु,
तत्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः ।
स्याद्वाद् शुद्धिमधिकामधिगम्य संतो,
ज्ञानी भवन्ति जिन नीति मलंघयन्तः[३] ।।

अर्थात् सज्जन पुरुष अनेकान्तयुक्त अपनी दृष्टि से वस्तु की यथार्थ व्यवस्था को स्वयं ही देखते हुए तथा स्याद्वाद रूप अनेकान्त की विशुद्धि को अधिकाधिक प्राप्त करके जैन मार्ग को स्वीकार कर ज्ञानी बनते हैं।

उपर्युक्त तथ्य की विशेष व्याख्या में जैन जगत् के लब्ध प्रतिष्ठ मनीषी श्री पं. जगन्मोहनलाल सिद्धान्त शास्त्री ने प्रश्नोत्तरों के माध्यम से अनेकान्त व्यवस्था का हार्द स्पष्ट किया है जो इस प्रकार है—

प्रश्न—अनेकान्तदृष्टि जैनी नीति हो सकती है तथापि वही सत्य है ऐसा कैसे जाना जाय।

समाधान—जैसा वस्तु का स्वभाव है, उसे ही जैनी दृष्टि देखती है अतः वही सत्य है ऐसा स्वीकार करना योग्य है।

---

१. अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाणनय साधनः।
अनेकान्तः प्रमाणाते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।। स्वयम्भूस्तोत्र पृ. १३९।
२. प्रो. उदयचन्द जैन स्वयम्भूस्तोत्र तत्वप्रदीपिका पृ. १४०।
३. आचार्य महाप्रज्ञः जैनदर्शन और अनेकान्त पृ. १।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—जैनी नीति तो अनिर्णयात्मक है। वस्तु के किसी एक निश्चित रूप का प्रदर्शन नहीं करती है। दोनों ओर झुकती है अतः संशय के झूले में झूलता हुआ जैननीतिवेदी को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है।

समाधान—पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है। वे सभी धर्म, अपेक्षा दृष्टि से परस्पर विरोधी जैसे भी दिखाई देते हैं, तब जैन दृष्टि उनमें समन्वय करती है, अतः वह वस्तु की नियामक है इसलिए उसे प्रामाणिक मानना चाहिए।

प्रश्न—परस्पर विरोधी एक साथ नहीं रह सकते, अतः वस्तु जिस धर्म वाली हो उसी रूप उसे कहना चाहिए। नित्य को नित्यरूप, अनित्य को अनित्यरूप, एक को एक रूप, अनेक को अनेक रूप ही कहना चाहिए। एक ही वस्तु में नित्यानित्य, एकानेक ऐसा परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय कैसे चलेगा? यह समन्वय काल्पनिक है, असत्य है। उनकी परस्पर विरोध रूप स्थिति ही सत्य है।

समाधान—पदार्थ में रहने वाले अनन्त धर्म, वास्तव में विरोधी नहीं है उनमें शाब्दिक विरोध सा प्रतिभासित होता है। जो पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य प्रतीत होता है वही समय-समय पर होने वाले अपने परिणमनों से अनित्य प्रतीत होता है। अपेक्षा भेद से दोनों धर्म अविरोध रूप हैं। जो विरोधी हैं वे एक साथ नहीं रह सकते, पर जो एक साथ अपेक्षा भेद से रहते हैं, उन्हें विरोधी कैसे कहा जाय? जो सामान्य से एक हैं, वही अपनी विशेषताओं के भेद में अनेक रूप हैं। सामान्य विशेष अपेक्षा भेद से हैं उन दोनों में भी अविरुद्धपना हैं। यह समन्वय दृष्टि ही वास्तविक सत्य है। अविरोधी रूप से पाये जाने वाले में विरोध मानना ही काल्पनिक है, असत्य है।

प्रश्न—वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक जैनी अनेकान्त पद्धति में उलझ जाता है। उसकी उल्झन दूर कर उसे किसी एक रूप में ही वर्णन करना चाहिए, वही सत्य होगा?

समाधान—ऐसा नहीं है। वस्तु स्वयं अपने गुण पर्यायों में है। उसे ऐसा ही बताना सत्य है। वस्तु वस्तुतः उलझी नहीं है, वह तो अनेकधर्मात्मक ही है। अपने में सुलझी है, स्पष्ट है। उसे विवक्षा भेद से समझा जा सकता है। उसमें समझने का प्रयत्न श्रेयस्कर है। न समझना अज्ञान मात्र है। अज्ञानी ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उलझा है। जैनी नीति वस्तु के आधार पर चलती है, उसे स्वीकार करना सुलझना है उलझना नहीं[१]।

इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि के द्वारा अनेकों विरोध अनायास समाप्त किये जा सकते हैं। अथवा जाति, धर्म, राष्ट्र, समाज में जो पारस्परिक द्वन्द चल रहे हैं उसमें अनेकान्त दृष्टि से ही समाधान संभव है। समाज में विवाद का वातावरण समाप्त होकर संवाद का वातावरण बने। हमें दृष्टि को सम्यक् बनाकर शांतिसहिष्णुता का वातावरण निर्माण करना चाहिए। वर्तमान संदर्भों में सामाजिक राजनीतिक, धार्मिक क्षेत्रों में अनेकान्त सिद्धान्त से ही समस्याओं का समाधान संभव है। जैन श्रमण परम्परा में प्रतिपादित आचार एवं विचार दर्शन के सम्यक् प्रयोग से सुख शान्ति का साम्राज्य संभव है। लोक व्यवहार भी अनेकान्त बिना संभव नहीं है। अचार्य सिद्धसेन ने लिखा है।

जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वथा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स[२]।।

●

---

१. आ. अमृतचन्द कलश २६५।
२. जगमोहन लाल सिद्धान्त शास्त्री अध्यात्म अमृतकलश पृ. ३६७-३६८।
३. सम्मइसुत्तं अणेगंत कं उं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत कथा-साहित्यः उद्भव, विकास एवं व्यापकता

डॉ. जिनेन्द्र जैन

सहायक आचार्य, प्राकृत-भाषा एवं
साहित्य विभाग जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राज)- ३४१३०६

भारतीय वाङ्मय में संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश-साहित्य का अपना विशेष स्थान है। साहित्य की समस्त विधाओं में प्राप्त इन तीनों भाषाओं के साहित्य का अध्ययन संस्कृति एवं उसके मूल स्रोत को जानने में आचार्यों एवं महापुरुषों ने इतिहास, धर्म, दर्शन, संस्कृति, समाज विषयक विपुल साहित्य लिखा, जिनमें पुराण, महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा, चरित, नाटक, शिलालेख, व्यंग्य, गीति, स्तोत्र, चम्पू आदि अनेक विधाएँ परिगणित हैं। उन्हीं विधाओं के आलोक में लगभग ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी से लेकर १७-१८ वीं शताब्दी तक लिखे गये प्राकृत-साहित्य का अपना महत्त्व है। इन विधाओं में भी मानव एवं समाज का अत्यधिक निकटता का सम्बन्ध कथासाहित्य से रहा है। अतः प्राकृत कथासाहित्य के उद्भव विषयक मूलस्रोत, स्वरूप, भेद तथा उसके विषय और व्यापकता सम्बन्धी बिन्दुओं को उजागर करने का प्रयास प्रस्तुत आलेख में किया गया है।

यह सर्वमान्य है कि कथासाहित्य का सम्बन्ध मानव के आदिकाल से ही है। क्योंकि मानव का जब से पृथ्वी पर अवतरण हुआ और क्रमशः उसका विकास प्रारम्भ हुआ, तभी से उसे (मानव को) मनोविनोद तथा ज्ञानवर्धन की आवश्यकता महसूस हुई। अतः आवश्यकता आविष्कार की जननी हैं। इस उक्ति के अनुसार मानव ने अपने मनोविनोद एवं ज्ञानवर्धन का एक माध्यम बनाया कथा-कहानी। यही कराण है कि मानव नेत्रोन्मीलन से लेकर अपनी अन्तिम श्वास तक कथा-कहानी कहता और सुनता है। इसमें जिज्ञासा और कौतूहल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ऐसी शक्ति समाहित है, जिससे आबाल-वृद्ध सभी के लिए ग्राह्य है। श्रीमद्भागवत् में संसारताप से संतप्त प्राणी के लिए कथा को संजीवनी बूटी कहा है[१]।

प्राकृत कथा-साहित्य की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि के रूप में यद्यपि संस्कृत साहित्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता। क्योंकि वेदों से लेकर ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत आदि के प्रंसगो, संवादों व व्याख्याओं आदि में अनेक ऐसी कथासंयोजनाएँ प्राप्त होती हैं जो भले ही आज के कथासाहित्य के स्वरूप की तुलना में स्वतन्त्र व भिन्न हो। किन्तु उन्हें कथा, कहानी, उपाख्यान, आख्यान आदि किसी न किसी रूप में परिगणित किया ही जायेगा। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार यह प्राचीनतम रूप ऋग्वेद के यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, सरमा और पणिगण जैसे लाक्षणिक संवादों ब्राह्मणों के सौपर्णीकाद्रव जैसे रूपात्मक आख्यानों, उपनिषदों के सनत्कुमार-नारद जैसे ब्रह्मर्षियों की भावमूलक आध्यामिक व्याख्याओं एवं महाभारत के गंगावतरण, शृङ्ग, नहुष, ययाति, शकुन्तला, नल आदि जैसे उपाख्यानों में उपलब्ध होता हैं।[२]

प्राकृत कथासाहित्य के बीज रूप मूलस्रोत के निम्न तीन बिन्दु मुख्य हैं—

१. आगम साहित्य; २. व्याख्यान साहित्य; ३. लोक जीवन।

१. जैन आगम-साहित्य यद्यपि धार्मिक आचार, सिद्धान्त निरूपण, आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन, नीति, कर्तव्य परायण जैसे विषयों को विवेचित करता है। किन्तु ये सभी विषय कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किए गए हैं। सिद्धान्तों के गूढ़तम रहस्यों तथा गम्भीर विषयों की गुत्थियों को सुलझाने के लिए कथाओं का आलम्बन लेकर जन-मानव के अन्तस् तक पहुँचा जा सकता हैं। क्योंकि कथा के माध्यम से किए गए सिद्धान्त या विषय के विवेचन को पाठक, श्रोता या जनसामान्य यथाशीघ्र ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि हमारे तीर्थंकरों गणधरों एवं अन्यान्य आचार्यों ने कथाओं का आधार ग्रहण किया और उसे

---

१. तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगल श्रामदाततं भुविगृहणन्ति ते भूरिदा जनाः ।। श्रीमद् भागवत् १०।३१।९

२. शास्त्री नेमिचन्द- हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलान, वैशाली, १९६५, पृ.१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सार्वजनीन एवं लोकप्रिय बनाने का कार्य भी किया। कथा-साहित्य की इसी सार्वजनिक लोकप्रियता के सम्बन्ध में डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा[१] कहते हैं कि— साहित्य के माध्यम से डाले जाने वाले जितने प्रभाव हो सकते हैं, वे रचना के इस प्रकार में अच्छी तरह से उपस्थित किये जा सकते हैं। चाहे सिद्धान्त प्रतिपादन अभिप्रेत हो, चाहे चरित्र-चित्रण की सुन्दरता इष्ट हो, या किसी घटना का महत्त्व-निरूपण करना हो अथवा किसी वातावरण की सजीवता का उद्‌घाटन ही लक्ष्य बनाया जाये, क्रिया का वेग अंकित करना हो या मानसिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करना इष्ट हो— सभी कुछ इसके द्वारा संभव हैं।'' अत एव यह स्पष्ट है कि लोकप्रिय इस विधा का वैयक्तिक और समाजिक जीवन के शोधन और परिमार्जन के लिए आगमिक साहित्य से ही उद्‌गम हुआ है। व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उवासगदशा, अंतकृद्‌दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, तिलोयपण्णत्ती, उत्तराध्ययन सूत्र आदि आगमग्रंथ हैं, जिनमें कथाओं को सूत्ररूप में उल्लिखित किया गया है।

२. जैन आगम-साहित्य के व्याख्यान-साहित्य में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका ग्रन्थ प्रमुख हैं। इसी व्याख्यान-साहित्य में प्राकृत-कथाओं का बहुत कुछ विकास देखने को मिलता है। जहाँ आगम-साहित्य में बीज रूप सूत्र शैली में कथाओं का निर्देश 'वण्णओ' या नाम आदि के उल्लेख मात्र से कर दिया जाता था, वह व्याख्यान-साहित्य में वर्णनों की सजीवता से अनुप्राणित होकर विषय, उद्‌देश्य, वातावरण, पात्र, रूपगठन आदि के नवीनतम प्रयोगों सहित अभिव्यञ्जित किया जाने लगा था। व्याख्यान-साहित्य में वर्णित इन कथाओं का रूप श्रमण-परम्परा से प्रभावित तो था ही साथ ही ऐतिहासिक, अर्धऐतिहासिक, धार्मिक, लौकिक आदि तत्त्वों को भी विवेचन करने वाला था। निर्युक्ति-साहित्य की भांति व्यवहारभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य, दशवैकालिकचूर्णि, निशीथचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि, उत्तराध्ययन की सुखबोधाटीका आदि प्रमुख व्याख्या ग्रंथ हैं, जिनमें प्राकृत-कथाएँ प्राप्त होती हैं। अतः उद्‌गम स्थल आगम-साहित्य से कथा सरिता प्रवाहित होकर अपने कुछ-कुछ आकार को पाने लगी थी।

३. प्राकृत कथासाहित्य के बीज रूप मूलस्त्रोत का तीसरा बिन्दु है— लोक-जीवन। मानवजाति की आदिम परम्पराओं, प्रथाओं और उसके विभिन्न प्रकार के विश्वासों का लोकजीवन में विशेष महत्त्व है। अतः कथाओं में

---

१. शर्मा जगन्नाथ, कहानी का रचना विधान, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५६ पृ.४-५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकमानव की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति का रहना आवश्यक है। यही कारण है कि कथाओं में लोक-जीवन और वहाँ की संस्कृति का वास्तविक प्रतिबिम्ब पड़ता है। कथाएँ लोक-चित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आन्दोलित, चालित और प्रभावित करती हैं, क्योंकि कथाकार जो कहता-सुनता है, उसे लोक-जीवन की वाणी बनाकर और उसमें घुल-मिलकर ही कहता-सुनता हैं। वह कथा के विषय का चुनाव भी लोक-जीवन के किसी विशेष पक्ष से करता है। अत: जनमानस के जीवन के चित्रण में ही लोक धर्म का चित्रण होता है, जो प्राकृत कथा-साहित्य का मूलस्रोत कहा जा सकता है।

प्राकृत-कथा साहित्य के बीज रूप उक्त तीनों मूलस्रोतों में यह अवश्य है कि लिखित रूप में आगम-साहित्य ही प्रथम आधार है, किन्तु लोक जीवन के प्रत्येक पक्ष, घटनाएँ, प्रसंग आदि भी श्रमणों को सहजता से कथा के आधार मिलते रहे, जिनके प्रयोगों से जनमानस भलीभांति परिचित और प्रभावित हो जाते थे।

स्वरूप एवं भेद :-

कथा या कहानी कवि के चित्त से उद्‌भूत अपनी सुनियोजित भावनाओं की अभिव्यक्ति है। चाहे कथा हो अथवा काव्य, दोनों की उत्पत्ति उपमान, रूपक और प्रतीकों द्वारा होती है। सिद्धान्तों अथवा तत्त्वों को इन तीनों की कसौटी पर कसकर जब उद्धरण सहित प्रस्तुत किया जाता है तब वे कथा का रूप ले लेते हैं। कथा के माध्यम से जिन उद्धरणों का प्रयोग रचनाकार करता है वे उपमान, रूपक या प्रतीक की त्रयी से सम्बन्धित होते हैं। इसीलिए अमरकोशकार ने "प्रबन्धकल्पना कथा"[१] कहकर स्पष्ट किया है कि प्रबन्ध कल्पना को कथा कहा गया है। अर्थात् वह रचना जिसमें कवि की अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से कथा की संयोजना की गई हो। यद्यपि ऐतिहासिक या पौराणिक विषय होने पर भी कथा की चेतना में अपनी कल्पना-शक्ति का विस्तार बखूबी किया जाये तथा अभिप्रायविशेष से युक्त शब्दों के प्रयोग द्वारा कथा में रोचकता या मनोरंजकता को बढ़ाने वाली रचना कथा कही जाती है।

यह स्पष्ट है कि कथा-साहित्य में मानव के वैयक्तिक जीवन व सामाजिक पक्ष को बाह्य एवं आभ्यन्तर क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के विवेचन के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। विवेचित समस्त क्रियाओं का सम्बन्ध जिन बिन्दुओं से

---

१. अमरकोश, १।५।६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, उन्हें कथा के आवश्यक अङ्ग या तत्त्व कहा जाता है। वे निम्नाङ्कित हैं—

१. कथानक (कथासूत्र) २. पात्र (चरित्र-चित्रण)
३. संवाद (कथोपकथन) ४. देशकाल का चित्रण
५. शैली ६. उद्देश्य

किसी भी कथा का कथासूत्र पात्रों के संवादों से आगे बढ़ता है। कथाकार अपने उद्देश्य को लेकर पात्रानुसार सांस्कृतिक एवं भौगोलिक परिवेश में जीवन के उतार-चढ़ाव सहित विभिन्न पक्षों का चित्रण कुशल शैली से करता है, तभी उसकी कथा सफल व पूर्ण कही जाती है। अत: उक्त लक्षण कथाग्रन्थों में आवश्यक व अनिवार्य कहे गये हैं।

प्राकृत कथा-साहित्य विपुल मात्रा में प्राप्त होता हैं। जैन-आचार्यों, मनीषियों द्वारा लिखे गये कथा-ग्रन्थों में कथाओं के शिल्प, विषय, पात्र, भाषा, शैली आदि के आधार पर विभिन्न रूपों में भेद-प्रभेद की चर्चा की गई है। दशवैकालिक-निर्युक्ति, कुवलयमालाकहा, लीलावईकहा, धवला, समराइच्चकहा के अतिरिक्त पउमचरियं, महापुराण आदि ग्रन्थों में कथाओं के भेदों का उल्लेख किया गया है।

विषय निरूपण की अपेक्षा से कथा के तीन भेद किए जाते हैं—

१. **अकथा–** मिथ्यात्व के उदय से जिस कथा का निरूपण किया जाये, अकथा कहलाती है। यह संसार के परिभ्रमण को बढ़ाने वाली होती है।

२. **कथा–** संयम, तप, त्याग आदि के द्वारा स्वयं को परिमार्जित कर लोक-कल्याण की भावना से किए जाने वाली कथा का निरूपण कथा या सत्कथा है।

३. **विकथा–** प्रमाद, कषाय, राग-द्वेष, स्त्री आदि की विकृति से युक्त निरूपित कथा विकथा कही जाती है।

कथा के विषय की अपेक्षा से चार भेद भी किए गए हैं[१]।

---

१. (क) अत्थकहा, कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा- दशवैकालिक, गाथा१८८ निर्युक्ति पृ. २१२

(ख) एत्थ सामन्नओ चत्तारि कथाओ हवन्ति। तं जहा अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा, संकिण्णकहा य समराइच्चकहा, पृ.२

(ग) महापुराण (जिनसेन), प्रथम परि.११८-११९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. अर्थकथा २. कामकथा

३. धर्मकथा ४. मिश्रितकथा

विषय को आधार मानकर धवलाटीकाकार वीरसेनाचार्य ने धर्मकथा के चार भेदों का निरूपण किया हैं[१]।

१. आक्षेपणी २. विक्षेपणी

३. संवेदनी ४. निर्वेदनी

कथाओं में प्रयुक्त पात्रों के आधार पर तीन भेद किए जाते हैं[२]—

१. **दिव्यकथा–** जिस कथा में दिव्य-व्यक्ति पात्र हों तथा उन्हीं के द्वारा घटनाएं घटित हों।

२. **मानुषी कथा–** जिसमें मनुष्य पात्र हों, मानुषी कथाएँ कहलाती हैं।

३. **दिव्य-मानुषी कथा–** जिसमें देव तथा मनुष्य पात्र हों, वे दिव्य-मानुषी कथाएँ कही जाती हैं।

प्राकृत-कथाओं में प्रयुक्त भाषा के आधार पर भी कथा के तीन भेद प्राप्त होते हैं[३]।

१. संस्कृत २. प्राकृत ३. मिश्र

उद्योतनसूरि ने स्थापत्य के आधार पर कथाओं के पाँच भेद गिनाये हैं[४]।

१. सकल कथा २. खण्ड कथा ३. उल्लाव कथा

४. परिहास कथा ५. संकीर्ण कथा

---

१. धवलाटीका, पुस्तक १. पृ. १०४

२. (क) दिव्वं, दिव्वमाणुसं, माणुसं च। तत्थ दिव्वं नाम जत्थ केवलमेव देव चरिअं वण्णिज्जइ। समराइच्च कहा, पृ.२

३. तं जह दिव्वा तह दिव्वमाणुसीं माणुसी तहच्चेय।— लीलावई कहा, गाथा ३५ गाथा ३६

४. तओ पुण पंच कहाओ। तं जहा— सयलकहा, खंडकहा, उल्लावकहा, परिहासकहा। तहावरा कहियत्ति— संकिण्ण कहत्ति।
कुवलयमालाकहा, पृ. ४, अनुच्छेद ७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत कथाओं का विषय एवं उसकी व्यापकता

जैन अङ्ग आगम, उपांग व टीका-साहित्य के प्रचारार्थ प्राकृत कथासाहित्य में अभूतपूर्व विकास की धारा दिखाई देती है। कथा के माध्यम से प्राकृत कथाकारों ने समाज और जीवन की विकृतियों पर जितना गहरा प्रहार किया है, उतना साहित्य की अन्य विधाओं के द्वारा कभी सम्भव नहीं था। समाज और व्यक्ति के विकारी जीवन पर चोट करना मात्र ही इन कथाओं का लक्ष्य नहीं था, अपितु विकारों का निराकरण कर जीवन में सुधार लाना तथा आत्मा के कल्याण के साथ-साथ जीवन को सर्वाङ्गीण सुखी बनाना भी था।

कथानक संयोजना में जैन कथाकार पुराणोक्त महापुरुषों के जीवन-चरित, मुनिधर्म-तत्त्व, उपदेश अलौकिक तत्त्वों का निरूपण तथा सिद्धान्त विवेचना को भी सीधे-सीधे अथवा अवान्तर कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत करते रहे हैं। परम्परा से चली आ रहीं सामाजिक मर्यादाओं की व्यवस्था का अतिक्रमण कर नये एवं युगानुरूप सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों को स्थापित करने का सफलतम प्रयोग जैन-कथाकारों ने अपने दृढ़ आचार का पालन करते हुए किया है। उदारतापूर्ण मानवीय एवं साहसिक दृष्टिकोण को अपना कर नूतन प्रवृत्तियों और मौलिक भावनाओं से समाज को अनुप्राणित किया। यही कारण है कि उन्होंने अपनी सृजनात्मक कल्पना-शक्ति से लौकिक-कथा के आवरण में धर्म-दर्शन व आध्यात्मिकता का पुट देकर इसे रोचक बनाया।

यद्यपि जैनधर्म प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जाने वाला मार्ग है। क्योंकि कथाकारों की शुष्क उपदेशात्मक शैली का प्रभावोत्पादक शैली के बिना कोई मूल्य नहीं था। किन्तु युग के अनुरूप आचार्यों ने, कथाकारों ने धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों मात्र से बोझिल नहीं किया, वरन् आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित करने के लिए उपदेशात्मक शैली के साथ शृंगारिक शैली का भी सहारा लिया। लोक मानस में प्रचलित आदर्शों को, चाहे वे वैदिक साहित्य के विषय ही क्यों न हों, जैनकथाकारों ने अपने कथानक का विषय बनाया। और उन कथानकों को जैनधर्म के अनुरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया, जिसमें वे अधिकतम सफल कहे जा सकते हैं। जैन साहित्य की उपलब्धियों और विशेषताओं का आकलन करने वाले विदेशी विद्वान् विन्टरनित्ज ने कहा हैं कि "श्रमण-साहित्य का विषय मात्र ब्राह्मण, पुराण, निजन्धरी कथाओं से नहीं लिया गया हैं, बल्कि लोक-कथाओं, परीकथाओं से ग्रहीत हैं[१]। जैन कथा-साहित्य की व्यापकता एवं

---

१. दीजिन इन दी टिस्ट्री आफ इण्डिन लिटरेचर सम्पादित मुनि जिनविजन, पृ.५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्ता के सम्बन्ध में प्रो. हर्टेल ने अपनी पुस्तक "आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बर आफ गुजरात"[१] में विस्तार से विवेचन किया है और स्पष्ट किया है कि जैनों का बहुमूल्य कथासाहित्य पाया जाता है, जिनमें कथाओं के माध्यम से अपने सिद्धान्तों को जनसाधारण तक पहुँचाया है।

जैन प्राकृत कथासाहित्य के विषयों का वर्गीकरण करके यदि अध्ययन किया जाये तो लगता है जीवन के किसी भी पक्ष को अछूता नहीं किया गया। सामान्य जीवन के अनेक पक्षों— जैसे ऋतुएँ, वन, पर्वत, नदी, उद्यान, जलक्रीडा, सूर्योदय, चंन्द्रोदय, नगर, राजा, सैनिक, युद्ध, महोत्सव, स्वयंवर, हस्ती, रथ, स्त्रीहरण, साधु-उपदेश, धर्म, दर्शन, अंधविश्वास, लोक, परम्पराएँ आदि समस्त पक्षों को उजागर किया गया है। युग के समाज का स्पष्ट रूप इन कथाग्रन्थो में दिखाई देता है। अतः प्राकृत कथासाहित्य का धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, समाज, राजनीति, आर्थिक आदि दृष्टि से स्वतंत्र विधा के रूप में अध्ययन किया जाना चाहिए।

प्राकृत कथा-साहित्य का प्रणयन ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी से लेकर १७-१८ वीं शताब्दी तक अनवरत रूप से किया जाता रहा है। तत्पश्चात् भी प्राकृत कथाएँ लिखी जाती रहीं, जिसका प्रचलन आज भी श्रमणवर्ग में दिखाई देता है। अभी तक प्राप्त प्राकृत कथा-साहित्य में तरंगवई कहा, वसुदेव हिंडी, समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान, कुवलयमालाकहा, लीलावईकहा, निर्वाण लीलावती, कथाकोश, प्रकरण संवेगरंगशाला, नागपंचमीकहा, कहारयणकोस, नम्मयासुन्दरीकहा, कुमारपालप्रतिबोध, आख्यानमणिकोश, जिनदत्ताख्यान आदि प्रमुख कथाग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त और भी शताधिक रचनाएँ गिनाई जा सकती हैं। किन्तु ऐसी हजारों रचनाएँ अभी भी ग्रंथ-भण्डारों में पड़ी हुई हैं। जो अभी प्रकाश में नहीं आ सकीं। इन सब कथाओं के स्मरण में बृहत्कथाकोश (कृत गुणाढ्य) को भुलाया नहीं जा सकता है। पैशाची भाषा की यह रचना प्राकृतकथाओं का कोश कही जाती है।

●

१. आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बर आफ गुजरात, पृ.६,८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शौरसेनी प्राकृत साहित्य के प्रमुख आचार्य और उनका योगदान*

डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी
उपाचार्य एवं अध्यक्ष,
जैनदर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

वर्तमान में जैन श्रमण-परम्परा मुख्य रूप से दिगम्बर और श्वेताम्बर— इन दो सम्प्रदायों में विभक्त है। दोनों ही परम्पराओं का प्राकृत भाषा में निबद्ध प्राचीन साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। ये दोनों ही परम्परायें यह मानती हैं कि तीर्थंकर महावीर के बाद द्वादशांग रूप आगमज्ञान दीर्घकाल तक गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा मौखिक रूप से चला आया, किन्तु कालक्रम से क्षयोपशम कम हो जाने से वह ज्ञान पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं रह सका। दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार आगमज्ञान का क्रमशः उच्छेद होता गया और उसमें मात्र आंशिक आगमज्ञान (बारहवें अंग दृष्टिवाद का कुछ अंश) ही आचार्य परम्परा से सुरक्षित रह पाया, जो आचार्य गुणधर और आचार्य धरसेन तथा पुष्पदन्त-भूतबलि के माध्यम से क्रमशः कसायपाहुड तथा छक्खंडागम (षट्खण्डागम) एवं इनका टीकाओं के माध्यम से उपलब्ध हुआ।

श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुसार द्वादशांग के संकलन के लिए पाटलीपुत्र, मथुरा और वलभी में वाचनायें हुईं और अन्ततः वीर निर्वाण के लगभग ९८० वर्ष बाद (ई०सन् ४५३) में देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वलभी में उपस्थित श्रमणसंघ ने अपनी-अपनी स्मृति के आधार पर आगमों को पुस्तकारूढ़ किया। वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी आगम साहित्य इसी वाचना की देन है। यद्यपि वर्तमान में प्राकृत भाषा की दृष्टि से भी दोनों परम्पराओं की और उसके आगम साहित्य की भी अलग-अलग पहचान सी बन गई है। अतः जब हम व्यवहार में 'शौरसेनी आगम परम्परा' कहते हैं, तब इसका सीधा उद्देश्य दिगम्बर जैन परम्परा को सन्दर्भित करने का होता है। इसी

* बैंगलोर (कर्नाटक) में दि. ८ एवं ९ दिसम्बर १९९० तक आयोजित प्रथम राष्ट्रीय प्राकृत सम्मेलन में प्रस्तुत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह जब हम 'अर्धमागधी आगम परम्परा' की बात करते हैं, तब इसका तात्पर्य श्वेताम्बर परम्परा को सन्दर्भित करने से होता है।

यद्यपि दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनों ही परम्पराओं के सहस्त्रों महान् जैनाचार्यों ने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, तमिल, कन्नड, मराठी, गुजराती आदि प्रायः सभी प्राचीन भारतीय भाषाओं में धर्म, दर्शन, अध्यात्म, आचार, काव्य, नाटक, पुराण, अलंकारशास्त्र, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, कला, संस्कृति एवं समाज आदि अनेक विषयों में विपुल साहित्य का प्रणयन किया है, किन्तु प्रस्तुत निबंध का विषय मात्र शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध जैन साहित्य के प्रमुख आचार्यों के योगदान का ही विवेचन अभीष्ट है।

दिगम्बर जैन परम्परा के प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रणीत प्राकृत वाङ्मय को भाषायी आधार पर प्राचीन शौरसेनी में निबद्ध माना जाता है। जर्मन विद्वान् रिचर्ड पिशल ने इसे 'जैन शौरसेनी' नाम से अभिहित किया। प्राकृत के कुछ भारतीय विद्वानों ने भी इसे प्रायः 'जैन शौरसेनी' कहा है, किन्तु किसी भी भाषा की मात्र कुछ प्रवृत्तियों में अन्तर से उन भाषाओं का अपना अलग अस्तित्व मान लेना मूलभाषा से उन्हें काट देना होगा। वैसे भी क्षेत्र या विधा विशेष के कारण मूल भाषाओं में थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाना स्वाभाविक ही है, अतः जैन शौरसेनी इस नाम की भाषा की पहचान आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह भी मूलतः शौरसेनी प्राकृत भाषा ही हैं। आचार्यों एवं उनके साहित्यिक अवदान को जानने से पूर्व उस भाषा से भी परिचित होना आवश्यक है, जिसके अवदान का मूल्यांकन किया जा रहा है, अतः प्रस्तुत है—

प्राकृत भाषा की महत्ता–

प्राकृत भाषा भारत की प्राचीनतम उन भाषाओं में से प्रमुख भाषा है, जिसे राष्ट्रभाषा हिन्दी सहित अधिकांश भारतीय भाषाओं की जननी होने का गौरव प्राप्त है। यह वह भाषा है, जिसके विपुल वाङ्मय में जीवन की समस्त भावनायें व्यंजित हुई हैं। भारतीय शिक्षा, कला, संस्कृति, सभ्यता, समाज, लोकजीवन, धर्म, नैतिकता एवं अध्यात्म आदि तत्त्वों का यथार्थज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत साहित्य का अध्ययन बहुत आवश्यक है। वस्तुतः जनभाषा के रूप में प्राकृत भाषायें इस देश में आदिकाल से ही प्रचलित रही हैं।

आठवीं शताब्दी के विद्वान् वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' नामक अपने प्राकृत महाकाव्य में प्राकृत भाषा को जनभाषा माना है और इस जनभाषा से ही समस्त भाषाओं का विकास स्वीकार किया है। यथा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं ।।

अर्थात्—जिस प्रकार जल समुद्र में प्रवेश करता है और समुद्र से ही वाष्परूप से बाहर निकलता है, इसी तरह प्राकृत भाषा में सब भाषाएं प्रवेश करती हैं और इस प्राकृत भाषा से ही सब भाषाएँ निकलती हैं। तात्पर्य यह है कि प्राकृतभाषा की उत्पत्ति अन्य किसी भाषा से नहीं हुई है, किन्तु देश में विद्यमान प्राय: सभी भाषाएँ प्राकृत से ही उत्पन्न हैं।

प्राकृत भाषा और साहित्य तो जैनधर्म का प्राण ही है। यही कारण है कि महान् जैनाचार्यों ने आचार, विचार, व्यवहार, सिद्धान्त एवं अध्यात्म आदि को सरल रूप में समझने तथा तदनुकूल आदर्श जीवन ढालने एवं लोककल्याण की दृष्टि से प्राकृत भाषा में उपदेश-प्रधान धर्मकथा विषयक साहित्य का प्रणयन किया। साथ ही नैतिक उपदेश, मर्मस्पर्शी कथन एवं लोकपक्ष का उद्घाटन करते समय सरल, सहज, स्निग्ध तथा मनोरम शैली का उपयोग किया। प्राकृत भाषा के अनेक भेद हैं, जैसे—शौरसेनी, अर्धमागधी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची, पालि, शिलालेखी प्राकृत आदि। वस्तुत: बौद्ध त्रिपिटकों की पाली भाषा भी प्राकृत का ही एक रूप है। आगे जिस शौरसेनी प्राकृत भाषा के साहित्य का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है, उस शौरसेनी भाषा की विशेषतायें प्रस्तुत हैं—

शौरसेनी प्राकृत भाषा एवं इसका प्रभाव क्षेत्र—

सम्पूर्ण ब्रजमण्डल अर्थात् मथुरा के आसपास का सम्पूर्ण प्रदेश शूरसेन कहलाता है। शौरसेनी भाषा की उत्पत्ति इसी शूरसेन देश (मथुरा प्रदेश) से हुई। षड्भाषा चन्द्रिका (पृ.२) में लक्ष्मीधर ने कहा है—'शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते। वररुचि ने प्राकृतप्रकाश में मागधी की मूलप्रकृति होने का सम्मान शौरसेनी को दिया है। देशभेद के कारण मागधी और शौरसेनी इन दो प्राकृतों को प्राचीन माना जाता है। मागधी भाषा का प्रचार काशी के पूर्व (मगध) में था, शौरसेनी का काशी के पश्चिम में। सम्राट अशोक के शिलालेखों में इन दोनों ही भाषाओं के प्राचीनतम स्वरूप सुरक्षित हैं। सम्राट खारवेल के उदयगिरि-खण्डगिरि का हाथीगुम्फा शिलालेख भी शौरसेनी प्राकृत का साक्षात् प्रमाण है। इससे इस समस्त क्षेत्र में शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव भी स्पष्ट है।

इस प्रकार शौरसेनी का उत्पत्ति क्षेत्र भले ही मथुरा के आसपास का क्षेत्र (शूरसेन) रहा हो, किन्तु इसका इतना व्यापक प्रसार और प्रभाव क्षेत्र रहा है कि यह सम्पूर्ण मध्यदेश की भाषा बन गई। मध्यदेश का क्षेत्र विस्तार पश्चिमोत्तर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र में सिन्ध, पंजाब पश्चिम में द्वारका, उत्तर में हरियाणा और दिल्ली, उत्तरपूर्व में बंगाल, दक्षिण पूर्व में आंध्रतट तथा उड़ीसा एवं दक्षिण में विन्ध्यपर्वत का अति विस्तृत क्षेत्र सम्मिलित रहा है। ब्रह्माण्डपुराण (२/१६/४१-४२) में मध्यदेश के अन्तर्गत जिन जनपदों के नाम उल्लिखित हैं, वे इस प्रकार हैं— शूरसेन, भद्रकार, बोध, पटच्चर, मत्स्य, कुशल्य, कुंतल, काशी, कोसल, गोधा, भद्र, कलिंग, मगध और उत्कल। इन जनपदों में शौरसेनी प्राकृत भाषा प्रमुख रूप में प्रभावशाली रही है।

मौर्ययुग में जैन मुनिसंघ दक्षिण की ओर गया तो उन्होंने अपने शास्त्रलेखन का माध्यम भी इसी शौरसेनी को बनाया। इससे सम्पूर्ण दक्षिण-भारत में शौरसेनी भाषा का प्रयोग हुआ। इसका प्रसार क्षेत्र काफी व्यापक होने से अर्धमागधी, महाराष्ट्री-संस्कृत आदि भाषायें और अनेक बोलियाँ इसके सम्पर्क में आई। अत: इनके तत्त्व भी इसमें सम्मिलित होते चले गये।

नाट्य-विधा के अनुसार नाटकों में भी प्राकृत भाषा का प्रयोग अनिवार्य था ही, क्योंकि नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने नाटकों में प्रयुक्त होने वाली मागधी, अवधी, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाल्हीका एवं दक्षिणात्या—इन सात भाषाओं का उल्लेख किया है। किन्तु नाटकों में शौरसेनी प्राकृत का ही ज्यादा प्रयोग मिलता है। इस शौरसेनी का स्वरूप भी कुछ नियमों तक ही सीमित है। यह भी एक तथ्य है कि प्राकृत के आधार पर इस भाषा के कुछ नियमों के साथ शौरसेनी प्राकृत का व्याकरण लिख दिया। किसी ने भी सम्पूर्ण शौरसेनी के आधार पर स्वतंत्र और सर्वाङ्गीण व्याकरण नहीं लिखा। फिर भी इससे इस भाषा की व्यापकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। नाटकों, शिलालेखों, और लोकव्यवहार में प्रचलित जनभाषा के रूप में प्रयोग-क्षेत्रों और विशेष कर दिगम्बर जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की मूलभाषा होने से शौरसेनी का प्रभाव और उसकी व्यापकता सदा अक्षुण्ण रही है।

वस्तुत: ईसा की प्रथम शती (वीर निर्वाण संवत् ६८३) में काठियावाड़ (गुजरात) जैन संस्कृति का समृद्ध केन्द्र था। यहीं आचार्य धरसेन गिरनार की चन्द्रगुफा में ध्यानयोग की साधना में संलग्न रहकर उन्होंने आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को आगमज्ञान प्रदान किया, जिसके आधार पर इन दोनों आचार्यों ने इसी शौरसेनी प्राकृत भाषा में षट्खण्डागमसूत्र नामक विशाल जैन सिद्धान्तग्रन्थ की रचना की। आचार्य गुणधर, आचार्य शिवार्य, आचार्य वट्टकेर तथा आचार्य कुन्दकुन्द आदि अनेक आचार्यों ने उत्कृष्ट साहित्य का सृजन करके इस भाषा को सार्वभौमिकता प्रदान की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीसवीं सदी के अंतिम दो-तीन दशकों में शौरसेनी प्राकृत के विकास और व्यापक प्रसार हेतु अनेक पूज्य आचार्यों, भट्टारकों एवं विद्वानों ने विशेष योगदान किया। इनमें बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी परमपूज्य राष्ट्रसंत आचार्यश्री विद्यानंदजी ने नई दिल्ली स्थित प्राकृत भवन, कुन्दकुन्दभारती के माध्यम से शौरसेनी राष्ट्रीय विद्वत् संसद, शौरसेनी प्राकृत सम्मेलन, प्राकृत भाषा दिवस (श्रुतपंचमी) पर प्राकृत काव्यगोष्ठी तथा प्राकृतविद्या नामक गौरवशाली शोध पत्रिका तथा शौरसेनी भाषा के विविध ग्रन्थ प्रकाशन आदि गौरवपूर्ण अभियान रूप प्रवृत्तियों की प्रेरणा के माध्यम से शौरसेनी प्राकृत के विकास को विशेष गतिमान कर रहे हैं।

प्राकृत भाषा के सभी प्रमुख वैयाकरणों में जैसे वररुचि, हेमचंद्र, क्रमदीश्वर, लक्ष्मीधर और मार्कण्डेय आदि ने अपने प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों में शौरसेनी प्राकृत भाषा का भी व्याकरण लिखा है। यहाँ इस भाषा की प्रमुख विशेषतायें प्रस्तुत हैं—

शौरसेनी प्राकृत की प्रमुख विशेषतायें–

शौरसेनी प्राकृत की कुछ निजी विशेषतायें हैं, जो अन्य-प्राकृतों से उसकी पृथक् पहचान में मदद करती हैं, वे विशेषतायें इस प्रकार हैं—

१. स्वरवर्णों के मध्यवर्ती असंयुक्त 'त' और 'द' के स्थान पर 'द' होता है। उदाहरण — रजत > रअद, आगतः > आगदो: अन्नःपुरम > अन्देउरं गदा > गदा।

२. स्वरों के बीच असंयुक्त 'थ' का 'ह' और 'ध' दोनों होते हैं।

उदाहरण — नाथ > णाध, णाह।

३. र्य के स्थान में य्य और ज्ज होता हैं।

उदाहरण— आर्य > अय्य, अज्ज।

सूर्य > सुय्य, सुज्ज।

४. पञ्चमी के एक वचन में दो, दु—ये दो ही प्रत्यय होते हैं और इनके योग में पूर्व के अकार का दीर्घ होता है,

उदाहरण — जिनात् > जिणादो, जिणादु।

५. ति और ते प्रत्ययों के स्थान में दि और दे होता है।

उदाहरण — हसदि, हसदे, रमदि, रमदे।

६. भविष्यत काल के प्रत्यय के पूर्व में स्सि लगता है।

उदाहरण — हसिस्सिदि, करिस्सिदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. अन्त्य मकार के बाद 'इ' और 'ए' होने पर 'ण्' का वैकल्पिक आगम होता है।

उदाहरण — युक्तम् इदम्> जुत्तं णिमं, जुत्तमिमं,

एतत्> एवं णेदं, एवमेदं

८. 'त्वा' प्रत्यय के स्थान में इअ, दूण और त्ता होते हैं।

उदाहरण — पठित्वा- पढिअ, पढिदूण, पढित्ता।

इस तरह यहाँ शौरसेनी भाषा की कुछ विशेषतायें महत्ता और स्वरूप को संक्षेप में प्रस्तुत किया। अब शौरसेनी प्राकृत साहित्य के प्रमुख आचार्यों तथा इनकी प्रमुख कृतियों के प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है—

शौरसेनी प्राकृत के प्रमुख आचार्य और उनका साहित्य

शौरसेनी साहित्य के आचार्यों का अनेक दृष्टियों से विभिन्न क्षेत्रों में महनीय योगदान है। भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद उन्होंने सुदीर्घ काल से इस आगमज्ञान की अखण्ड ज्योति को विभिन्न झंझावातों के बीच भी निरन्तर प्रज्वलित रखा। घोर उपसर्गों और अनन्त प्रतिकूलताओं के बीच भी अपने संयममार्ग में दृढ़ रहकर स्व-पर कल्याण एवं इस ज्ञान की अविच्छिन्न परम्परा बनाये रखने की भावना से वे साहित्य साधना में सदा संलग्न रहे। जब हम इन सब आचार्यों के महनीय योगदान का स्मरण करते हैं, तो हृदय गद्गद् और पुलकित हुए बिना नहीं रहता, क्योंकि इनकी महान् संयम-साधना और लोक कल्याण के कार्यों का सीधा परिचय प्राप्त करना तो आज मुश्किल है, किन्तु इन्होंने भावी पीढ़ियों के लिए अपनी ज्ञान-साधना के द्वारा जो अमूल्य विरासत के रूप में विशाल वाङ्मय हमें प्रदान किया है, उसके महनीय साहित्यिक योगदान का अब मूल्यांकन होना आवश्यक है।

शौरसेनी भाषा में निबद्ध साहित्य के प्रणेता आचार्यों की लम्बी परम्परा है, जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व सम्बन्धी योगदान का मूल्यांकन एक स्वतंत्र एवं विशाल शोध-प्रबन्ध का विषय है, किन्तु प्रस्तुत निबंध में इसके प्रमुख आचार्यों के विराट व्यक्तित्व और कृतित्व के माध्यम से उनके योगदान के मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। दिगम्बर परम्परा में उपलब्ध शौरसेनी प्राकृत साहित्य के प्रमुख स्रष्टाओं में आचार्य गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि, कुन्दकुन्द, शिवार्य, वट्टकेर, यतिवृषभ, स्वामी कुमार (कार्तिकेय), वीरसेन, जिनसेन, देवसेन, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, वसुनन्दि, पद्मनन्दि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम आदि अनेक प्रमुख आचार्य, परम्परा और इतिहास दोनों ही दृष्टियों से विशेष महत्वपूर्ण हैं। अतः इनके व्यक्तित्व और कृतित्व का यहाँ परिचय प्रस्तुत है—

१. आचार्य गुणधर

शौरसेनी प्राकृत साहित्य का जब हम अध्ययन प्रारम्भ करते हैं, तब हमारी सर्वप्रथम दृष्टि आचार्य गुणधर रचित 'कसायपाहुड-सुत्त' पर जाती है। यह उपलब्ध जैन साहित्य में कर्मसिद्धान्त विषयक परम्परा का प्राचीनतम महान् ग्रन्थ माना जाता है। इसके कर्त्ता आचार्य गुणधर विक्रम पूर्व की प्रथम शती के आचार्य हैं। इनके व्यक्तित्व के विषय में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। इनकी एकमात्र कृति 'कसायपाहुडसुत्त' तथा इसके टीकाकारों के उल्लेखों के आधार पर ही इनके विषय में कुछ जानकारी प्राप्त होती है।

यह उल्लेख्य है कि आचार्य भद्रबाहु और लोहाचार्य के बाद की आचार्य परम्परा में हुए संघनायक-आचार्य अर्हद्बलि (वीर निर्वाण संवत् ५६५) ने नन्दि, वीर, देव, सेन आदि अनेक संघों की स्थापना की थी। इनमें एक 'गुणधर' नामक संघ भी था।[१] इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि 'गुणधर' एक विशाल संघ के प्रभावक आचार्य थे। जयधवलाकार आचार्य वीरसेन ने इन्हें 'वाचक' (पूर्ववित्) उपाधि से विभूषित किया है। इन्हें अंग और पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य-परम्परा से प्राप्त हुआ था (तदो अंगपुव्वाणमेगदेतो चेव आइरिय परंपराए आगंतूण गुणहराइरियं संप्पत्तो[२]), जिसके आधार पर उन्होंने इस महान् ग्रन्थ की रचना की[३]। कसायपाहुड की रचनाशैली सुत्तगाहा (गाहासुत्त) के रूप में अतिसंक्षिप्त एवं बीजपद रूप तथा अनन्त अर्थगर्भित है।[४] कसायपाहुड का दूसरा नाम 'पेज्जदोस पाहुड' भी है।[५]

---

१. इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार:८५-९५।

२. जयधवला भाग१-पृष्ठ८७

३. एदाओ सुत्तगाहाओ.....कसायपाहुड गाथा१०।

४. अणंतत्थगब्भ-बीजपद-घडिय-सरीरा—जयधवला भाग१-पृष्ठ १२६

५. (क) पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे बत्थुम्मि पाहुडे तदिए।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ।। कसायपाहुड गाथा१
(ग) तस्स पाहुडस्स दुवे नामधेज्जाणि तं जहा-पेज्जदोसपाहुडेत्ति वि, कसायपाहुडेत्ति वि-पेज्जदोस. सूत्र २ क. पा. चूर्णि २१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः आचारांग आदि बारह अंग आगमों में 'दृष्टिवाद'[१] नामक बारहवां अंग आगम अति विस्तीर्ण था। इसके अन्तर्गत पूर्वगत अर्थात् चौदहपूर्वो में 'ज्ञानप्रवाद' नामक पांचवें पूर्व में दसवीं वस्तु के अंतर्गत 'पाहुड' के बीस अर्थाधिकारों में तीसरे पाहुड का नाम 'पेज्जदोस पाहुड' रहा है। वह भी बहुत विशाल था, जिसे साररूप में आचार्य गुणधर ने मात्र २३३ गाथाओं में प्रस्तुत महनीय ग्रन्थ को 'गाथासूत्र' नामक प्राचीन शैली में निबद्ध किया।

कसायपाहुड की टीका प्रसिद्ध जयधवला में कहा भी है कि जिनका हृदय प्रवचन वात्सल्य से भरा हुआ है, उन आचार्य गुणधर[२] ने सोलह हजार पद प्रमाण पेज्जदोस पाहुड के विच्छेद हो जाने के भय से एक सौ अस्सी गाथाओं द्वारा इस ग्रन्थ का उपसंहार किया। (गंथवोच्छेद भएण पवयणवच्छल-परवसीकय-हियएण एदं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्स पमाणं होतं असीदिसद मेत्त-गाहाहि[३] उवधारिदं) इस कथन से सिद्ध है कि आचार्य गुणधर ज्ञानप्रवाद नामक पंचमपूर्व की दसम वस्तु रूप 'पेज्जदोसपाहुड' के विशेष पारगामी एवं वाचक आचार्य थे। वहाँ यह बतलाना आवश्यक भी है कि कसायपाहुड का दूसरा नाम भी 'पेज्जदोस पाहुड' है, जिसका उल्लेख भी किया जा चुका है। अतः प्रसंगानुसार 'पेज्ज' का अर्थ 'राग' तथा दोस का अर्थ है 'द्वेष' है। प्रस्तुत ग्रन्थ में क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों की 'राग-द्वेष' रूप परिणति और उनकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश रूप बंध सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन, विश्लेषण ही प्रस्तुत ग्रन्थ का वर्ण्य विषय होने से इस ग्रन्थ के नाम की सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है।

इस आगम रूप सिद्धान्त ग्रन्थ की एक सौ अस्सी गाथाओं[४] तथा आचार्य यतिवृषभ की ५३ चूर्णि गाथाओं सहित २३३ गाथाओं के रचयिता आचार्य गुणधर ही माने जाते हैं।[५] इन गाहासुत्तों को अनन्त अर्थ से गर्भित कहा गया है। (एदाओ अणंतत्थगब्भियाओ) इसीलिए इनके स्पष्टीकरण हेतु महाकम्मपयडि

---

१. दृष्टिवाद के पांच भेद हैं- परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

२. चौदह पूर्व इस प्रकार हैं— उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्ति प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद, कल्याणप्रवाद, प्राणवाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार।

३. जयधवला- भाग१-पृष्ठ८७।

४. गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि।। क. पा.२.

५. जयधवला भाग१-पृष्ठ १८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाहुड के महान् विशेषज्ञ आचार्य यतिवृषभ ने इस पर छह हजार श्लोकप्रमाण चुण्णिसुत्तों की रचना की। इन चुण्णिसुत्तों के भी स्पष्टीकरण की जब आवश्यकता हुई, तब 'उच्चारणाचार्य' ने बारह हजार श्लोक प्रमाण 'उच्चारणा' नामक वृत्ति का निर्माण किया।

इन सबके भी स्पष्टीकरण के लिए शामकुण्डाचार्य ने अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण 'पद्धति' नामक टीका की विशेष रूप में रचना की। वीरसेनाचार्य के अनुसार जिसमें मूलसूत्र और उसकी वृत्ति का विवरण किया गया हो, उसे पद्धति कहते हैं।[१] इन्द्रनन्दि के अनुसार यह पद्धति प्राकृत, संस्कृत और कर्नाटक भाषा में रची गई टीका विशेष होती थी।[२]

इस पद्धति के बाद तुम्बलूराचार्य ने षट्खण्डागम के आरम्भिक पांच खण्डों पर तथा कसायपाहुड पर कर्णाटकी भाषा में ८४ हजार श्लोक प्रमाण 'चूडामणि' नामक बहुत विस्तृत व्याख्या लिखी थी।[३] इस चूडामणि के बाद भी बप्पदेवाचार्य द्वारा भी इस ग्रन्थ पर कोई टीका लिखी गई थी— ऐसा उल्लेख मिलता है[४] किन्तु इसके नाम और प्रमाण का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इस समय शामकुंडाचार्य रचित 'पद्धति', तुम्बलूराचार्य की चूड़ामणि और वप्पदेव की टीका—इन्हें हम सुरक्षित नहीं रख सके, अतः ये तीनों विशिष्ट टीकायें अब उपलब्ध नहीं हैं।

वस्तुतः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार प्रत्येक वस्तुओं में परिवर्तन नियमानुसार होता ही रहता है। अतः युग के अनुसार लोगों की स्मरण और ग्रहण शक्ति में भी परिवर्तन आया। अतः सिद्धान्त के विषयों की गहनता और भाषा की कठिनाई ने इस महान् ज्ञान की अविच्छिन्न धारा में बाधा डालना प्रारम्भ किया, तब उपर्युक्त टीकाओं और मूल ग्रन्थ के अनन्त अर्थों को हृदयंगम करके आचार्य वीरसेन (नवीं शती की पूर्वार्ध) और जिनसे (नवीं शती) ने 'मणिप्रवाल-न्याय' से प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाषा में साठ हजार श्लोक प्रमाण 'जयधवला' नामक टीका की रचना करके सरल भाषा में उस महान् अविच्छिन्न आगमज्ञान परम्परा को भावी पीढ़ी के लिए सुरक्षित करके अपने को अमर और सदा के लिए श्रद्धा का पात्र बना लिया।

---

१. सुत्तवित्तिविवरणाए पद्धईववएसादो—जयधवला.

२. प्राकृत संस्कृत कर्णाटभाषया पद्धतिः परा रचिता—श्रुतावतार १६४.

३. चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम्।
कर्णाटभाषायाऽकृत महती चूड़ामणिं व्याख्याम्।। श्रुतावतार १६६.

४. श्रुतावतार १७३-१७६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जयधवला टीका अपने आधारभूत मूलग्रन्थ कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों पर लिखी गई विशाल टीका है। इसमें २० हजार श्लोकप्रमाण प्रारम्भिक भाग की रचना आचार्य वीरसेन ने की थी तथा इनसे स्वर्गवास के बाद शेषभाग की रचना इनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्य ने की। इस समय यह जयधवला टीका हिन्दी अनुवाद और विशेष विवेचन के साथ भा. दिगम्बर जैन संघ, चौरासी-मथुरा से १६ से भी अधिक भागों में प्रकाशित हो चुकी है। इसे २०वीं सदी के लगभग पाँचवें दशक में चरित्रचक्रवर्ती स्व. आचार्य श्री शांतिसागर जी के प्रयास से 'ताम्रपत्रोत्कीर्ण' भी किया जा चुका है। इस टीका की उपयोगिता और प्रसिद्धि इतनी अधिक है कि मूलग्रन्थ तक के लिए लोग 'जयधवलसिद्धान्त ग्रन्थ' नाम से अभिहित करते हैं।

उपर्युक्त टीकाओं के आधार पर इस सिद्धान्त आगम ग्रन्थ की महत्ता गहनता स्वयं सिद्ध है और इस माध्यम से इसके कर्ता आचार्य गुणधर का योगदान भी हमारे लिए गौरव की वस्तु है। इस ग्रन्थ की रचना करके आ. गुणधर ने इसका व्याख्यान आचार्य नागहस्ति और आर्य मंक्षु को भी किया था। कहा भी है कि 'पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरिय परंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखुणागह त्थीणं-पत्ताओ[१] अर्थात् कसायपाहुड के गाहासुत्त गुरू-शिष्य परम्परा से आते हुए आर्य मंक्षु एवं नागहस्ति को प्राप्त हुए। इन दोनों आचार्यों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में भी प्राप्त होता है।

उपलब्ध जैन सिद्धान्त-आगम ग्रन्थों में भी यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिस पर सर्वाधिक टीका साहित्य लिखा गया है। दो सौ तैतीस गाथाओं वाले इस मूलग्रन्थ पर लिखित टीकाओं का प्रमाण लगभग दो लाख श्लोक प्रमाण से भी अधिक होगा।[२] इस प्रकार हम सभी आचार्य गुणधर के दिव्य अवदान से सदा उपकृत रहेंगे।

२. आचार्य धरसेन, ३. पुष्पदन्त एवं ४. भूतबलि

महावीर निर्वाण के ६०० वर्ष बाद अर्थात् ईसा की प्रथम शती के महान् आचार्य धरसेन को आगमज्ञान परम्परा को अक्षुण्ण रखने वालों में अग्रणी माना जाता है। सौराष्ट्र प्रदेश के गिरिनगर (जूनागढ़) की चन्द्रगुफा में साधना-रत प्रवचन वात्सल्य आचार्य धरसेन सिद्धान्तों के प्रौढ़-वेत्ता तथा महाकम्मपयडिपाहुड के विशेष

---

१. जयधवला भाग१-पृष्ठ८८

२. कसायपाहुड सुत्त—संपा.-पं. हीरालाल सि. शास्त्री, वीर शासन संघ, कलकत्ता प्रकाशकीय पृष्ठ-४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञाता थे। दीर्घ तपस्वी और महान् योगी आचार्य धरसेन ने अपनी अल्पायु जान, परम्परा से प्राप्त और अपने पास सुरक्षित अविच्छिन्न श्रुतज्ञान की महान् परम्परा का अपने साथ ही अन्त नजर आने के कारण, उन्हें इसकी सुरक्षा की बड़ी चिन्ता सता रही थी। अत: उन्होंने इस अवशिष्ट अल्पायु में ज्ञान की परम्परा जीवित रखने के उद्देश्य से दक्षिणापथ आन्ध्रप्रदेश के वेणातटाकपुर महिमा नगरी में उस समय आयोजित विशाल मुनि सम्मेलन को एक पत्र भेजा, जिसमें लिखा था—'स्वस्ति श्री वेणातटाकवासी यतिवरों को उर्ज्जयन्त तट निकटस्थ चंद्रगुहा निवासी धरसेणगणि अभिवन्दना करके यह सूचित करता है कि मेरी आयु अत्यन्त अल्प रह गयी है। इससे मेरे हृदयस्थ शास्त्र की व्युच्छित्ति हो जाने की सम्भावना है। अतएव उसकी रक्षा के लिए आप शास्त्र ग्रहण और धारण में समर्थ, तीक्ष्णबुद्धिमान् दो यतीश्वरों को भेज दीजिए।[१]

आ. धरसेन के इस पत्र के मन्तव्य की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए उपस्थित आचार्यों और अन्य यतियों ने, समस्त कलाओं में पारंगत, शास्त्रों के अर्थग्रहण और धारण में समर्थ, देश, कुल, शील और जाति से विशुद्ध सर्वगुणसम्पन्न दो मुनि शिष्य आ. धरसेन के पास गिरिनगर भेजे। नवागत दोनों साधुओं की योग्यता संबंधी सम्यक् परीक्षा आ. धरसेन ने अनेक विधि से लेकर इन दोनों का क्रमश: पुष्पदन्त एवं भूतबलि नाम रखा।[२] शुभ मुहूर्त में इन्हें महाकम्मपयडि पाहुड का अध्ययन और धारण कराया। विनय पूर्वक अध्ययन करते हुए आषाढ़ शुक्ला एकादशी के पूर्वान्ह में इन दोनों ने इस ज्ञान में पूर्णता प्राप्त की।[३]

आचार्य धरसेन ने अध्यापन पूर्ण कराते ही अपने प्रयोजन की सिद्धि समझकर नि:शल्य अपने आत्मकल्याण रूप समाधि के मुख्य लक्ष्य को साधने के उद्देश्य से इन्हें उसी दिन वापिस जाने को कहा। गुरु के आदेशानुसार वहाँ से अंकुलेश्वर (गुजरात) में इन दोनों ने चातुर्मास किया। इसके बाद पुष्पदन्त ने अपने भानजे जिनपालित[४] के साथ वनवासि देश (कर्नाटक) की ओर तथा भूतबलि ने द्रमिलदेश (तमिल प्रदेश) की ओर विहार किया।

---

१. कसायपाहुड—सं. पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर, भूमिका पृष्ठ९

२. धवला पुस्तक-१ पृष्ठ६७-७१

३. पुणो-सुट्ठु तुट्ठेण धरसेण भडारएण सोम-तिहि णक्खत्तवारे गंथो' पारद्धो। पुणो कमेण वक्खाणंतेण आसाढमास-सुक्कपक्ख-एक्कारसीए पुव्वण्हे' गंथो समाणिदो—धवला, भाग १ पृष्ठ ७०

४. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार-१२९-३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वनवास देश आकर आचार्य पुष्पदन्त ने जिनपालित को दीक्षा देकर बीस सूत्रों (बीस प्ररूपणाओं से संबद्ध सत्प्ररूपणा के १७७ सूत्रों) की रचना की, तथा इन्हें जिनपालित को पढ़ाकर उन सूत्रों के साथ आ. भूतबलि के पास भेजा। आचार्य भूतबलि ने इन सूत्रों को देखकर तथा जिनपालित के मुख से आ. पुष्पदन्त की अल्पायु जानकर 'महाकम्मपयडि पाहुड' के व्युच्छेद की चिन्ता से 'द्रव्यप्रमाणानुगम' का प्रारम्भ करके आगे की रचना की। इस प्रकार इस 'खण्ड सिद्धान्त' की अपेक्षा उसके कर्ता भूतबलि और पुष्पदन्त प्रसिद्ध हुए।[१]

धवला में षट्खंडागम की रचना का इतिवृत्त इतना ही मिलता है। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में इसके आगे के विवरण में कहा है कि सम्पूर्ण षट्खंडागम के पुस्तकारूढ़ होने पर **ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी** को चतुर्विध संघ ने मिलकर इस आगम रूप श्रुतज्ञान की भव्यता के साथ विधिपूर्वक पूजा की थी, तभी से यह शुभ दिन '**श्रुतपंचमी**' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[२] जिसे आज तक इस परम्परा के सभी जैन इसे पवित्र पर्व के रूप में विविध समारोहों के साथ मनाते आ रहे हैं। क्योंकि आगमों के पुस्तकारूढ़ होने की एक नई परम्परा का सूत्रपात भी इसी दिन हुआ था। इसके पूर्व आगमों की मौखिक परम्परा चल रही थी। अतः आगमज्ञान की अक्षुण्णता के साथ ही इस नये सूत्रपात के कारण भी इस दिन का विशेष महत्व हो जाता है।

इस तरह आ. धरसेन से महाकम्मपयडिपाहुड का ज्ञान प्राप्त करके आ. पुष्पदन्त और भूतबलि, जिन्हें धवलाकार ने 'भगवन्' रूप में सम्बोधित किया है, उन्होंने जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्तविचय, वेयणा, वग्गणा और महाबंध— इन छह खण्डों से युक्त छक्खंडागम (षट्खंडागम) की रचना की। यह ग्रन्थ किसी एक पूर्व या उसके किसी एक पाहुड पर आधारित न होकर, उसके विभिन्न अनुयोगद्वारों के आधार पर रचा गया होने से यह खण्डसिद्धान्त (खंडसिद्धंत) या 'खण्ड आगम' कहलाता है।[३]

यह परमागम रूप होने से जीवों को आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त करने में महानतम साधक है। क्योंकि इसके प्रथम जीवट्ठाण खण्ड में ही मोक्षमहल

---

१. धवला पुस्तक१ पृष्ठ७१. षट्खंडागमपरिशीलनः पीठिका पृ.५ सं.प.बालचंदशास्त्री।

२. ज्येष्ठासित पक्ष-पञ्चम्या चातुर्वर्ण्य-संघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम्।।
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः।। श्रुतावतार १४३-१४४

३. धवला पुस्तक१-पृष्ठ७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के सोपानभूत चौदह गुणस्थानों की विवेचना करते हुए बतलाया है कि इन गुणस्थानों में जीव किस तरह उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करते हुए रत्नत्रय को वृद्धिंगत करते हैं। क्षुद्रकबन्ध नामक द्वितीय खण्ड में बन्धक-अबन्धक जीवों का विवेचन, तृतीय बन्धस्वामित्वविचय खण्ड में कर्म के बंधक मिथ्यात्व, असंयम (अविरत) कषाय और योग—इन चार मूल प्रत्ययों एवं उनके उत्तरभेदों की विस्तृत प्ररूपणा की गई है। चतुर्थ वेदना खण्ड में कृति और वेदना—ये दो अनुयोगद्वार हैं। पंचम वर्गणा खण्ड में स्पर्श, कर्म और प्रकृति—इन तीन अनुयोगद्वारों का ही प्रतिपादन है तथा छठे 'महाबंध' खण्ड में बन्धनीय अधिकार की समाप्ति के बाद प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध का विस्तृत विवेचन है।

इसके प्रथम पाँच खण्डों का विस्तार छह हजार श्लोक-प्रमाण तथा अन्तिम खंड महाबंध का विस्तार तीस हजार श्लोक प्रमाण है। यद्यपि यह पूरा ग्रंथ गद्य रूप सूत्र शैली में निबद्ध है, किन्तु बीच-बीच में कुछ गाथा सूत्र भी उपलब्ध हैं। चौथे वेदना खण्ड में आठ और पाँचवे वर्गणा खंड में अट्ठाईस गाथासूत्र हैं। उदाहरणार्थ एक गाथासूत्र उद्धृत किया जा रहा है—

कालो चदुण्ण वुड्ढी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढीए ।
वुड्ढीए दव्व पज्जय भजिदव्वा खेत्तकाला दु ।।[१]

अर्थात् काल चारों की वृद्धि को लिए हुए होता है। कालवृद्धि के होने पर द्रव्य, क्षेत्र और भाव की वृद्धि नियमतः होती है। द्रव्य और पर्याय की वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल की वृद्धि, होती भी है, नहीं भी होती है।

इस प्रकार आ. धरसेन के माध्यम से आ. पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खंडागम नामक इस परमागम की रचना करके सिद्धान्तों की सुरक्षा में महनीय योगदान दिया है।

इस महान ग्रन्थ पर आचार्य वीरसेन स्वामी ने (९ वीं शती) ने प्राकृत और संस्कृत मिश्रित भाषा में 'मणि-प्रवाल न्याय' की तरह बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण 'धवला' नामक महत्वपूर्ण टीका लिखी है। धवला टीका के उल्लेखानुसार यह स्पष्ट है कि आचार्य धरसेन द्वारा भी जोणि पाहुड (योनिप्राभृत) नामक कोई ग्रन्थ लिखा गया था,[२] किन्तु यह उपलब्ध नहीं है।

---

१. छक्खण्डागम वग्गणाखंड पृष्ठ७०४

२. धवला पुस्तक १३ पृष्ठ३४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ यह भी स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जहाँ अर्धमागधी परम्परा के आचार्य मात्र अर्धमागधी आगमों के ही उद्धार, संग्रह और विस्तार में लगे थे, वहीं शौरसेनी परम्परा के आचार्यों ने मूल आगमों को विलुप्त हुआ स्वीकार कर परम्परा से प्राप्त आगम-ज्ञान के आधार पर मौलिक रूप में स्वतंत्रता से नवीन शैली के ग्रन्थों के निर्माण में संलग्न रहे। प्रतिभा के उन्मुक्त भाव से उपयोग के परिणाम-स्वरूप धरसेनाचार्य से परम्परागत सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करके छक्खण्डागम के कर्ताओं ने इस ग्रंथ में अपने बुद्धिबल से खारबेल के शिलालेख में निबद्ध 'णमो अरहंतानं, णमो सवसिधानं' रूप द्विपदी मंगल को पंचपदी णमोकार महामंत्र के रूप में प्रकट किया। यद्यपि यह पवित्र पंचनमस्कार मंत्र परम्परागत रूप से अनादि और अनिधन माना जाता है।

छक्खण्डागम के कर्ताओं एवं इसकी टीका लेखक आचार्यों ने परम्परागत सिद्धान्त की कोई बात किसी साम्प्रदायिक भेदभाव या पक्षपात के कारण छोड़ी नहीं है। इसीलिए परम्परागत उपयोगी गाथाओं को भी अपनी रचना में उन्होंने यथोचित स्थान दिया। 'भणितं' आदि शब्दों के उपयोग द्वारा उन्होंने यह भी इंगित किया है कि यह गाथा उनकी स्वनिर्मित नहीं अपितु परम्परागत है। यह सब उनकी साहित्यिक ईमानदारी का परिचायक है।

५. आचार्य यतिवृषभ

'कसायपाहुड सुत्त' के चूर्णिसूत्रकार के रूप में प्रसिद्ध द्वितीय शती के प्रसिद्ध आचार्य यतिवृषभ का अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण योगदान है। यद्यपि विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा इनके मतों के उल्लेख, चूर्णिसूत्र तथा तिलोयपण्णत्ति नामक इनकी महत्वपूर्ण कृति के अतिरिक्त इनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व के विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। कसायपाहुड के उद्गम प्रसंग में जयधवलाकार के अनुसार श्रुत के उत्तरोत्तर क्षीण होने पर अंग-पूर्वों का ज्ञान एकदेश ही आचार्यपरम्परा से आकर गुणधर को प्राप्त हुआ। इन्होंने प्रवचनवत्सलता के कारण ग्रन्थव्युच्छेद के भय से पेज्जदोसपाहुड (कसायपाहुड) को जो कि सोलह हजार पद प्रमाण था, उसका मात्र एक सौ अस्सी गाथाओं में उपसंहार किया। ये ही सूत्रगाथायें आचार्य परम्परा से आर्यमंक्षु[१] और नागहस्ति को प्राप्त हुईं। इन दोनों ही के पादमूल में बैठकर कसायपाहुड की इन सूत्रगाथाओं के अर्थ को भली-भांती सुनकर यतिवृषभ भट्टारक (जदिवसहभडारय) ने उस पर चूर्णि सूत्रों की रचना की।[२]

---

१. श्वेताम्बर परम्परा में इनका यह नाम 'अज्जमंगु' (आर्यमंगु) मिलता है—नन्दीसूत्र-२८

२. जयधवला पुस्तक१ पृष्ठ८७-८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूर्णिसूत्रकार

इन उल्लेखों से यह सिद्ध है कि आ. यतिवृषभ के गुरु आर्यमंक्षु और नागहस्ति थे। अनेक उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा आ. यतिवृषभ के उद्धरणों, मतों आदि के उल्लेखों से यह सिद्ध है कि वे अपने समय के उच्च आगमवेत्ता प्रमाणिक विद्वान् और दीर्घतपस्वी आचार्य थे। इसीलिए वे अनन्त-गहन-अर्थ गर्भित कसायपाहुड जैसे दुरूह और अतिसंक्षेप ग्रन्थ की सुत्तगाथाओं पर संक्षिप्त शब्दावली में महान् अर्थ में चूर्णिसूत्रों की रचना करने में सफल हुए। वस्तुतः इन चूर्णिसूत्रों के अभाव में इन सुत्तगाथाओं का आगम (परम्परा) सम्मत प्रामाणिक अर्थ करना असम्भव था। आ. यतिवृषभ का इसलिए भी अत्यधिक महत्व है कि वे शौरसेनी परम्परा के प्रथम चूर्णिसूत्रकार हैं। धवला में यतिवृषभाचार्य के चूर्णिसूत्रों को वृत्तिसूत्र भी कहा है। जयधवलाकार ने वृत्तिसूत्र का अर्थ बतलाया है—[१] 'सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्तसद्दरयणाए संगहिय सुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो' अर्थात् जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त हो और सूत्रगत अशेष अर्थों का संग्रह किया गया हो, ऐसे विवरण को वृत्तिसूत्र कहते हैं।

यद्यपि अर्धमागधी के अनेकों अंग आगमों पर व्याख्या साहित्य के अन्तर्गत चूर्णिसाहित्य उपलब्ध है और चूर्णिपद की परिभाषा में कहा गया है कि जिसमें महान् अर्थ हो, निपात और उपसर्ग से युक्त हो, गम्भीर हो,अनेक पद समन्वित हो, वह चूर्णिपद हैं।[२] इस तरह चूर्णिपदों के अन्तर्गत बीजसूत्रों की विवृत्यात्मक सूत्र-रूप रचना की जाती है और तथ्यों को विशेषरूप में प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु इन चूर्णियों और यतिवृषभ के चूर्णिसूत्रों की शैली और विषयवस्तु में काफी भिन्नता है। ये तो चूर्णिसूत्र हैं, चूर्णिपद नहीं[३] और फिर कसायपाहुड के गाथासूत्रों से इन चूर्णिसूत्रों का महत्व कम नहीं है, अपितु एक-दूसरे के पूरक हैं।

कसायपाहुड चुण्णिसुत्तों के साथ ही सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व. पं. हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री ने आ. यतिवृषभ को अनेक प्रमाणों द्वारा कम्मपयडि चुण्णि,[४]

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा-भाग २पृ. ८०

२. अत्थबहुलं महत्थं हेउ-निवाओवसग्गगंभीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं गय-णयसुद्धं तु चुण्णपयं ।। अभिधान राजेन्द्रकोश, चुण्णपद

३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—भाग-२पृष्ठ८१

४. कम्मपयडी-चिरन्तनाचार्य-विरचित-चूर्ण्या समलंकृता, प्रका—मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर डभोई, गुजरात।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सतक चुण्णि[१] (शतक प्रकरण चूर्णि) और सित्तरी चुण्णि (सप्ततिकाचूर्णि[२])— इन तीनों ही चूर्णियों के कर्ता सिद्ध किया है। ये तीनों ही मूलग्रन्थ अज्ञातकर्तृक भी माने गये है।[३]

तिलोयपण्णत्ति—

उपर्युक्त चूर्णिसूत्रों के अतिरिक्त आ. यतिवृषभ द्वारा रचित शौरसेनी प्राकृत भाषा का बहु-प्रसिद्ध महान् ग्रन्थ है—'तिलोयपण्णत्ति' (त्रिलोकप्रज्ञप्ति)। यह ग्रन्थ ९ महाधिकारों और १८० अवान्तर अधिकारों में विभक्त है। इसमें तीन लोक के स्वरूप, आकार-प्रकार, विस्तार, क्षेत्रफल, युगपरिवर्तन, भूगोल एवं खगोल आदि विविध विषयों का विस्तृत विवेचन है। प्रसंगानुसार जैन सिद्धान्त, पुराण, संस्कृति, भारतीय तथा जैन इतिहास विषयक महत्वपूर्ण सामग्री भी इसमें उपलब्ध है। बीच-बीच में बड़ी अच्छी सूक्तियां भी देखने को मिलती हैं। यथा—

अन्धो णिवडइ कूवे बहिरो ण सुणेदि साधु-उवदेसं ।
पेच्छंतो णिसुणंतो णिरए जं पडइ तं चोज्जं ।।[४]

अर्थात् अन्धा व्यक्ति कूप में गिर सकता है, बधिर साधु का उपदेश नहीं सुनता, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि जीव देखता और सुनता भी नरक में जा पड़ता है।

६. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका दिव्य अवदानः

तीर्थंकर महावीर और गौतम गणधर के बाद की उत्तरवर्ती जैन आचार्यों की विशाल परम्परा में अनेक महान् आचार्यों का नाम श्रद्धापूर्वक लिया जाता है। जिनके अनुपम व्यक्तित्व और कृतित्व से भारतीय चिन्तन अनुप्राणित होकर चतुर्दिक प्रकाश की किरणें फैलाता रहा है, किन्तु इन सबमें अब से दो हजार वर्ष पूर्व युगप्रधान **आचार्य कुन्दकुन्द** ऐसे प्रखर प्रभापुंज के समान महान् आचार्य हुए, जिनके महान् आध्यात्मिक चिन्तन से सम्पूर्ण भारतीय मनीषा प्रभावित हुई और उसने एक अद्‌भुत मोड़ लिया। यही कारण है कि इनके परवर्ती सभी आचार्यों ने अपने को उनकी परम्परा का आचार्य मानकर उनकी

---

१. सतक (शतक) प्रकरण चूर्णि, प्रका. श्री वीरसमाज, राजनगर, व. सं. १९७८
२. सित्तरी (सप्ततिका) चूर्णि-श्री मुक्ताबाई ज्ञान मंदिर, डभोई गुजरात वि. सं.१९९९
३. कसायपाहुडसुत्तः प्रस्तावना पं. हीरालाल शास्त्री पृष्ठ ३८-५२
४. ती. महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-२पृष्ठ९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरासत से जुड़ने में अपना गौरव माना तथा उनकी मूल-परम्परा तथा ज्ञान-गरिमा को एक स्वर से श्रेष्ठ मान्य करते हुए कहा—

मंगलं भगवदो वीरो मंगलं गोदमो गणी ।
मंगलं कोण्डकुंदाइ, जेण्ह धम्मोत्थु मंगलं ।।
(मंगलं भगवान्वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ।।)

अर्थात् तीर्थंकर भगवान् महावीर-वर्धमान मंगलस्वरूप हैं। तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि के विवेचनकर्ता तथा द्वादशांग आगमों के रचयिता प्रथम गणधर गौतम-स्वामी मंगलात्मक हैं। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे समर्थ अनेक आचार्यों की आचार्य-परम्परा मंगलमय है तथा प्राणिमात्र का कल्याण करने वाला जैनधर्म सभी के लिए मंगलकारक है।

शिलालेखों के अनुसार इनका जन्मस्थान कोणुकुन्दे, प्रचलित नाम कोंडकुन्दी (कुन्दकुन्दपुरम्) तहसील गुण्टूर है, जो आन्ध्रप्रदेश के अनन्तपुर जिले में कौण्डकुन्दपुर अपरनाम कुरूमरई माना जाता है। इनका जन्म शार्वरी नाम संवत्सर माघ शुक्ल ५, ईसापूर्व १०८ में हुआ था। इन्होंने ११ वर्ष की अल्पायु में ही श्रमण दीक्षा ली तथा ३३ वर्ष तक मुनिपद पर रहकर ज्ञान और चारित्र की सतत् साधना की। ४४ वर्ष की आयु (ईसा. पूर्व ६४) में चतुर्विध संघ ने इन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। ५१ वर्ष १० माह और १५ दिन तक उन्होंने आचार्यपद को सुशोभित किया। इस तरह इन्होंने कुल ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की दीर्घायु पायी और ईसा पूर्व १२ वर्ष में समाधिमरण पूर्वक मृत्यु पाकर स्वर्गारोहण किया।[१]

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ ही उनकी प्राचीनता, प्रामाणिकता और मौलिकता को कह रहे हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थों में 'सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ' कहकर अपने को बारह अंगों और चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के वेत्ता, गमकगुरु (प्रबोधक) भगवान् श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य कहा है।[२] भद्रबाहु को अपना गमकगुरू कहने का यही अर्थ है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु कुन्दकुन्द को प्रबोध करने वाले गुरु थे। इसलिए समयसार को भी उन्होंने श्रुतकेवली भणित कहा है, यथा—

---

१. समयसार: पुरोवाक् (मुन्नुडि) पृ.३-४, सं. बलभद्र जैन, प्रकाशन-कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली १९७८।

२. बोधपाहुड गाथा ६०-६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोपमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं ।। समयसार १ ।१ ।।

साहित्य और शिलोलेखों में इनके अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। जिनमें कौण्डकुन्द (कुन्दकुन्द), पद्मनन्दि, वक्रग्रीव, एलाचार्य, महामुनि, गृद्धपिच्छ ये इनके प्रमुख नाम हैं।

अनेक ग्रन्थों और शिलालेखों में आ. कुन्दकुन्द के विदेहगमन और चारणऋद्धि सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि आज के कुछ विद्वानों ने विदेहगमन और वहाँ सीमंधर स्वामी के समवशरण में पहुँचकर दिव्यध्वनि श्रवण की इस घटनाको सही नहीं माना है। किन्तु सदियों प्राचीन उल्लेखों को नजर-अन्दाज भी कैसे किया जा सकता हैं?

आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व और कर्तृत्व इतना अनुपम था कि दिगम्बर जैन परम्परा के प्रायः सभी संघों ने अपने को कुन्दकुन्दान्वय का मानने में गौरवशाली अनुभव किया। यही कारण है कि मूलसंघ के अनेक भेद-प्रभेद हो जाने अथवा स्वतन्त्र अन्यान्य संघ बन जाने के बावजूद सभी संघ आचार्य कुन्दकुन्द या कुन्दकुन्दान्वय की परम्परा का अपने को सच्चा अनुयायी मानते हुए भावनात्मक एकता, जैन शासन की अभ्युन्नति एवं आत्मकल्याणके लक्ष्य में एकजुट होकर संलग्न रहे और सभी आज भी हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके अन्वय की गौरवशाली परम्परा दो हजार वर्षों से अबतक निरन्तर चली आ रही है। तथा कुन्दकुन्दान्वय के रूप में जिसका उल्लेख आज भी सभी प्रतिष्ठित पूज्य मूर्तियों के मूर्तिलेखों में अनिवार्यतः प्रचलित है। जिनके परिपेक्ष्य में हम उनके महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्व के साथ ही भारतीय मनीषा को उनके अनुपम योगदान की परख कर सकते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा और उनका साहित्यः

आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों में तात्त्विक, आध्यात्मिक और आचार जैसे दुरूह विषयों के प्रतिपादन में भावों और भाषा की प्रौढ़ता तथा प्रसन्न, सरल एवं गम्भीर शैली का जो स्वरूप दिखलाई पड़ता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन्होंने भारतीय आर्यभाषा के प्राचीन स्वरूप को ध्यान में रखकर तत्कालीन बोलचालकी लोकभाषा (जनभाषा) के रूप में लोकप्रिय **शौरसेनी प्राकृत** भाषा को माध्यम बनाकर विशाल साहित्य का सृजन किया। कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनकी कृतियों की इस भाषा को जैन शौरसेनी कहा है, किन्तु यह पहले ही कहा जा चुका है कि वास्तव में यह शौरसेनी की एक प्रवृत्ति मात्र है। अतः इसे मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही माना जाना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्दके उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने भी इनकी परम्पराओं को आगे बढ़ाते हुए इसी भाषा में साहित्य सृजन किया।

इस सन्दर्भ में यशस्वी विद्वान् पं. बलभद्र जैन का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि 'हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कुन्दकुन्द केवल सिद्धान्त और आध्यात्म के ही मर्मज्ञ विद्वान नहीं थे, अपितु वे भाषाशास्त्र के भी अधिकारी और प्रवर्त्तक विद्वान् थे। उन्होंने अपनी प्रौढ़ रचनाओं द्वारा प्राकृत को नये आयाम दिये, उन्होंने उसका संस्कार किया, उसे संवारा और नया रूप दिया। इसलिए वे जैन शौरसेनी के आद्य कवि और रचनाकार माने जाते हैं।'[१]

श्रुतपरम्परा के संरक्षक और पाहुड साहित्य के अनुपम स्रष्टाः

यद्यपि श्रुत-विच्छेदके बाद और कुन्दकुन्द से पूर्व श्रुतरक्षा के लिए प्रयत्न तो बहुत होते रहे, किन्तु मान्यताओं के आधार पर जो मतभेद उत्पन्न हो गये थे उनका साधिकार लिखने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया। यह कार्य आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ऊपर लिया। अतः युग प्रतिष्ठापक होने का श्रेय कुन्दकुन्दको प्राप्त होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि उस समय और बाद की परम्परा ने आचार्य कुन्दकुन्दको यह स्थान और महत्त्व दिया जो अन्य को प्राप्त नहीं हुआ। क्योंकि युगप्रतिष्ठापक होने के नाते कुन्दकुन्दकी महत्ता निरन्तर बढ़ती ही गई और इसीलिए कुन्दकुन्दके मूलसंघका दूसरा नाम ही कुन्दकुन्दान्वय प्रसिद्ध हो गया।[२]

आचार्य कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थ पाहुड कहे जाते हैं। पाहुड अर्थात् प्राभृत जिसका अर्थ हैं भेंट। टीकाकार आचार्य जयसेन ने समयसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है[३] कि जैसे देवदत्त नाम का कोई व्यक्ति राजा का दर्शन करने के लिए कोई सारभूत वस्तु ले जाकर राजा को देता है, तो उसे प्राभृत या भेंट कहते हैं उसी प्रकार परमात्मा के आराधक पुरुष के लिए निर्दोष परमात्मा रूपी राजा का दर्शन कराने के लिए यह शास्त्र भी प्राभृत (भेंट) है।

इस तरह तीर्थंकरों के उपदेश रूप द्वादशांग वाणी से सम्बद्ध ज्ञानसमूहरूप ग्रन्थों को हम पाहुड कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रायः सभी ग्रन्थों

---

१. समयसारः मुन्नुडिः पृ. १० सं.पं. बलभद्र जैन. कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली.

२. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसारः ले.डॉ. लालबहादुर शास्त्री.....पृ.२२.

३. समयसार तात्पर्य वृत्तिः गाथा१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की रचना मूल द्वादशांग के तत्संबधी स्थलों और विषयों के आधार पर की है। यथा बारहवें अंग दृष्टिवाद के अन्तर्गत चौदह पूर्वों में पंचम पूर्व ज्ञानप्रवाद के बारह वस्तु-अधिकारों में से दशम वस्तु अधिकार 'समय पाहुड' के आधार पर समयसार ग्रन्थ की रचना की गई।

उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी प्रामाणिकता का आधार प्रायः सभी ग्रन्थों के प्रारम्भिक मंगलाचरणों में सूचित करते हुए कहा है[१] कि श्रुतकेवलियों ने जो कहा है, मैं वहीं कहूँगा अर्थात् श्रुतकेवलियों द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञानका में वक्ता मात्र हूँ, स्वयं कर्ता नहीं। अर्थात् समयपाहुड आदि वही ग्रन्थ हैं, जिनकी देशना भगवान् महावीर ने और जिनकी प्ररूपणा गौतम गणधर तथा श्रुतकेवलियों ने की थी, वही ज्ञानामृत आचार्य परम्परासे सुरक्षित रूप में आचार्य कुन्दकुन्दको प्राप्त हुआ, जिसे उन्होंने इन ग्रन्थों द्वारा उसी रूप में हम तक पहुँचाया।

आरम्भ में साक्षात् गणधर-कथित वा प्रत्येकबुद्ध-कथित सूत्रग्रन्थों की केवल मौखिक परम्परा चली आ रही थी, सिद्धान्त ग्रन्थों के नाम पर गृहस्थों को पढ़ने की अनुमति नहीं थी। श्रुत क्रमशः प्रायः इतना विच्छिन्न और विस्मृत-सा हो गया था कि सर्वसाधारण विद्वान्-साधुओं को उन विषयों पर लेखनी चलाने का साहस न होता था। किन्तु इस स्थितिको आचार्य कुन्दकुन्दने बड़ी कुशलता के साथ सम्हाला और साहित्य सृजन करके जनता को उद्‌बोधित करने के लिए वे आगे बढ़े। साथ ही अपने अनुभव की बाजी लगाकर उन्होंने १.पंचत्थिकाय, २. समयपाहुड, ३. पवयणसार, ४. णियमसार, ५. अट्ठपाहुड, इसमें दंसणपाहुड, चारित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड तथा लिंगपाहुड—ये आठ पाहुड सम्मिलित हैं) ६. बारस अणुवेक्खा और ७.भत्तिसंगहो (जिसमें सिद्ध, सुद, चारित्त, (जोइ) योगी, आइरिय, णिव्वाण, पंचगुरु तथा तित्थयरभत्ति नामक भक्तिसंग्रह) जैसे महान् ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त रयणसार को विद्वान् इन्ही की कृति मानते हैं। तमिल वेदके रूप में सुविख्यात तिरुक्कुरल (कुरलकाव्य) नामक नीतिग्रन्थ भी इनकी कृति मानी जाती है।

आचार्य कुन्दकुन्दकी उपलब्ध कृतियों में से पञ्चत्थिकाय, समयपाहुड और पवयणसार को नाटकत्रयी या प्राभृतत्रयी भी कहा जाता है। इनमें पंचास्तिकाय

---

२. (क) वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं.....समयसार१.१.
(ख) वोच्छमि णियमसारं, केवलि-सुदकेवली भणिदं.....नियमसार१.१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को 'संग्रह' अर्थात् 'पंचत्थिसंगहो' कहा गया है। इसमें सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—इन पाँच अस्तिकाय द्रव्यों का मुख्यतः विवेचन है।

समयसार के माध्यमसे आचार्य कुन्दकुन्दने आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मतत्व और आध्यात्मिक रूपकी जिस ऊँचाई को छुआ है, वह सम्पूर्ण विश्व साहित्य में दुर्लभ है। इस दृष्टि से समयसार एक अनुपम ग्रन्थरत्न है। जिसमें सम्यग्ज्ञान के आधारभूत स्वद्रव्य और परद्रव्य की गहन विवेचना है।

पवयणसार में ज्ञान-ज्ञेय तत्त्व के साथ ही सम्यक् चारित्र की विशेष व्याख्या है। यह एक सुव्यस्थित रचना वाला एक दार्शनिक ग्रन्थ के साथ-साथ साधक श्रमणों के आचार-विचार संबंधी उपयोगी शिक्षाओं का प्रतिपादक महान् ग्रन्थ भी है। जिसमें दीक्षार्थी साधक के लिए उपयोगी तथा अत्यावश्यक उपदेश भरा हुआ है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने इन तीनों ही ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आवश्यक विस्तार के साथ सुसम्बद्ध विवेचन करके मुमुक्षुजनों के लिए साक्षात् मोक्षमार्ग प्रदर्शित किया।

णियमसार में भी इसी रत्नत्रय को मोक्ष-प्राप्तिका मार्ग प्रतिपादत किया गया हैं। बारस-अणुवेक्खा में अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, अस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि—इन वैराग्यवर्धक बारह भावनाओं (अनुप्रेक्षाओं) का वर्णन है। उपदेश-प्रधान आठ पाहुडों में जो उपदेश आ. कुन्दकुन्दने दिया है, उसका प्रधान लक्ष्य श्रमणों को सदा सच्चे आचार में सुदृढ़ रखना है।

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा रचित ग्रन्थों में चाहे हम पंचत्थिसंगहो पढें, समयपाहुड या पवयणसार पढें-उनके द्वारा वस्तुतत्व का जो प्रतिपादन किया गया है, वह अपूर्व ही है।

अट्ठपाहुड, बारस अणुवेक्खा और भत्तिसंगहो— इनमें क्रमशः रत्नत्रय, वैराग्य और भक्ति आदि विषयों का प्रतिपादन बेजोड़ है। समयपाहुड आदि ग्रन्थों में आ. कुन्दकुन्दने पर से भिन्न तथा स्वकीय गुण-पर्यायों से अभिन्न आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का जो वर्णन किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इन ग्रन्थों में आध्यात्मिक सुख की धारा रूप से अपूर्व मन्दाकिनी प्रवाहित की है, मुमुक्ष उसमें अवगाहन कर शाश्वत शान्ति की प्राप्ति के योग्य बनते हैं। तभी तो पुरानी हिन्दी के जैन महाकवि पं.वृन्दावनदास ने मधुर छन्दों में आचार्य कुन्दकुन्द के विषय में कहा है कि—

जासके मुखारविन्दतैं प्रकाश भासवृन्द,
स्याद्वाद जैन वैन इंद कुन्दकुन्द से ।
तासके अभ्यासतैं विकास भेद ज्ञान होत,
मूढ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से ।
देत हैं अशीस शीस नाय इन्द चंद जाहि,
मोहि मार खंड मारतण्ड कुन्दकुन्द से ।
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा, प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा,
हुए, न हैं, न होहिगे मुनिंद कुन्दकुन्द से ।।

आचार्य कुन्दकुन्द निश्चयनय एवं आध्यात्म-प्रधान होकर भी व्यवहार के विरोधी नहीं थे। जिनदेव, जिनागम आदि के प्रति बारम्बार अपार भक्तिपूर्वक वंदना आदि पुण्यवर्धक क्रियायें भी उनकी कृतियों के प्रारम्भिक मंगलाचरणों से स्पष्ट ही हैं। जहाँ उन्होंने राग-द्वेष एवं कर्मफल से अनिर्लिप्त शुद्ध आत्मा के स्वरूप के अतिरिक्त अन्य पुद्गल आदि द्रव्यों की भी प्ररूपणा की, वहीं संसारचक्र के दु:ख से पीड़ित जीवों को मुक्त कराने वाली लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। जहाँ प्रवचनसार में उन्होंने श्रमणाचार का भी सुव्यवस्थित प्रतिपादन किया, वहीं चारित्रपाहुड में सागार (श्रावक) के दार्शनिक प्रतिमा आदि ग्यारह स्थानों (प्रतिमाओं) का निर्देश करते हुए बारह भेद-स्वरूप संयमाचरण का अर्थात् श्रावक के व्रतों का भी निरूपण किया है।[१] वस्तुत: मुक्ति प्राप्ति जीव का ही लक्ष्य है और बाह्य व्रत-संयम आदि का प्रतिपादन उसी पूर्ति के लिए ही है।

इस तरह साहित्य के क्षेत्र में आ. कुन्दकुन्द की अलौकिक विद्वत्ता, शास्त्रग्रथन की प्रतिभा एवं सिद्धान्त ग्रन्थों के सार को आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोग के रूप में प्रस्तुत करने का अपना अलग ही वैशिष्ट्य है। तीर्थंकर

---

१. चारित्त पाहुड गाथा २१-३७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर और गौतम गणधर के बाद यह पहला ही अवसर था, जबकि ज्ञानाभ्यासियों को तत्त्वचिन्तन की एक व्यवस्थित दिशा मिली। यही कारण है कि दिगम्बर जैन परम्परा में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द का नाम युगप्रतिष्ठापक के रूप में बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ लिया जाता है और युगों-युगों तक वे इस रूप में (हम सभी के बीच) जीवित और प्रतिष्ठित रहेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के व्याख्याकार आचार्य अमृतचंद्र, आ. जयसेन, श्रुतसागरसूरि, कनडी वृत्तिकार अध्यात्मी बालचन्द्र, पं. बनारसीदास, पांडे राजमल्ल, पं. जयचन्द्रजी छावड़ा आदि तथा बीसवीं-शती के अनेक मनीषियों का हम उपकार कभी नहीं भूल सकते, जिन्होंने कुन्दकुन्द के साहित्य का गहन चिन्तन, अवगाहन एवं स्वानुभव करके उन द्वारा विवेचित तत्त्वज्ञान को हम लोगों तक सरल रूप में पहुँचाया, ताकि हम और हमारी भावी पीढ़ी आत्म-कल्याण के द्वारा इस जीवन को सफल बना सके।

७. आचार्य शिवार्य

ईसा की प्रथमशती के ही आचार्य शिवार्य का नाम शौरसेनी प्राकृत साहित्य के विकास में महनीय योगदान के लिए परम आदर के साथ लिया जाता है। यापनीय परम्परा के प्रमुख आचार्य शिवार्य का दूसरा नाम शिवकोटि भी प्रसिद्ध है। यद्यपि इन्होंने अपनी एक मात्र कृति भगवती आराधना के अन्त में अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया है—

अज्जजिणणंदिगणि- सव्वगुत्तगणि अज्जमित्तणंदीणं ।
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ।।२१५९।।
पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ।
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ।।२१६०।।
छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं ।
सोधेंतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु ।।२१६१।।
आराधणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती ।
संघस्स सिवजस्स स समाधिवरमुत्तमं देउ ।।

अर्थात् आर्य जिननन्दिगणि, आर्य सर्वगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दि के पादमूल में बैठकर सम्यक् प्रकार से सूत्र और अर्थ को जानकर तथा पूर्वाचार्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा निबद्ध आराधनाओं (सूत्रार्थ) को उपजीत्य करके पाणितलभोजी शिवार्य ने अपनी शक्ति से इस आराधना की रचना की। छद्मस्थता या ज्ञान की अपूर्णता के कारण इसमें कुछ प्रवचन-विरुद्ध लिखा गया हो तो विद्वज्जन प्रवचन-वात्सल्य से उसे शुद्ध कर लें। और इस प्रकार भक्ति पूर्वक वर्णन की गई यह भगवतीआराधना संघ और शिवार्य को उत्तम समाधि दे।

अपने विषय में इस तरह स्वयं शिवार्य के द्वारा प्रदत्त, मात्र यही जानकारी उपलब्ध है। कुछ विद्वानों ने मूलगाथा में कहा गया 'पुव्वायरियणिबद्धा उपजीवित्ता इमा ससत्तीए' का अर्थ लगाया है — 'पूर्वाचार्यकृत रचना को आधार बनाकर अपनी शक्ति के अनुसार यह ग्रन्थ लिखा।' किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि यह शिवार्य की एक महत्त्वपूर्ण मौलिक कृति है। और उन्होंने अपनी शक्ति से पूर्वाचार्य निबद्ध और लुप्त आराधना के इस विषय को प्रस्तुत कृति के माध्यम से उपजीवित (पुनर्जीवित) किया है। इस बात की पृष्टि प्रभाचन्द्र कृत 'आराधना कथाकोश' नामक ग्रन्थ में की गई समन्तभद्राचार्य की कथा से भी होती है। जिसमें कहा गया है कि राजा शिवकोटि राज्य त्यागकर मुनिदीक्षा ग्रहण करते हैं तथा सकलश्रुत का अवगाहन करके लोहाचार्य रचित चौरासी हजार गाथा-प्रमाण आराधना को संक्षिप्त करके अढ़ाई हजार प्रमाण मूलाराधना की रचना करते हैं। यद्यपि लोहाचार्य कृत आराधना का कोई अन्य प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता, अत: यह कथानक कितना प्रामाणिक है, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु पूर्वोक्त कथन का कुछ न कुछ फलितार्थ तो सिद्ध होता ही है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप — इन चार आराधनाओं के प्रति भगवती विशेषण लगाकर परम आदरभाव व्यक्त करके और इन्हीं पूज्य चार आराधनाओं का प्रतिपादन करने वाला 'भगवदी आराहणा' (भगवती आराधना) नामक यह महान् ग्रन्थ लगभग २१६६ गाथाओं[१] और चालीस अधिकारों में निबद्ध है। इसमें चार आराधनाओं को प्रतिपादन का प्रमुख विषय बनाते हुए श्रमणाचार विषयक मुनिधर्म, सल्लेखना, मरण, अनुप्रेक्षा, भावना तथा विविध जैन सिद्धान्तों एवं नीतियों का अच्छा और विस्तृत विवेचन किया गया है। इसका मंगलाचरण इस प्रकार हैं—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते ।
वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणा कमसो ।।१।।

---

१. भगवती आराधना के विभिन्न संस्करणों में सम्पूर्ण गाथाओं की संख्या अलग-अलग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जगत् में प्रसिद्ध चार प्रकार की आराधना के फल को प्राप्त सिद्ध और अरहंत की वन्दना करके क्रम से आराधना को कहूँगा। आगे आराधना के स्वरूप में कहा है[1] कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और सम्यक्तप के उद्योतन (शंका आदि दोषों को दूर करना) (उद्यवन) बार-बार आत्मा का सम्यक् दर्शनादि रूप परिणत होना), निर्वहन (निराकुलतापूर्वक सम्यक् दर्शनादि को धारण करना अथवा इस रूप परिणति में संलग्न होना, साधन (सम्यक् दर्शनादि रूप परिणामों का पुनः उत्पन्न करना, निस्तरण—सामर्थ्य (सम्यक् दर्शनादि को दूसरे भव में भी साथ ले जाना) को आराधना कहते हैं।

आगे यहाँ मरण के सत्रह भेद बतलाये गये हैं,[2] जिनमें पंडित-पंडितमरण, पंडितमरण, और बालपंडितमरण को श्रेष्ठ कहा है। पंडितमरण में भी भक्तप्रतिज्ञामरण को श्रेष्ठ माना गया है।

इस तरह आराधना विषयक यह एक सांगोपांग कृति है, जिसकी समता अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें मनुष्यभव को सार्थक करने के लिए समाधिमरण की सिद्धि की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। नैतिक आचार और जीवनोत्कर्ष विषयक विविध विवेचन के साथ ही काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ उपमा अलंकार का संयोजन द्रष्टव्य है—

घोडयलद्दिसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ।
बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ।।१३४१।।

अर्थात् जैसे घोड़े की लीद बाहर से चिकनी किन्तु भीतर से दुर्गन्ध के कारण महामलिन है, उसी तरह जो श्रमण बाह्य आडम्बर तो धारण करता है, पर अन्तरंग शुद्ध नहीं रखता, उसका आचरण बगुले के समान होता है।

यहाँ आचार्य ने अंतरंग शुद्धि पर बल दिया है। वैसे भी इस पूरे ग्रन्थ में शिवार्य ने तथ्य निरूपण की यथार्थ भूमि पर स्थित हो संसार, शरीर और भोगों की निस्सारता की निदर्शना, दृष्टान्त, उदाहरण, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों द्वारा अभिव्यक्तकर ग्राह्यता प्रदान की है।[3]

---

२. उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं ।
दंसणणाण चरित्तं तवाणमाराहणा भणिया ।।२।।

३. भगवती आराधना गाथा २५.

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा: भाग-२ पृष्ठ१३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवती आराधना पर दो महत्त्वपूर्ण टीकायें उपलब्ध हैं। १.अपराजित सूरि कृत विजयोदया टीका तथा २.पं. आशाधर कृत 'मूलाराधना दर्पण टीका'।

शिवार्य ने भगवती अराधना में तत्कालीन प्रचलित अनेक प्राचीन परम्पराओं को भी सम्मिलित कर साधक जीवन की सफलता का अच्छा निदर्शन किया है। साथ ही आज के सन्दर्भ में, जबकि हमारे भारत देश में सरकार 'छोटा परिवार सुखी परिवार' की नीति के प्रचार पर अपार धन खर्च करती है किन्तु वैसी सफलता प्राप्त नहीं होती। अत: इसके लिए इस भगवती आराधना ग्रन्थ का यह महत्त्वपूर्ण संदेश कि 'बहुत बच्चों वाला बड़ा परिवार दरिद्र और सदा दु:खी रहता है' काफी कार्यकारी हो सकता है। यथा—

तो ते सीलदरिद्दा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति ।
बहुपरियणो दरिद्दो पावदि तिव्वं जधा दुक्खं ।।
।। भगवती आराधना गाथा१३०३ ।।

अर्थात् जैसे बहुपरिजन वाला दरिद्र व्यक्ति तीव्र दु:ख पाता है, वैसे ही शील से दरिद्र मुनि सदा अनंत दु:ख पाते हैं। इस तरह का समाजशास्त्रीय अध्ययन तो महत्त्वपूर्ण है ही, यदी इसका सांस्कृतिक अध्ययन भी किया जाए तो अति महत्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध होगा।

८. आचार्य वट्टकेर और उनका मूलाचार*

श्रमणाचार विषयक शौरसेनी प्राकृत भाषा के एक बहुमूल्य ग्रन्थ 'मूलाचार' के यशस्वी कर्ता आचार्य वट्टकेर का इस क्षेत्र में अनुपम योगदान है। यह उनकी एकमात्र उपलब्ध कृति है। दिगम्बर जैन परम्परा में आचारांग के रूप में प्रसिद्ध यह श्रमणाचार विषयक मौलिक, स्वतंत्र प्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थ द्वितीय-तृतीय शती के आसपास की रचना है। यद्यपि अन्य कुछ प्रमुख आचार्यों की तरह आ. वट्टकेर के विषय में भी विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनकी एकमात्र अनमोल कृति मूलाचार के अध्ययन से ही आ.वट्टकेर का बहुश्रुत सम्पन्न एवं उत्कृष्ट चारित्रधारी आचार्यवर्य के रूप में उनका व्यक्तित्व हमारे समक्ष उपस्थित होता है।

---

* इस विषयक विस्तृत जानकारी के लिए देखें—इस लेख के लेखक डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी द्वारा लिखित एवं ई.सन् १९८७ में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५, द्वारा प्रकाशित अनेक पुरस्कारों से पुरस्कृत एवं चर्चित शोध प्रबंध "मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन" का प्रथम—प्रास्ताविक अध्याय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दक्षिण भारत में बेट्टकेरी स्थान के निवासी 'वट्टकेर' दिगम्बर परम्परा में मूलसंघ के प्रमुख आचार्य थे। इन्होंने मुनिमार्ग की प्रतिष्ठित परम्परा दीर्घकाल तक यशस्वी और उत्कृष्ट रूप में चलते रहने और मुनिदीक्षा धारण के मूल उद्देश्य की प्राप्ति हेतु 'मूलाचार' ग्रन्थ की रचना की, जिसमें श्रमण-निर्ग्रन्थों की आचार-संहिता का सुव्यवस्थित, विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन किया गया है।

मूलाचार तथा कुन्दकुन्द साहित्य की कुछ गाथायें समान मिलने और मूलाचार की वसुनन्दिकृत आचारवृत्ति की कुछ पाण्डुलिपियों में आ. कुन्दकुन्द का नामोल्लेख होने के आधार पर मूलाचार को भी कुछ विद्वानों ने आचार्य कुन्दकुन्द की कृति सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु इन दोनों में अनेकों असमानता के कारण ऐसा है नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द वृत्तिकार तथा ऐलाचार्य के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। इन आधारों पर भी वट्टकेर और कुन्दकुन्द को कुछ विद्वानों ने एक ही आचार्य सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु यह भी खींचतान ही है। अत: मूलाचार को आ. कुन्दकुन्द कृत नहीं माना जा सकता है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों की गाथाओं से मूलाचार की कुछ गाथाओं की समानता के आधार पर कुछ विद्वान् इसे संग्रहग्रंथ भी कह देते हैं, किन्तु यह तथ्य है कि तीर्थंकर महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा जब दो भागों में विभक्त हुई, उस समय समागत श्रुत दोनों परम्पराओं के आचार्यों को कंठस्थ था। अत: उन दोनों ने समान रूप से उसका उपयोग प्रसंगानुसार अपनी-अपनी रचनाओं में किया, इसीलिए कुछ समानताओं के आधार पर ही किसी मौलिक ग्रन्थ को संग्रहग्रंथ कह देना, उस सम्पूर्ण विरासत के साथ अन्याय ही कहा जाएगा।

वस्तुत: समान गाथाओं वाले कुछ ग्रन्थ तो हमें उस परम्परा के प्राचीनतम उन स्रोतों को खोजने का अवसर प्रदान करते हैं, जो तीर्थंकर महावीर की साधना और उनके श्रमणसंघ की आचार संहिता से ही सीधे जुड़ थे। क्योंकि अर्धमागधी आगमों में श्रमणाचार के जिन नियमों और उपनियमों को निबद्ध किया गया है तथा मूलाचार में श्रमण की जो अचार संहिता निबद्ध है, उसकी तात्त्विक और आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। अहिंसा के जिस मूल धरातल पर श्रमणाचार का महाप्रासाद अर्धमागधी आगम में निर्मित है, उसी अहिंसा के मूल धरातल पर मूलाचार में भी श्रमणाचार का विशाल भवन निर्मित है। इस दृष्टि से मूलाचार को भी आचारांग के आधार पर ही निर्मित माना गया है। मूलाचार के टीकाकार आ. वसुनन्दि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आ.सकलकीर्ति और पं नंदलाल जी छावड़ा तथा ऋषभदास निगोत्या के कथनों से इस बात का समर्थन भी होता है। इसीलिए आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम की अपनी धवला टीका में तथा आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में मूलाचार की गाथाओं को आचारांग के नाम से ही उद्धृत किया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रथम मूल-अंग-आगम आचारांग के आधार पर इसकी रचना हुई और इसीलिए इसका नाम भी मूलाचार प्रसिद्ध हुआ और तदनुसार उस श्रमणसंघ के आचार का प्रतिपादक होने से उनके संघ का नाम 'मूलसंघ' प्रचलित हुआ जान पड़ता है।

मूलाचार के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि पाँचवें श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के समय जो दुर्भिक्ष पड़ा था। उसके प्रभाव से श्रमाणाचार में जो शिथिलता आई थी, उसे देखकर श्रमणों को अपने आचार-विचार एवं व्यवहार आदि की विशुद्धता का समग्र एवं व्यवस्थित ज्ञान कराने हेतु आचार्य वट्टकेर ने इस मूलाचार का निर्माण किया। जिस व्यवस्थित रूप में श्रमणधर्म के सम्पूर्ण-आचार विचार का निरूपण इसमें मिलता है, वैसा अन्य श्रमणाचार-परक प्राचीन ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता।

मूलाचार में मूलगुण, बृहत्प्रत्याख्यान-संस्तरस्तव, संक्षेपप्रत्याख्यान-संस्तरस्तव, समाचार, पंचाचार, पिण्डशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगारभावना, समयसार, शीलगुण और पर्याप्ति — ये बारह अधिकार हैं। इनमें कुल १२५२ गाथायें हैं। सभी अध्याय परस्पर सम्बद्ध होकर क्रमबद्ध रूप में मुनिधर्म का उत्तरोत्तर विवेचन करते हुए भी इसका प्रत्येक अधिकार एक स्वतंत्र ग्रन्थ का भी रूप लिये हुए है। यदि प्रत्येक अधिकार को अलग-अलग प्रकाशित करके इनका अध्ययन हो, तो भी उन प्रत्येक में सम्पूर्णता ही लगती है।

जैसे इसके सातवें षडावश्यक अधिकार का ही उदाहरण लें। इसका प्रारम्भ ही मंगलाचरण से होता है और अन्त भी उपसंहारात्मक शैली में हुआ है। इसके प्रारम्भ में ही आचार्य वट्टकेर ने प्रतिज्ञा की है कि अब आवश्यक निर्युक्ति का कथन कर रहा हूँ और फिर इस पूरे अधिकार में सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इन छह आवश्यकों का क्रमशः भेद- प्रभेद सहित अच्छा विवेचन किया गया है। इस तरह अर्धमागधी भाषा में उपलब्ध 'आवश्यकसूत्र' तथा इनकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि ग्रन्थों में छह आवश्यकों का स्वरूप मूलाचार के सदृश ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार के प्रथम अधिकार में अट्ठाईस मूलगुणों का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। यहाँ कहा गया है कि श्रमणाचार रूप वृक्ष के लिए जो मूल (जड़) के समान हों, वे मूलगुण हैं। ये श्रमणधर्म की आधारशिला हैं। सम्पूर्ण मुनिधर्म इन अट्ठाईस मूलगुणों से सिद्ध होता है। इनमें न्यूनाधिकता रहने पर साधक को श्रमणधर्म से च्युत माना गया जाता है। मूलाचार का अन्तिम अधिकार है पर्याप्ति। इसमें पर्याप्ति आदि करणानुयोग के उन जैन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, जो आ.वट्टकेर को यह ज्ञान अविच्छिन्न आचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ था।

इस तरह आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार के माध्यम से मात्र सम्पूर्ण श्रमण परम्परा को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीयता को वह आचार-संहिता प्रदान कर महनीय योगदान किया है, जिसके कारण यह भारत देश सदा ही गौरवान्वित होता रहेगा।

९. स्वामी कार्तिकेय

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' नाम से प्रसिद्ध 'बारस-अणुवेक्खाओ' (द्वादशानुप्रेक्षा) के कर्ता स्वामी कार्तिकेय या स्वामी कुमार दूसरी शती के आचार्य हैं। इनका जीवनवृत्त भी स्पष्ट रूप में प्राप्त नहीं होता। ये बाल ब्रम्हचारी थे और इन्होंने कुमारावस्था में ही मुनि दीक्षा धारण की थी। इसीलिए इन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर—इन कुमारकाल में ही दीक्षित और मुक्ति को प्राप्त होने वाले पाँच तीर्थकरों के प्रति विशेष अनुराग वश इनका स्तवन, गुणानुवाद और इनकी विशेष वंदना की है।[१] कुछ उल्लेखों के अनुसार[२] ये अग्नि नामक राजा के पुत्र थे। इनकी बहन का विवाह रोहेडनगर के राजा क्रौंच के साथ हुआ था। किसी बात पर क्रौंच राजा स्वामीकुमार से नाराज हो गये और उसने कार्तिकेय पर दारुण उपसर्ग किये, जिसे ये समता पूर्वक सहन करते रहे और अन्त में रत्नत्रय पूर्वक देवलोक प्राप्त किया।[३]

४९१ गाथाओं[४] में निबद्ध 'बारस अणुवेक्खा' उनकी एकमात्र कृति है। इसका प्रारम्भिक मंगलाचरण इस प्रकार है—

तिहुवण-तिलयं देवं वंदित्ता तिहुवणिंद-परिपुज्जं ।
वोच्छं अणुपेहाओ भविय-जणाणंद-जणणीओ ।।१।।

---

१. तिहुवण-पहाण सामिं कुमार-कालेवि तविय तव-चरणं।
वसुपुज्ज-सुयं मल्लिं चरम-तियं संथुवे णिच्चं।।४८९।।

२. भगवती आराधना मूलाराधना दर्पण टीका गाथा१५४९. पृ.१४४३

३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २ पृ. १३६से उद्धृत.

४. कुछ संस्करणों में ४८९ गाथायें भी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् तीन भुवन का तिलक, तीन भुवन के इन्द्रों से पूज्य जिनेन्द्रदेव को नमन करके भव्यजनों को आनन्ददायक अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा।

ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थ का नाम सूचित करते हुए कहा है कि ये बारह अनुप्रेक्षायें जिनागम के अनुसार कहीं है, अत: जो भव्यजीव इन्हें पढ़ता सुनता और इनकी भावना करता है अत: उत्तम सुख को पाता है—

बारस-अणुवेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ।।४९०।।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म—इन बारह अनुप्रेक्षाओं के प्रतिपादन के प्रसंग में सात तत्त्व, जीवसमास, मार्गणा, व्रत, दाता, दान, सल्लेखना, दसधर्म, ध्यान, तप आदि जैन सिद्धान्त एवं आचार विषयक विषयों का अच्छा प्रतिपादन किया गया है।

स्वामी कार्तिकेय की भाषा, भाव, शैली अत्यन्त ही सरल और सुबोध है। विषय प्रतिपादन और रचना शैली 'भगवती आराधना' के कर्ता शिवार्य, और पाहुड साहित्य के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द के समान है। इस ग्रंथ में इनकी शौरसेनी प्राकृत भाषा इतनी सरल है कि इस भाषा-प्रयोग के आधार पर हम प्राकृत से अपभ्रंश अथवा इससे सीधे उद्भूत वर्तमान राष्ट्रभाषा हिन्दी के उद्भव और विकास की प्रक्रिया समझ सकते हैं।

प्रश्नोत्तर-शैली में लिखी गयीं गाथायें विशेष रोचक और महत्त्वपूर्ण हैं। शैली में अर्थ-सौष्ठव, स्वच्छता, प्रेषणीयता, सूत्रात्मकता, अलंकारात्मकता समवेत हैं। प्रश्नोत्तर शैली की ये कुछ गाथायें दृष्टव्य हैं—

को ण वसो इत्थि-जणे, कस्स ण मयणेण खंडियं माणं ।
को इन्दिएहिं ण जिओ, को ण कसाएहिं संतत्तो ।।२८१।।
सो ण वसो इत्थिजणे, सो ण जिओ इंदिएहिं मोहेण ।
जो ण य गिण्हदि गंथं, अब्भंतर बाहिरं सव्वं ।।२८२।।

अर्थात् लोक में स्त्रीजन के वश में कौन नहीं? काम ने किसका मान खण्डित नहीं किया? इन्द्रियों ने किसे नहीं जीता और कषाओं से कौन संतप्त नहीं हुआ?।।२८१।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकार ने इन समस्त प्रश्नों का उत्तर तर्कपूर्ण और सुबोध शैली में अंकित किया है। वे कहते हैं—जो मनुष्य बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रह को ग्रहण नहीं करता, वह मनुष्य न तो स्त्रीजन के वश में होता है, न काम के अधीन होता है और न मोह और इन्द्रियों के द्वारा ही वह जीता जा सकता है।।२८२।।

१०. आचार्य वसुनन्दि

श्रावक एवं श्रमणधर्म तथा जैन सिद्धान्तों के महान् वेत्ता एवं लेखक के रूप में आचार्य वसुनन्दि का शौरसेनी प्राकृत और संस्कृत साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। इनका उपलब्ध साहित्य ही इनका जीवन-दर्शन है, अन्यथा इनके जीवन के विषय में उपलब्ध जानकारी बहुत ही अल्प है।

वर्तमान में 'वसुनन्दि श्रावकाचार' नाम से प्रसिद्ध शौरसेनी प्राकृत का ग्रन्थ 'उवासयज्झयणं' (उपासकाध्ययनम्) की प्रशस्ति के अनुसार स्वसमय और परसमय के ज्ञाता आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में श्रीनन्दि नामक आचार्य हुए हैं। इनके शिष्य नयनन्दि और इनके शिष्य नेमिचन्द्र के प्रसाद से वसुनन्दि ने इस ग्रन्थ की रचना की।[१]

यद्यपि इस प्रशस्ति में इनके इस ग्रन्थ का परिमाण ६५० गाथा-प्रमाण लिखा है, किन्तु वर्तमान में मात्र ५४६ गाथायें उपलब्ध हैं। इनके समय का उल्लेख नहीं मिलता। कुछ विद्वान् इनका समय १२वीं शती का पूर्वार्द्ध अथवा ११वीं शती का अन्तिम भाग मानते हैं किन्तु इस ग्रन्थ की भाषा, शैली और विषय के प्रतिपादन आदि के गहन अध्ययन के आधार पर वे इससे भी काफी पूर्व ८-९ वीं शती के आचार्य प्रतीत होते हैं।

---

१. आसी ससमय-परसमयविदु सिरिकुंदकुंदसंताणे ।
भव्वयणकुमुयवणसिसिरयरो सिरिणंदिणामेण ।।५४०।।
सिस्सो तस्स जिणिंदसासण रओ ६६६.....।
णयणंदिणाममुणिणो भव्यासयाणंदओ ।।५४२।।
सिस्सो तस्स जिणागम जलणिहिवेलातरंगधोयमणो ।
संजाओ सयलजए विक्खाओ णेमिचन्दु त्ति ।।५४३।।
तस्स पसाएण मए आइरिय परपरागयं सत्थं ।
वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासज्झयणं ।।५४४।।
छच्च सया पण्णसुत्तराणि एयस्स गंथपरिमाणं ।६५०।गाथा प्रमाण
वसुणंदिणा णिबद्धं वित्थयरियव्वं वियड्ढेहिं ।। वसुनन्दि श्रावकाचार: गाथा-५४६।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनकी प्रमुख कृति 'उवासयज्झयण' प्राचीन काल से काफी लोकप्रिय रही है। सागारधर्मामृत के रचयिता पण्डित आशाधर जी (विक्रम की १३ वीं शती) ने अपने ग्रन्थ की टीका में वसुनन्दि के इस 'उवासयज्झयण' की चार गाथायें बड़े ही आदरोल्लेख के साथ उद्धतृ की हैं। वसुनन्दि ने अपने इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में कहा है कि जिन्होंने भव्य जीवों के लिए श्रावक और मुनि (सागार और अनगार) धर्म का उपदेश दिया है, ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके, मैं (वसुनन्दि) श्रावकधर्म का प्रतिपादन करता हूँ। यथा—

सायारो णायारो भवियाणं जेण देसिओ धम्मो ।
णमिऊण तं जिणिंदं सावयधम्मं परूवेमो ।।२।।

आगे कहा है कि 'विपुलाचल पर्वत पर इन्द्रभूति ने श्रेणिक को जिस प्रकार से श्रावकधर्म का उपदेश दिया है, उसी प्रकार गुरू परम्परा से कहे जाने वाले श्रावकधर्म को सुनो।[१] इसके आगे श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं (स्थानों) का विवेचन किया है।[२] और प्राय: इन्हीं को आधार बनाकर ही श्रावकधर्म का यही प्रतिपादन किया है। प्रतिमाओं आदि का जो प्रतिपादन यहाँ जिस विशेषता से किया है, वैसा दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में पूर्ण रूप में नहीं मिलता, किन्तु इसके कुछ विषयों का विवेचन तो सीधे आगमिक परम्परा के समान है, विशेषकर अर्द्धमागधी के उपासगदसाओ के समान। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित अनेक विषयों में—ध्यान का स्वरूप, जिनपूजा, जिनबिम्ब, प्रतिष्ठा, व्रतों का विधान, दान के पांच अधिकार आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त इनकी महत्वपूर्ण कृतियों में प्रतिष्ठासारसंग्रह, मूलाचार की आचारवृत्ति, आप्तमीमांसा वृत्ति तथा जिनशतक टीका उपलब्ध हैं। ये सभी संस्कृत भाषा में रचित हैं।

इनके साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इन्होंने प्राचीन सैद्धान्तिक परम्पराओं को जीवित रखने का प्राणप्रण से प्रयत्न किया, इसीलिए इनके नाम के साथ सैद्धान्तिक विशेषण भी प्रसिद्ध है।

११. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती

विक्रम की ११वीं शती के सुप्रसिद्ध जैन सिद्धान्तवेत्ता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती गंगवंशीय राजा राचमल्ल के प्रधानमंत्री एवं सेनापति

---

१. उवासयण्ज्झयणं गाथा३.

२. दंसण-वय-सामाइयं-पोसह-सचित्त-राइभत्ते य ।
बंभारंभ-परिग्गह-अणुमण उद्दिट्ठ-देसविरयम्मि ।।४।।
एयारस ठाणाइं..... ।।५।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चामुण्डराय के गुरु थे। जिस तरह चक्रवर्ती अपने चक्ररत्न से भारतवर्ष के छह खण्डों को बिना किसी विघ्न-बाधा के अपने अधीन कर लेता है, उसी तरह इन्होंने अपने बुद्धिबल रूपी चक्र से जीवस्थान, क्षुद्रकबंध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबंध इन छह खण्डों में विभक्त षट्खण्ड रूप षट्खण्डागम नामक सिद्धान्तशास्त्र को गोम्मटसार नामक ग्रन्थ में सम्यक् रूप से साधा है। यथा—

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण ।
तह मइ-चक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ।।
–गोम्मटसार कर्मकाण्ड. गाथा ३९७।

इस तरह इन्होंने षट्खण्डागम एवं इसकी धवला टीका रूप सिद्धान्त शास्त्र का मंथनकर शौरसेनी प्राकृत में गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना की तथा कसायपाहुड सुत्त एवं इसकी जयधवला टीका का मंथनकर लब्धिसार नामक ग्रन्थ की रचना की।

आ. नेमिचन्द्र देशीयगण के आचार्य हैं। इन्होंने अभयनंदि, वीरनंदि और इन्द्रनन्दि को अपना गुरु बतलाया है।[१]

विद्वानों ने गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों के कर्ता और द्रव्यसंग्रह के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव अलग-अलग समयों के दो भिन्न आचार्य माने हैं, किन्तु दोनों को कुछ विद्वान् भ्रमवश एक मान लेते हैं। जबकि दोनों अलग-अलग नाम से प्रसिद्ध है। अत: गोम्मटसार के कर्ता आ.नेमिचंद सिद्धान्त चक्रवर्ती के रूप में प्रसिद्ध हैं, जबकि द्रव्यसंग्रह के कर्ता इनसे भिन्न 'मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव' इस नाम से प्रसिद्ध हैं।

साहित्य सृजन–

गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, और क्षपणासार-ये इनकी प्रमुख श्रेष्ठ सैद्धान्तिक कृतियां हैं। ये सभी शौरसेनी प्राकृत में रचित हैं।

संक्षेप में इनके द्वारा सृजित साहित्य का परिचय इस प्रकार है—

१. गोम्मटसार–

'गोम्मट' यह चामुण्डराय का घर में बोला जाने वाला नाम था। अत: चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) में विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थापित की

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४३६ एवं ७८५, लब्धिसार गाथा ६४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गई ५७ फुट ऊँची बाहुबलि स्वामी की भव्य एवं विशाल मूर्ति गोमटेश्वर (चामुण्डराय का देवता) नाम से विख्यात हुई। तथा गोम्मट उपनामधारी इन्हीं चामुण्डराय के लिए नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार नामक ग्रन्थ की रचना की।

यह ग्रन्थ जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड— इन दो भागों में विभक्त है, जिसमें क्रमशः ७३४ और ९६२ गाथायें हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया है कि गोम्मटसार षट्खण्डागम की परम्परा तथा उसी के विषयों का संक्षेप में विवेचन करने वाला ग्रन्थरत्न है। इसके प्रथम जीवकाण्ड में महाकर्म प्राभृत के सिद्धान्त सम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रकबंध, बन्धस्वामित्व, वेदना और वर्गणा-इन पाँच खण्डों के विषयों का वर्णन है। और गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग आदि बीस प्ररूपणाओं में जीव की अनेक अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है।

इस ग्रन्थ के द्वितीय कर्मकाण्ड खण्ड में प्रकृतिसमुत्कीर्तन, बन्धोदयसत्त्व, सत्त्वस्थानभंग, त्रिचूलिका, स्थानसमुत्कीर्तन, प्रत्यय भावचूलिका, त्रिकरणचूलिका, और कर्मस्थितिबंध—इन नौ अधिकारों का विवेचन है। गोम्मटसार पर अनेक आचार्यों की विभिन्न टीकायें उपलब्ध हैं।[१]

२. त्रिलोकसार–

यह १०१८ गाथाओं में निबद्ध करणानुयोग का ग्रन्थ है। यह चामुण्डराय के प्रतिबोध के लिए लिखा गया था। यह ग्रन्थ यतिवृषभाचार्य कृत तिलोयपण्यत्ति तथा आ. अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थवार्तिक के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है।

इसमें लोक—भवन, व्यंतर, ज्योतिष, वैमानिक एवं मनुष्य (तिर्यक्)— इन लोकों का विशद् विवेचन है।

३. लब्धिसार

क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण—ये सम्यदग्दर्शन की प्राप्ति में साधनभूत इन पाँच लब्धियों का ६४९ गाथाओं में कथन करने वाला

---

१. गोम्मटसार पर जीवप्रदीपिका नामक स्वोपज्ञ वृत्ति, अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ति द्वारा लिखित मंदप्रबोधानी टीका, केशवर्णी द्वारा लिखित कन्नडवृत्ति तथा पं. टोडरमल विरचित सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका नामक विशाल टीका—इस तरह इस पर व्याख्या साहित्य उपलब्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह एक महनीय और बृहद् ग्रन्थ है। इसमें जीव को अनादि काल से बद्ध कर्मों से मुक्त होने का उपाय बतलाया गया है। इसमें दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि, और क्षायिक चारित्र-ये तीन अधिकार हैं।

४. क्षपणासार–

यह गोम्मटसार का उत्तरार्ध जैसा है। इसमें ६५३ गाथायें हैं। कर्मों के क्षय करने की विधि का इसमें विशद और सांगोपांग निरूपण है।

१२. सिद्धान्तिदेव मुनि नेमिचन्द्र और उनकी द्रव्यसंग्रह–

सिद्धान्तिदेव नेमिचंद मुनि द्वारा लिखित दव्वसंगहो (द्रव्यसंग्रह) नामक ५८ गाथाओं वाला लघु ग्रन्थ 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करता है। इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा कर्म, तत्त्व, ध्यान आदि विविध विषयों का अच्छा विवेचन है। जिस तरह इसमें जैन-धर्म-दर्शन के प्रमुख तत्त्वों को सारगर्भित, सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसी कारण यह जैन सिद्धान्त का प्रतिनिधि और लोकप्रिय लघुग्रन्थ है। इस पर अनेक टीका ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

शौरसेनी साहित्य के अन्य आचार्य—

इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत साहित्य के उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त अनेक आचार्यों द्वारा रचित ऐसे ग्रन्थ भी हैं, जिनके लेखक का नाम अज्ञात है। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में '**पंचसंग्रह**' प्रमुख है। पंचसंग्रह नामक यह विशाल ग्रन्थ जीवसमास, प्रकृतिस्तव, कर्मबन्धस्तव, शतक और सत्तरा- इन पांच प्रकरणों में विभक्त है। इसमें ४४५ मूल गाथायें, ८६४ भाष्य गाथायें, इस प्रकार कुल १३०९ गाथायें हैं। इसका काफी अंश प्राकृत गद्य में भी है। इसी के आधार पर आचार्य अमितगति (११वीं शती) ने संस्कृत पञ्चसंग्रह की रचना की।

शौरसेनी प्राकृत के अन्य जिन आचार्यों की कृतियाँ उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं, उनमें पद्मनन्दि मुनि (११वी शतीं) द्वारा विरचित जंबुद्दीवपण्णत्तिसंग्रहो (२३८९गाथायें) तथा धम्मरसायण १९३गाथायें, देवसेनसूरी (१०वी शतीं) द्वारा लिखित लघुनयचक्र, आराधनासार (११५गाथायें), दर्शनसार (५१गाथायें), भावसंग्रह (७०१गाथायें) तथा तत्त्वसार (७४गाथायें), माइल्ल-धवल कृत दव्वसहावपयास (द्रव्यस्वभावप्रकाश—बृहद् नयचक्र) (४२३गाथायें), पद्मसिंह मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ई.१०२९) कृत णाणसारो (६३गाथायें), ब्रह्मचारी हेमचन्द्र कृत श्रुतस्कन्ध (९४गाथायें), इन्द्रनन्दि कृत छेदपिण्ड (३६२गाथायें), आचार्य शिवशर्म (११वीं शती के आसपास) कृत 'कम्मपयडि', श्रुतमुनि (१७वीं शती) कृत भावत्रिभंगी एवं आस्रवत्रिभंगी आदि प्रमुख हैं।

इनके अतिरिक्त सारसमय, लोकविनिश्चय तथा लोक विभाग जैसे अनेक ग्रन्थों का उपलब्ध साहित्य में नामोल्लेख मात्र तो मिलता है, किन्तु वर्तमान में ये अनुपलब्ध हैं।

नाट्य साहित्य और शौरसेनी प्राकृत—

यहाँ हम शौरसेनी प्राकृत के आचार्यों के योगदान के प्रसंग में उन महान् नाटककारों को कैसे भूल सकते हैं, जिन्होंने अपनी नाट्य कृतियों में विभिन्न प्रकार की प्राकृतों के साथ शौरसेनी प्राकृत को मूल रूप में सुरक्षित रखने और बचाने में महनीय योगदान दिया।

आज जो प्राचीन संस्कृत नाटक उपलब्ध हैं, वस्तुत: उन्हें प्राकृत नाटक ही कहना चाहिए। क्योंकि उनमें संस्कृत की अपेक्षा विविध और अनेक पात्रों द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। इन नाटकों की प्रकृति मूलत: प्राकृत की ही है।

नाट्य शास्त्र के विधान के अनुसार नाटकों में राजा (नायक), ब्राह्मण, सेनापति, मंत्री और विद्वान् पात्र संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। स्त्रियाँ और शेष अन्य पात्र अर्थात् उपर्युक्त के अतिरिक्त प्राय: सभी पात्र प्राकृत भाषाओं का प्रयोग करते हैं। वस्तुत: जो पात्र जनता के बीच के होते हैं, जनता का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, उनके द्वारा जनभाषा या लोकभाषा के रूप में प्राकृत भाषा ही प्रयुक्त होती हैं। इस तरह शास्त्रीय विधान के अनुसार भी भाषा की दृष्टि से नाटकों में प्राकृत भाषा का ही सर्वाधिक प्रयोग मान्य है।

गंगा और यमुना के मध्यवर्गीय पुरुष-पात्र शौरसेनी का व्यवहार करते हैं। किरातों, बर्बरों आन्ध्रों एवं द्रविडों की भी शौरसेनी भाषा बतलायी गयी है।

अश्वघोष ऐसे प्रथम नाटककार हैं, जिनके नाटकों में मागधी, अर्धमागधी एवं शौरसेनी भाषा के प्राचीन रूप पाये जाते हैं। भास के १३ नाटक प्राप्त हैं। इनमें अविमारक और चारुदत्त - इन दो नाटकों में प्राकृत भाषा की इतना आधिक्य है कि इन्हें प्राकृत नाटक कहना ही उपयुक्त होगा। भास के सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाटकों में शौरसेनी भाषा का अच्छा व्यवहार हुआ है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का व्यवहार पाया जाता है। शूद्रक ने भी मृच्छकटिकम् नाटक में इस भाषा का प्रयोग यत्र-तत्र किया है।

इनके अतिरिक्त राजशेखर (१०वीं शदी) कृत कर्पूरमंजरी, नयचन्द्रसूरि (१४ वीं सदी) कृत रम्भामंजरी, महाकवि रुद्रदास (१७वीं सदी) कृत चन्द्रलेखा सट्टक, कवि घनश्याम (१८वीं सदी) कृत आणंदसुंदरी कहा, कवि विश्वेश्वर (१८वीं सदी) कृत श्रृंगार-मंजरी तथा तेरहवीं सदी के जैन नाटककार महाकवि हस्तिमल्ल कृत विक्रान्त कौरवम्, सुभद्रा नाटिका, अंजना-पवनंजय नाटक तथा मैथिलीकल्याण नाटक-इन संस्कृत नाटकों में विभिन्न प्राकृतों के साथ ही शौरसेनी प्राकृत का विशेष प्रयोग पाया जाता है। इस तरह शौरसेनी के विकास में नाट्य साहित्य का योगदान उल्लेखनीय है।

इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत भाषा के आचार्यों ने अपनी अनुपम कृतियों के माध्यम से भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि में अनुपम योगदान किया है। जिसका अनेक दृष्टियों से यथोचित मूल्याकंन, अध्ययन और अनुसंधान वर्तमान सन्दर्भों में अति आवश्यक है। आशा है इस बहुमूल्य अवदान के संरक्षण और विकास हेतु विद्वान् अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह अपना कार्य समझकर करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काशी और जैन श्रमण परम्परा

डॉ. सुरेशचन्द्र जैन
दर्शन विभागाध्यक्ष,
श्री स्याद्वादमहाविद्यालय, वाराणसी

काशी विश्व की प्राचीनतम धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रसिद्ध नगरी है। भारतीय संस्कृति की दो प्रमुख धाराओं ब्राह्मण परम्परा और श्रमणपरम्परा की दृष्टि से इस प्राचीन नगरी का महत्वपूर्ण स्थान है। जहाँ तक हिन्दूधर्म, जिसका मूलत: सम्बन्ध ब्राह्मण या वैदिक परम्परा से है, का और काशी का प्रश्न है तो अति प्राचीन काल में इसका अस्तित्त्व काशी में नहीं था। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ. मोतीचन्द्र जी का मत है "..... इतिहास से हमें पता चलता है कि हिन्दूधर्म से बनारस का सम्बन्ध बहुत बाद की घटना है, क्योंकि मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में तो काशी की साधारण सी चर्चा है। बौद्ध जातकों में वाराणसी की धार्मिक घटनाओं के बदले काशी की बहुत सी बातों पर प्रकाश डाला गया है। वास्तव में उस प्राचीन युग में काशी का सनातन आर्यधर्म से तो कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि काशी वासी धार्मिक कट्टरता के पक्षपाती न थे, दूसरी ओर वे विचार स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे तथा उस देश की मूल धाराओं का जिनमें शिव और यक्ष-नाग पूजा मुख्य थी, काशी में अधिक प्रचार था!"[१]

डॉ. मोतीचन्द्र ने काशी का इतिहास नामक पुस्तक में प्राचीन काशी का सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सर्वेक्षण कर जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं, वे जैन-बौद्ध साहित्य के आधार पर भी आधारित हैं।

जैन श्रमणपरम्परा, जिसका आदि स्रोत प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ या वृषभदेव से सम्बद्ध है। एक ओर ऋषभदेव इस परम्परा में आदिदेव के रूप में स्वीकृत हैं तो दूसरी ओर शिव को काशी का अधिष्ठातृ-देव माना जाता है। शिव को रामायण में

---

१. डॉ, मोती चन्द्र, काशी का इतिहास, पृष्ठ-१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महादेव, महेश्वर, शंकर तथा त्र्यम्बक के रूप में स्मरण किया गया हैं, तथा इन्हें सर्वोत्कृष्ट देव कहा गया है।[१] महाभारत में शिव को परमब्रह्म, असीम, अचिन्त्य, विश्वस्त्रष्टा, महाभूतों का एकमात्र उद्गम नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है।[२] अश्वघोष के बुद्धचरित में शिव का 'वृषभध्वज' तथा 'भव' के रूप में उल्लेख हुआ है।[३] विमलसूरि के 'पद्मचरित' के मंगलाचरण के प्रसंग में एक 'जिनेन्द्र रूद्राणक' का उल्लेख आया हैं, जिसमें भगवान का रुद्र के रूप में स्तवन हैं—

'जिनेन्द्र रुद्र पापरूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम लोभ एवं मोह रूपी त्रिपुर के दाहक हैं, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, संयमरूपी वृषभ पर वह आरूढ़ हैं, संसार रूपी करि (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धि चन्द्ररेखा से अलंकृत हैं, शुद्ध भाव रूपी कपाल से सम्पन्न हैं, व्रतरूपी स्थिर पर्वत कैलाश पर निवास करने वाले हैं, गुणगण रूपी मानव-मुण्डों के मालाधारी हैं, दसधर्म रूपी खट्वांग से युक्त हैं। तपः कीर्तिरुपी गौरी से मण्डित हैं, सात भयरूपी डमरू को बजाने वाले हैं, (सर्वथा भयरहित) मनोगुप्ति रूपी सर्वपरिकर से वेष्टित हैं, निरन्तर सत्यवाणी रूपी विकट जटा कलाप से मण्डित हैं तथा हुंकार मात्र से भय का विनाश करने वाले हैं।[४]

---

१. रामायण— बालकाण्ड-४५,२२-२६,६६,११-१२,६,१,१६,२७

२. महाभारत द्रोण—७४,५६,६१,१६९,२९ ३. बुद्ध चरित—१०,३,१,९३

४. पापान्धक निर्मश मकरध्वज लोभ मोहयुरम् ।
तपोभरं भूषितांगं जिनेन्द्र रुद्रं सदावन्दे ।।१।।
संयम वृषभारुढ़, तपडग्रमह तीक्ष्ण शूलधरम् ।
संसार करिनिदार, जिनेन्द्र रुद्रं सदावन्दे ।।२।।
विगलभति चन्द्ररेख विरचित सील शुद्धभावकयालम् ।
व्रतायल शैल निलयं जिनेन्द्र रुद्रं सदा वन्दे ।।३।।
गुणगण नरशिरमालं दशध्वजोड्भूत खट्वाङ्गभ ।
तपः कीर्ति गौररचितं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।।४।।
सप्तभयडाम डमरुकनद्यं अनावरत प्रकटसंदोहम् ।
मनोबद्ध सर्पपरिकरं जिनेन्द्र रुद्रं सदा वन्दे ।।५।।
अनवरत सत्य वाचा विकट जटा मुकुट कृत शोभम् ।
हुंकार भयविनाशं जिनेन्द्ररुद्रं सदावन्दे ।।६।।
ईशानशयनरचितं जिनेन्द्र रुद्राष्टकंललितं मे ।
भावं च यः पठति भावशुद्धस्तस्य भवेज्जगति संसिद्धिः ।।७।।
(आधार- डॉ. राजकुमार जैन, वृषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यतायें-अनेकान्त वर्ष १९ अंक १-२)
जिनेन्द्र रुद्राष्टक से आठ श्लोक होने चाहिए, परन्तु सात श्लोक ही मिलते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिवपुराण में शिव का आदितीर्थङ्कर वृषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख हैं।[१] आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी धवला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख करते हुए कहा है कि अरहन्त परमेष्ठी वे हैं— जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोहरूपी अंधकासुर के कबन्धवृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होनें सम्पूर्ण आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है और दुर्नय का अन्त कर दिया है।[२]

उक्त सन्दर्भों से यह तथ्य उद्भासित होता है कि वृषभदेव और शिव एक ही होना चाहिए। शैव परम्परा जहाँ शिव को त्रिशूलधारी मानती है, वहीं जैनपरम्परा में अर्हन्त की मूर्तियों को रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र के प्रतीकात्मक त्रिशूलांकित त्रिशूल से सम्पन्न माना जाता है। सिन्धुघाटी से प्राप्त मुद्राओं पर ऐसे योगियों की मूर्तियाँ अंकित है जो दिगम्बर हैं। ऐसी मूर्तियाँ जिनके सिर पर त्रिशूल है और कायोत्सर्ग (खड्गासन) मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं। कुछ मूर्तियाँ वृषभ चिन्ह से युक्त हैं। मूर्तियों के ये रूप योगी वृषभदेव से सम्बन्धित हैं।

जैनपरम्परा तथा उपनिषद् में भी भगवान वृषभदेव को आदिब्रह्मा कहा गया है।[३] भगवान वृषभदेव तथा शिव दोनों का जटाजूट युक्त रूप चित्रण भी उनके ऐक्य का समर्थक है।

इस प्रकार आदितीर्थङ्कर वृषभदेव और शिव के मध्य ऐक्य स्थापित हो जाने से स्वतः ही यह सिद्ध है कि काशी में श्रमण जैनपरम्परा के बीज प्रारम्भ से ही विद्यमान थे।

---

१. इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे ।
सतां गतिदीनि बन्धुर्नवमः कथितवस्तव ।।
ऋषभस्य चरित्रं हि परमं पावनं महत् ।
स्वर्ग्यं यशस्य मायुध्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ।। (शिवपुराण४, ४७-४८)

२. धवलाटीका—१ पृष्ठ ४५-४६

३. ब्रह्मदेवानां प्रथम संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोढा।
मुण्डकोपनिषद्-१,१

४. वाराणसीए पुडवी सुपइटठेहि सुपास देवो य ।
जेट्ठस्स सुक्कवार सिदिणम्मि जादो विसाहाय ।। तिलोयपण्णत्ति-४।५३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परम्परा के चौबीस तीर्थङ्करों में सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ,[४] आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ,[१] ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ[२] तथा तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ[३] के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान कल्याणकों की पृष्ठभूमि होने से काशी प्राचीन काल से आज तक जैन श्रमण परम्परानुयायियों के लिए श्रद्धास्पद रही है।

इतिहासज्ञों ने तीर्थङ्कार पार्श्वनाथ एवं महावीर की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है और स्वीकार किया है कि जैनधर्म की स्थिति बौद्ध धर्म से पूर्व की है। तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ एवं चन्द्रप्रभ के सन्दर्भ में परम्परागत उल्लेख मिलते हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इन्हें अप्रमाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि एक ओर श्रमण जैनपरम्परा का प्रारम्भ वृषभदेव से है तो दूसरी ओर वेदों में भी वातरशना,[४] व्रात्य[५] आदि के रूप में इस प्राचीन परम्परा का उल्लेख सर्वस्वीकृत है। पुरातत्त्वीय साक्ष्य भी, विशेषरूप से सिन्धुघाटी से प्राप्त अवशेष इस परम्परा के अनुयायियों के विषय में पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ–

परम्परागत उल्लेखों के अनुसार तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ काशी के तत्कालीन राजा अश्वसेन के पुत्र थे। माता का नाम वामा देवी था। अश्वसेन इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय थे। जैनसाहित्य में पार्श्वनाथ के पिता का नाम अश्वसेन या अस्ससेण मिलता है, किन्तु यह नाम न तो हिन्दू पुराणों में मिलता है और न जातकों में, गुणभद्र ने उत्तरपुराण में पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसेन दिया है। जातकों के विस्ससेण और हिन्दूपुराणों के विश्वक्सेन के साथ इसकी एकरुपता बनती है। डॉ. भण्डारकर ने पुराणों के विश्वकसेन और जातकों के विस्ससेण को एक माना है।[६]

---

१. चन्दपहो चन्दपुरे जादो महसेण लाच्छे मइ आहिं ।
पुस्सस्स किण्ह एयारसिठ अयुगह णक्खते ।। ति. प. ४.५३३

२. सीहपुरे सेयंसो विण्हु व्यरिदेण वेणुदेवीस ।
एक्कार सि. फग्गुण सिद पक्खे समणभेजादो ।। ति. प. ४।५३६

३. हयसेण वम्मिलाहिं जादो हि वाणरसीए पासजिणो ।
पूसस्स बहुल एक्कारसिस रिक्खे विसाहाए ।। ति. प. ४।५४८

४. मुनयो वातरशना पिशाङ्गा वसते मला:- ऋग्वेद-१०।३५।२।

५. व्रात्य आसीदीयमान एव य प्रजापति: समैरयत्—अर्थर्ववेद-१, प्रथमसूक्त

६. पं. बलभद्र जैन, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ—पृष्ठ१२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतिहासज्ञों ने पार्श्वनाथ का समय ई. पू.८७७ निश्चित किया हैं। ई. पू. ८७७ में काशी की तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिति का आकलन पार्श्वनाथ के जीवन एवं उनसे सम्बान्धित घटनाओं से प्राप्त किया जा सकता हैं— पार्श्व जन्म से ही आत्मोन्मुखी थे। उस समय यज्ञ-यागादि, पंचाग्नितप का प्राधान्य था। पार्श्व जीवन का यह प्रसंग कि उन्होंने गंगा किनारे तापस को अग्नि में लकड़ी डालने से रोका और कहा कि जिस लकड़ी को जलाने जा रहे हो उसमें नाग युगल हैं। इसे जलाने से रोको। तपस्वी के दुराग्रह को देख पुनः कहा कि तप के मूल में धर्म और धर्म के मूल में दया है वह आग में नागयुगल के जलने से कैसे सम्भव हो सकती हैं? इस पर तपस्वी क्रोधावेश में बोला 'तुम क्या धर्म को जानोगे? तुम्हारा कार्य तो मनोविनोद करना है। यदि तुम जानते हो तो बताओ कि इस लक्कड़ में नाग युगल कहाँ है?' यह सुनकर कुमार पार्श्व ने अपने साथियों से लक्कड़ को सावधानी पूर्वक दिखाया तो उसमें से नाग-युगल बाहर निकला।

उक्त घटना की सत्यता पर प्रश्न हो सकता है, परन्तु इतना निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि उस समय ऐसे तप का बाहुल्य था। पार्श्व और महावीर के काल में मात्र २५० वर्ष का अन्तराल है और महावीर ने यज्ञ-यागादि जन्य हिंसा का प्रबल विरोध किया था। यह अनुमान सहज है कि पार्श्व के समय जिस यज्ञ-यागादि को प्रधानता दी जाती थी वह महावीर के समय तक चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई होगी। इतना ही नहीं, इहलौकिक और पारलौकिक मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए यज्ञ-यागदि को जीवन का प्रमुख अंग माना जाना स्वीकृत हो चुका था। अश्वमेध यज्ञ भी काशी में सम्पन्न हुआ था, जिसकी स्मृति शेष 'दश-अश्वमेध घाट' आज भी विद्यमान है। यज्ञ यागादि और पंचाग्नि तप के विरुद्ध पार्श्वनाथ ने श्रमणपरम्परा के अनुसार अहिंसा आदि के माध्यम से जन सामान्य को सन्मार्ग पर लगाने का प्रयास किया था।

तीर्थङ्कर पार्श्व के समय को संक्रमण काल की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि वह समय ब्राह्मण युग के अन्त और औपनिषद् या वेदान्त युग का आरम्भ का समय था। जहाँ उस समय शतपथ ब्राह्मण जैसे ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रणयन हुआ वहाँ वृहदारण्यकोपनिषद् के द्वारा उपनिषदों की रचना का सूत्रपात हुआ था।[१] ऐसे समय में पार्श्व ने चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन किया। वह

---

१. पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहासः पूर्वपीठिका पृष्ठ १०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चातुर्याम धर्म (१) सर्वप्रकार के हिंसा का त्याग (२) सर्वप्रकार के असत्य का त्याग (३) सर्वप्रकार के अदत्तादान का त्याग (४) सर्वप्रकार के परिग्रह का त्याग रूप था। इन चार यामों का उद्‌गम वेदों या उपनिषदों से नहीं हुआ, किन्तु वेदों के पूर्व से ही इस देश में रहने वाले तपस्वी, ऋषि-मुनियों के तपो-धर्म से उनका उद्‌गम हुआ है।[१]

पार्श्वनाथ और नागजाति

पार्श्व द्वारा नाग-युगल की रक्षा की घटना को पुरातत्वज्ञ और इतिहासज्ञ पौराणिक रूपक के रूप में स्वीकार करते हुए यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पार्श्व के वंश का नागजाति के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध था। चूंकि पार्श्वनाथ ने नागों को विपत्ति से बचाया, अतः नागों ने उनके उपसर्ग का निवारण किया।

महाभारत के आदिपर्व में जो नागयज्ञ की कथा है उससे यह सूचना मिलती है कि वैदिक आर्य नागों के शत्रु थे। नागजाति असुरों की ही एक शाखा थी और असुरजाति की रीढ़ की हड्डी के तुल्य थी। उसके पतन के साथ ही असुरों का भी पतन हो गया।[२] जब नाग लोग गंगाघाटी में बसते थे तो एक नाग राजा के साथ काशी की राजकुमारी का विवाह हुआ था। अतः काशी के राजघराने के साथ नागों का कौटुम्बिक सम्बन्ध था।[३]

नागजाति एवं नागपूजा का इतिहास अभी तक स्पष्ट नहीं है। विद्वानों का अभिमत है कि नागजाति और उनके वीरों के शौर्य की स्मृति सुरक्षित करने के लिए नाग-पूजा का प्रचलन हुआ। पं. बलभद्र जैन ने भारत के दिगम्बर जैनतीर्थ नामक पुस्तक में नाग जाति एवं नाग पूजा को जैन श्रमण परम्परा के सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ के साथ सम्बन्ध जोड़ते हुए यह संकेत दिया हैं कि सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर नागफण का प्रचलन सम्भवतः इसीलिए हुआ कि नागजाति की पहचान हो सके। सर्पफणावली युक्त प्रतिमायें मथुरा आदि में प्राप्त हुई हैं। नागपूजा का प्रचलन पार्श्वनाथ की धरणेन्द्र पद्‌मावती द्वारा रक्षा के बाद में हुआ है। इसी प्रकार यक्ष पूजा का सम्बन्ध भी धरणेन्द्र पद्‌मावती से है।

द्वितीय शताब्दी में काशी में जैन श्रमणपरम्परा की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना का परम्परागत उल्लेख मिलता है—आचार्य समन्तभद्र जो जैन दार्शनिक

---

१. वही, पृष्ठ १०७ २. वही, पृष्ठ १०४ ३. वही पृष्ठ १०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत् के सिरमौर के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इन्हें मुनि अवस्था में भस्मक व्याधि रोग हो गया था। इस रोग के शमनार्थ अपने गुरू की आज्ञा से यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए योगी बनकर वाराणसी आए। उस समय शिवकोटि का शासनकाल था और राजा शिवकोटि ने एक शिवमन्दिर का निर्माण कराया था। उस मन्दिर में प्रचुर मात्रा में नैवेद्य चढ़ाया जाता था। स्वामी समन्तभद्र ने उस मंदिर के पुजारी से कहा कि आप लोगों में किसी में ऐसी सामर्थ्य नहीं है जो उस नैवेद्य को शिवजी को खिला सके। पुजारियों ने विस्मय से कहा-क्या आप ऐसा कर सकते हैं? उन्होंने कहा हाँ, यदि तुम चाहो तो मैं ऐसा कर सकता हूँ। पुजारी ने तत्काल राजा शिवकोटि को सभी वृत्तान्त कहा। राजा शिवकोटि तत्काल उस विचित्र योगी को देखने शिवालय आया और समन्तभद्र से पूछा कि क्या वास्तव में इस नैवेद्य को शिवजी को खिला सकते हैं। समन्तभद्र का सकारात्मक उत्तर पाकर राजा ने सहर्ष आज्ञा दे दी। समन्तभद्र ने कपाट बन्द कर भोजन किया और बाहर आ गए। सभी विस्मय एवं हर्ष से उस विचित्र योगी को देखने लगे।

क्रमशः नैवेद्य की मात्रा बढ़ती गई और कुछ दिनों में समन्तभद्र का रोग शमन हो गया तथा नैवेद्य बचने लगा। इस पर पुजारियों को शंका हुई और खोजबीन की। जब उन्हे ज्ञात हुआ कि शिव के स्थान पर यह योगी भोग लगा रहा है तो उन्होनें राजा से शिकायत की। राजा आया और समन्तभद्र से कहा कि हमें सब ज्ञात हो गया है। तुम्हारा धर्म क्या है? तुम सबके सामने शिव जी को नमस्कार करो। उत्तर में समन्तभद्र ने कहा-राजन्। इस मूर्ति में मेरा नमस्कार सहन करने की सामर्थ्य नहीं है। यदि आप आग्रह करेंगे तो मेरे नमस्कार करने पर यह मूर्ति फट जायगी। राजा ने निर्णय दिया कि यह योगी सबके सामने कल शिव जी को नमस्कार करेंगे।

रात्रि में समन्तभद्र तीर्थङ्करों की स्तुति करने लगे तभी शासन देवी प्रकट हुई और कहा कि आप चिन्ता न करें। प्रातः काल राजा और प्रजा के समक्ष समन्तभद्र को आज्ञा दी। समन्तभद्र ने तीर्थङ्करों की स्तुति प्रारम्भ की और जिस समय ८वें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ की स्तुति प्रारम्भ हुई उसी समय शिवमूर्ति फट गई और उसमें से तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ की दिव्य प्रतिमा प्रकट हुई और समन्तभद्र ने नमस्कार किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त घटना ब्रह्मनेमिदत्त के आराधना कोश में है। घटना से यह ध्वनित होता है कि द्वितीय शताब्दी में काशी में शिवालयों का बाहुल्य था और नए-नए शिवालयों का निर्माण हो रहा था। शैव मत का प्रचार-प्रसार था फिर भी अन्य धर्मों के साथ सहिष्णुता का भाव भी विद्यमान था। यदि ऐसा न होता तो धर्मान्धता के कारण समन्तभद्र को राजा कड़ी सजा दे सकता था। दूसरी बात यह सिद्ध होती है। कि वह युग शास्त्रार्थ-युग था। सम्भव है उक्त घटना का सम्बन्ध शास्त्रार्थ जय-पराजय से जुड़ा हो और परम्परानुसार उसे चमत्कारिक स्वरूप दे दिया गया हो, जो अनन्तरकाल में श्रद्धा के रूप में स्वीकार की जाने लगी हो क्योंकि आचार्य समन्दभद्र के विषय में निम्न श्लोक मिलता है जो उनकी वाग्विदग्धता पर प्रकाश डालता हैं।

"काञ्च्या नग्ननाटकोऽहं मलमलिनतनुलम्बिटो पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रेण्डे शाक्यभिक्षुदर्शपुरनगरे मिष्टभोजी परिवाट् ।।
वाराणस्यामवभूवं शशकरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी ।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः सवदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी ।।

अर्थात् मैं काञ्ची में नग्नदिगम्बर यति के रूप में रहा, शरीर में रोग होने पर पुण्ड्रनगरी में बौद्धभिक्षु बनकर निवास किया, दशपुर नगर में मिष्ठान्नभोगी परिव्राजक बनकर रहा। अनन्तर वाराणसी में आकर शैव तपस्वी बना। हे राजन्! मैं जैन निर्ग्रन्थवादी- स्याद्वादी हूँ। यहाँ जिसकी शक्ति वाद करने की हो वह मेरे सम्मुख आकर वाद करे।

पुरातत्व एवं जैन श्रमणपरम्परा

भारत कला भवन, का. हि. वि. वि. में पुरातत्व सम्बन्धी बहुमूल्य सामग्री सुरक्षित हैं, जो राजघाट एवं अन्य स्थानों से खुदाई से प्राप्त हुई हैं। उनमें पाषाण और धातु की अनेक जैन प्रतिमायें हैं, जिन्हें पुरातत्वविद् कुषाण काल से मध्यकाल तक की मानते हैं।

उक्त पुरातात्त्विक सामग्रियों में कुषाणकालीन सप्त फणावलि युक्त तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का शीर्षभाग है, जो उत्खनन में प्राप्त हुआ था। राजघाट के उत्खनन से प्राप्त सप्त फणावलि एक तीर्थङ्कर प्रतिमा हैं, उस फणावलि के दो फण खण्डित हो गए हैं। सिर के अगल-बगल दो गज बने हुए हैं। उनके ऊपर देवेन्द्र हाथों में कलश-धारण किए हुए है। फणावली के ऊपर भेरी ताड़न करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ एक व्यक्ति का अंकन है। यह मूर्त्ति ११वीं शताब्दी की अनुमानित की गई है। पंचफणावलि से यह सुपार्श्वनाथ की मूर्ति प्रतीत होती है।

एक खड्गासन प्रतिमा, जिसके दोनों ओर यक्ष-यक्षी खड़े हैं। वत्स पर श्रीवत्स अंकित हैं। इस प्रतिमा पर कोई चिन्ह नहीं है तथा अंलकरण भी नहीं है। इन कारणों से इसे प्रथम शताब्दी में निर्मित माना जाता है।

एक शिलाफलक पर चौबीसी अंकित है। मध्य में पद्मासन ऋषभदेव का अंकन है। केशों की लटें कन्धों पर लहरा रही हैं। पादपीठ पर वृषभ चिन्ह अंकित है। दोनों पार्श्वों में शासन देव चक्रेश्वरी और गोमुख का अंकन है। दोनों द्विभुजी और अलंकरण धारण किए हुए हैं। चक्रेश्वरी के एक हाथ में चक्र तथा दूसरे में बिजौरा हैं। मूर्ति के मस्तक पर त्रिछत्र और दोनों ओर सवाहन गज हैं। त्रिछत्र के ऊपर दो पक्तियों में पद्मासन ओर कायोत्सर्ग मुद्रा में २३ तीर्थङ्कर मूर्तियाँ हैं। पीठिका के नीचे की ओर उपासकों का अंकन किया गया है। उसका समय ११वीं शताब्दी अनुमानित किया गया है।[२०]

उक्त पुरातत्त्व की सामग्रियों के अतिरिक्त भेलूपुर स्थित दिगम्बर जैन मन्दिर का पुनर्निर्माण जीर्णोद्धार कराते समय अनेक मूर्तियाँ भूगर्भ से प्राप्त हुई हैं। अज्ञानतावश अनेक मूर्तियाँ खण्डित हो गई और अनेक मूर्तियाँ भूगर्भ में ही रह गई।

इस प्रकार पुरातत्त्व की प्रचुर उपलब्धता इस ओर संकेत करती है कि काशी की जैन श्रमणपरम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन है। आज की 'मुड़कट्टा बाबा' के नाम से विख्यात जो मूर्ति अवशेष हैं, वह एक कायोत्सर्ग मुद्रा में खण्डित दिगम्बर जैन मूर्ति है। यह मूर्ति दुर्गाकुण्ड भेलूपुरमार्ग पर मुख्य सड़क पर स्थित हैं। बांस फाटक, जिसे आचार्य समन्तभद्र की उस चमत्कारिक घटना के रूप में जैनानुयायिओं द्वारा स्मरण किया जाता है।

सारनाथ

भगवान् बुद्ध की प्रथम उपदेश-स्थली के रूप में प्रसिद्ध यह स्थल जैन परम्परा के ११वें तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ के जन्मस्थली के रूप में सम्बद्ध है। इसका पूर्वनाम सिंहपुरी था। जैनमदिर के निकट एक स्तूप है, जिसकी ऊँचाई १०३फुट और मध्य में व्यास ८३फुट है। इसका निर्माण सम्राट अशोक द्वारा कराया गया

---

२०. पं. बलभद्र जैन, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ पृष्ठ १२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना जाता है, परन्तु जैन परम्परा मानती है कि इसका निर्माण श्रेयांसनाथ की जन्मनगरी होने के कारण सम्राट सम्प्रति ने कराया होगा। स्तूप के ठीक सामने सिंह है जिसके दोनों स्तम्भों पर सिंह चतुष्क बना है। सिंहों के नीचे धर्मचक्र है, जिसके दायीं ओर वृषभ और घोड़े की मूर्तियों का अकंन है।

भारत सरकार ने इस स्तम्भ की सिंहस्तम्भ को राजचिन्ह के रुप में स्वीकार किया है और धर्मचक्र को राष्ट्र-ध्वज पर अंकित किया है। जैन मान्यतानुसार प्रत्येक तीर्थङ्कर का एक विशेष चिह्न होना स्वीकार किया जाता हैं, जिसे प्रत्येक तीर्थङ्कर प्रतिमा पर अंकित किया जाता हैं। चित्रांकित प्रतिमा से यह ज्ञात होता है कि यह अमुक तीर्थङ्कर की प्रतिमा है। वे चिह्न मांगलिक कार्यो और मांगलिक वास्तुविधानों के मंगल चिन्ह के रूप में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक चिन्ह है, जिसे प्राय: सम्पूर्ण भारत में जैन ही नहीं ,वरन् जैनेतर सम्प्रदायों द्वारा समस्त मांगलिक अवसरों पर प्रयोग किया जाता है। सिंह महावीर का चिन्ह है। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का वृषभ और अश्व तृतीय तीर्थङ्कर सम्भवनाथ का चिन्ह है। इसी प्रकार धर्मचक्र तीर्थङ्करों और उनके समवसरण का एक आवश्यक अंग है। तीर्थङ्कर केवलज्ञान के पश्चात् जो प्रथम देशना होती है उसे धर्मचक्र प्रवर्तन की संज्ञा दी गई हैं। यही कारण है कि प्राय: सभी प्रतिमाओं के सिंहासनों और वेदियों में धर्मचक्र बना रहता हैं।

जैन शास्त्रों में स्तूप के सन्दर्भ में विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। जैन वाङ्मय में स्तूपों के १० भेद बताये गए हैं। सारनाथ स्थित जो स्तूप है वह प्रियदर्शी सम्राट सम्प्रति का हो सकता है क्योंकि प्रथमत: यह स्थान श्रेयांसनाथ तीर्थङ्कर की कल्याणक भूमि है। द्वितीयत: 'देवानां प्रिय:' यह जैन परम्परा का शब्द है। जैन सूत्रसाहित्य में कई स्थानों पर इसका प्रयोग किया गया है। इसका प्रयोग 'भव्य श्रावक' आदि के अर्थ में हुआ है। अथर्ववेद में भी इस शब्द का प्रयोग सभ्य लोगों के लिए किया गया है। पुरातत्त्वज्ञ सम्भवत: इन्हीं कारणों से इस सन्देह को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"सम्भवत: यह स्तूप सम्राट अशोक द्वारा निर्मित हुआ।"

चन्द्रपुरी (चन्द्रावती)

काशी से २०कि.मी. दूर यह स्थान ८वें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ के जन्मस्थान से सम्बन्धित हैं। इस सन्दर्भ में परम्परागत स्रोत ही उपलब्ध होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त आधार पर जैन श्रमण परम्परा के उत्स और उसके व्यापक प्रभाव क्षेत्र का ज्ञान होता है। काशी के सन्दर्भ में यह विशेष है कि अन्य परम्पराओं के साथ-साथ श्रमण जैन परम्परा के स्मृति-अवशेष, पुरातत्त्व, जैनपरम्परा की प्राचीनता एवं उसकी व्यापकता के दिग्दर्शन कराते हैं। आज भारत में कहीं भी उत्खनन होता है तो उनमें से प्राप्त होने वाली सामग्रियों में से इस परम्परा के तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। इतना ही नहीं, प्राचीन भारत के तद् तद् स्थानों पर आज भी जैन अवशेष प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। अभिप्राय यह कि वृषभनाथ (ऋषभनाथ) एवं शिव का ऐक्य, तथा २४ तीर्थङ्करों की अक्षुण्ण परम्परा और साहित्यिक, दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में काशी के साथ जैन परम्परा का आदिकाल से अस्तित्व रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का अवदान सर्वाधिक प्रभावशाली रहा है। इस दृष्टि से काशी गौरवान्वित थी और वर्तमान में भी है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूल्लधम्मपालाचरियविरचितो

सच्चसङ्खेपो

सम्पादको टिप्पणीकारो च

आचरियो लक्ष्मीनारायणतिवारी

पुब्बपधानो

पालि-थेरवादविभागस्स

पुब्बसङ्कायपमुखो च

'श्रमणविद्या-संकाय'स्स

'सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये'

बाराणसियं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

अनन्तञाणं करुणालयं लयं
मलस्स बुद्धं सुसमाहितं हितं।
नमामि धम्मं भवसंवरं वरं
गुणाकरं चेव निरङ्गणं गणं।।
कस्सपं च महाथेरं जगदीसं ति विस्सुतं।
नमामि सन्तवुत्तिं तं गरुं गारवभाजनं।।

प्रस्तुत ग्रन्थ सच्चसङ्क्षेप अभिधर्म के सिद्धान्तों को संक्षिप्त रूप में प्रकट करनेवाला एक लघु ग्रन्थ है। अट्ठकथाओं के विद्यमान रहते हुए भी अभिधर्म के सिद्धान्त अध्येताओं के लिए कालान्तर में इतने दुरूह हो गये कि उन्हें हृदयङ्गम करने में कठिनाई होने लगी। अतः इसे दूर करने के लिए अवतार, सङ्क्षेप और संग्रह के रूप में स्वतन्त्र ग्रन्थों की आचार्यों द्वारा रचना हुई और इसी क्रम में अभिधम्मावतार, सच्चसङ्क्षेप तथा अभिधम्मत्थसङ्गह आदि ग्रन्थ लिखे गये। इससे अभिधर्म-रूपी महाकान्तार में प्रवेश अथवा अभिधर्म-रूपी महोदधि को पार करने में सुगमता दृष्टिगोचर हुई तथा अभिधर्मपिटक के मूल ग्रन्थों के स्थान पर बाद में आचार्यों द्वारा रचे गये ऐसे ही ग्रन्थों का पठन-पाठन प्रचलित हुआ।

अभिधर्मपिटक का बुद्धवचनत्व

स्थविरवादी अभिधम्मपिटक

बुद्धशासन की आधारशिला बुद्धवचन अथवा परियत्ति है। अतः सद्धर्म की चिरस्थिति इसी पर आधारित है। यह भी विशेष रूप से ध्यातव्य है कि भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तत्काल बाद ही बुद्धवचनों के संग्रह का संकल्प महास्थविर महाकाश्यप द्वारा लिया गया। जब शास्ता के परिनिर्वाण से दुःखी होकर अवीत-राग भिक्षु अत्यन्त शोकमग्न होकर विलाप आदि कर रहे थे तो सुभद्र नामक एक वृद्ध प्रव्रजित ने यह कहा—"आयुष्मानों, मत शोक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करो, मत विलाप करो। हम लोगों को उस महाश्रमण से मुक्ति मिली। हम उसके द्वारा यह कहकर सदा पीड़ित किये जाते थे कि यह तुम्हें विहित है, यह तुम्हें विहित नहीं है। अब हम जो चाहेंगे करेंगे, जो नहीं चाहेंगे, वह नहीं करेंगे''[१]। सुभद्र के इन वचनों को सुनकर महाकाश्यप चिन्तित हुए। उन्होंने कहा कि अधर्म और अविनय प्रकट हो रहा है और धर्म तथा विनय की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि इनका सङ्गायन कर लिया जाय। इससे बौद्ध-शासन की चिरस्थिति होगी। ज्ञप्ति के द्वारा इस कार्य हेतु राजगृह को चुना गया और वहीं पर वर्षावास करते हुए धर्म तथा विनय के सङ्गायन का निश्चय किया गया। इसके लिए एक कम पाँच सौ अर्हत् पद प्राप्त भिक्षुओं का चयन हुआ। यद्यपि आनन्द स्थविर शैक्ष्य थे, किन्तु सर्वदा ही बुद्ध का अनुगमन करने के कारण उनके उपदेशों से वे सुपरिचित थे; अत: इस कार्य के लिए इन्हें भी चुन लिया गया। यह भी ज्ञप्ति द्वारा निश्चित हुआ कि इन पाँच सौ भिक्षुओं के अतिरिक्त राजगृह में कोई अन्य भिक्षु वर्षावास नहीं करेगा, जिससे सङ्गायन का कार्य निर्विघ्न रूप में सम्पन्न किया जा सके[२]।

यह प्रथम सङ्गीति महाकाश्यप की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुई। बुद्धशासन की आयु विनय है, अत: सर्वप्रथम विनय-सम्बन्धी उपदेशों के बारे में उपालि से पूछा गया और उपालि ने विस्तार से उन्हें सूचित किया; तथा धर्म (धम्म) अर्थात् सुत्तों के सन्दर्भ में आनन्द से पृच्छा की गयी और उन्होंने भी विस्तार से सुत्तों को प्रस्तुत किया। उपस्थित सम्पूर्ण भिक्षु-समूह ने इन दोनों से सुनकर विनय तथा सुत्त का सङ्गायन किया और विनयपिटक तथा सुत्तपिटक स्थिति में आये। सुत्तपिटक का निकायों के रूप में भी इसी समय सङ्गायन हुआ। परम्परा के अनुसार इसमें अभिधम्मपिटक के सात ग्रन्थों का भी सङ्गायन हुआ[३]; किन्तु अट्ठकथाओं में यह विवरण प्राप्त नहीं है कि अभिधम्म-सम्बन्धी पृच्छा किससे की गयी। साधारण रूप से अभिधर्म को भी धम्म के अन्तर्गत मानकर खुद्दकनिकाय में ही परम्परया अभिधर्मपिटक का भी समावेश कर लिया जाता है और निकाय के रूप में बुद्धवचनों के स्वरूप में विनयपिटक को भी स्थविरवादी परम्परा खुद्धकनिकाय में संगृहीत मानती है[४]। किन्तु परम्परा में यह

---

१. दी०नि०२, पृ०१२५, नालन्दा संस्करण, १९५८; चुल्लवग्ग, पृ० ४०६, नालन्दा संस्करण, १९५६।

२. सुमङ्गलविसालिनी, १, पृ० ५-६, रोमन संस्करण, १८८६।

३. वहीं, पृ० १५।

४. वहीं, पृ० २३; समन्तपासादिका १, पृ० १६, नालन्दा संस्करण, १९६४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि विनयपिटक को उपालि ने सविस्तार प्रस्तुत किया था, किन्तु अभिधम्म को किसने वहाँ रखा, यह विवरण नहीं मिलता; केवल धम्म के उपस्थापन के प्रश्न के प्रसङ्ग में अङ्गुत्तरनिकाय के पश्चात् अभिधम्म के सङ्गायन की बात वहाँ कही गयी है और इसे सूक्ष्मज्ञानगोचर तन्ति के नाम से अभिहित किया गया है तथा यह किसके द्वारा वहाँ प्रस्तुत किया गया, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यदि खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत धम्म के रूप में अभिधम्म का संग्रह प्रथम सङ्गीति में मान भी लिया जाय तो विनयपिटक को उपालि द्वारा प्रस्तुत होने पर भी खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत इसे रखने का क्या औचित्य होगा। परम्परा में तो इसका यह उत्तर दे दिया जाता है कि चारों अन्य निकायों में जो बुद्धवचन संगृहीत हैं उनके अतिरिक्त अवशिष्ट बुद्धवचन खुद्दनिकाय में संगृहीत हैं तथा वहाँ पर जो विनयपिटक को निकाय के रूप में रखा जाता है, उसे उपालि ने प्रस्तुत किया था और शेष खुद्दकनिकाय और अन्य चारों निकायों को आनन्द ने। समन्तपासादिका में यह उल्लिखित है— "तत्थ खुद्दकनिकायो नाम चत्तारो निकाये ठपेत्वा अवसेसं बुद्धवचनं। तत्थ विनयो आयस्मता उपालित्थेरेन विस्सज्जितो, सेसखुद्दकनिकायो चत्तारो च निकाया आनन्दत्थेरेन"[१]। इससे प्रथम सङ्गीति में अभिधम्म को प्रस्तुत करनेवाले आनन्द ही हो जाते हैं; किन्तु धम्मसङ्गणि की अट्ठकथा अट्ठसालिनी में अभिधम्म की देशना की परम्परा का दूसरे प्रकार से उल्लेख आचार्य बुद्धघोष द्वारा किया गया है[२], और यह उल्लेख प्रथम सङ्गीति में उन्हीं के द्वारा दीघनिकाय की अट्ठकथा सुमङ्गलविलासिनी और विनयट्ठकथा समन्तपासादिका में प्रदत्त विवरणों से भिन्न होने के कारण प्रथम सङ्गीति में ही अभिधम्म के सङ्गायन के प्रति सन्देह उत्पन्न करता है।

द्वितीय सङ्गीति भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के १०० वर्ष के बाद वैशाली में हुई। यद्यपि इसका आयोजन संघ में वज्जिपुत्तक भिक्षुओं द्वारा दस वस्तुओं के विनय-विरुद्ध आचरण को समाप्त करने के लिए हुआ[३], तथापि समन्तपासादिका में प्राप्त इसके विवरणानुसार दस वस्तुओं के निराकरण के पश्चात् इसमें भी प्रथम सङ्गीति के समान सम्पूर्ण धम्म तथा विनय का सङ्गायन भिक्षुओं द्वारा किया गया[४]। वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने इस द्वितीय सङ्गीति में हुए निर्णयों को अमान्य करते हुए दस सहस्र भिक्षुओं की महासङ्गीति अथवा

---

१. वहीं।
२. अट्ठ०, पृ० १४-१५।
३. चुल्लवग्ग, पृ० ४१६।
४. समन्तपासादिका १, पृ० ३०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासंघ का आयोजन कौशाम्बी में किया तथा दीपवंस ग्रन्थ में प्राप्त विवरणानुसार इस महासङ्गीति के भिक्षुओं ने बुद्ध-शासन को विपरीत करते हुए मूलसंघ में भेद उत्पन्न कर एक नये संघ की ही स्थापना कर डाली एवं मूलसंघ को भिन्दित कर सूत्रों का एक नवीन संग्रह प्रस्तुत कर दिया। उस समय स्थित विनय और पाँच निकायों के सूत्रों के क्रम को उन्होंने बदल दिया तथा उनमें अपने द्वारा रचित सन्दर्भों को जोड़ दिया[१]।

इस प्रकार उस समय स्थविरवादी और महासांघिक—ये दो निकाय स्थिति में आये तथा आगे चलकर बौद्ध-संघ १८ निकायों में विभाजित हो गया। कथावत्थु की अट्ठकथा में इन १८ निकायों के अतिरिक्त ९ और निकायों के नाम भी उपलब्ध होते है[२]। वसुमित्र, भव्य एवं विनीतदेव आदि के द्वारा प्रस्तुत एक अन्य परम्परा के अनुसार यह संघभेद विनय-विरुद्ध दस वस्तुओं के आधार पर न होकर महादेव द्वारा प्रस्तुत पाँच वस्तुओं के कारण हुआ था[३]।

तृतीय सङ्गीति सम्राट् अशोक के संरक्षत्व में पाटलिपुत्र में हुई। उस समय अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को आश्रय प्रदान करने के कारण अन्य तैर्थिक भी संघ में लाभ हेतु प्रविष्ट हो गये थे और वे नाना प्रकार के अपने मतवादों और भिन्न प्रकार के आचरणों से संघ को दूषित कर रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सात वर्षों तक पाटलिपुत्र के अशोकाराम में उपोसथ भी नहीं हो पाया। मोग्गलिपुत्त तिस्स स्थविर से परामर्श कर संघ में छिपकर प्रविष्ट साठ सहस्र तैर्थिकों को अशोक ने संघ से निष्कासित कर दिया और तृतीय संगीति का पाटलिपुत्र में ही आयोजन किया गया[४]। अट्ठसालिनी नामक अट्ठकथा में कथावत्थु नामक अभिधम्मपिटक के ग्रन्थ के बुद्धवचन होने के बारे में यह पूर्वपक्ष दिया गया है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के २१८ वर्ष पश्चात् जब इसकी रचना मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा हुई थी तो इसे क्यों बुद्धवचन माना जाता है[५]।

---

१. दीपवंस पृ० ३६, रोमन संस्करण, १८७९ :
"महासङ्गीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासनं।
भिन्दित्वा मूलसङ्घं अञ्ञं अकंसु सङ्घं।।
अञ्ञथा सङ्गहितं सुत्तं ञ्ञथा अकरिंसु ते।
अत्थं धम्मं च भिन्दिंसु ये निकायेसु पञ्चसु"।

२. कथा०अ०, पृ० २-५, रोमन संस्करण, १८८९।

३. पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० १७७-१८०, १९७६।

४. समन्तपासादिका १, पृ० ४६-५३।

५. अट्ठ०, पृ० ४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे यह ज्ञात होता है कि अट्ठसालिनी के रचयिता बुद्धघोष के समय तक अभिधम्मपिटक को बुद्धवचन मानने के विषय में लोगों को सन्देह था और आज जिस रूप में कथावत्थु उपलब्ध है, वह तो बुद्धभाषित न होकर आचार्यभाषित ही है। इसका उत्तर बुद्धघोष ने उक्त ग्रन्थ में यह दिया हैं कि अभिधर्म की देशना करते हुए बुद्ध ने केवल इसकी मातृकाओं की देशना की थी और कहा था कि मेरे परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद मोग्गलिपुत्त तिस्स परवाद का खण्डन करते हुए और स्थविरवाद का मण्डन प्रस्तुत करते हुए इन मातृकाओं का व्याख्यान करेंगे। इस प्रकार उनका यह व्याख्यान अपना न होकर शास्ता द्वारा प्रदर्शित नयानुसार ही है[१]। अत: शास्ता द्वारा स्थापित मातृकाओं के आधार पर होने के कारण आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा भाषित होने पर भी कथावत्थु प्रकरण बुद्धभाषित ही है। वैज्ञानिक रीति से विचार करने पर यह तथ्य प्रदर्शित होता है कि तृतीय संगीति के अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इस सङ्गीति के अवसर पर स्थविरवाद से भिन्न शेष १७ बौद्धनिकायों के मतों का खण्डन करते हुए कथावत्थु की रचना की थी[२] और यह प्रकरण वहाँ पर बुद्धवचन के रूप में सङ्गायित कर दिया गया। इससे यही स्पष्ट होता है कि स्थविरवाद का अभिधम्मपिटक आज जिस रूप में हमें प्राप्त,है, उसके स्वरूप का निर्धारण एक प्रकार से तृतीय सङ्गीति के अवसर पर ही हुआ था और बुद्ध के परिनिर्वाण के तत्काल बाद प्रथम सङ्गीति और उसके १०० वर्ष पश्चात् द्वितीय सङ्गीति में उसका सङ्गायन होना मात्र अर्थवाद है।

अभिधर्मपिटक के बुद्धवचनत्व को सिद्ध करने में आचार्य बुद्धघोष ने धम्मसङ्गणि-प्रकरण की अट्ठकथा अट्ठसालिनी में जमीन और आसमान को एक कर दिया है। लगता है कि उस समय इसे बुद्धवचन मानने में विवाद छिड़ा हुआ था। सूत्र और विनय को बुद्धवचन मानने में इतने विवाद का अवकाश नहीं था, क्योंकि प्रारम्भ से ही यह विवरण प्राप्त होता है कि इसके प्रस्तुतकर्ता आनन्द तथा उपालि थे।

अत: अभिधर्म के उद्भव के सम्बन्ध में यह उद्भावना बुद्धघोष के द्वारा की गयी कि भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद अपने सप्तम वर्षावास में त्रायस्त्रिंश देवलोक में जाकर लगातार तीन मास तक वहाँ विराजमान अपनी माता को विस्तारपूर्वक अभिधर्म का उपदेश दिया। पृथ्वीलोक में उन्होंने एक निर्मित बुद्ध की व्यवस्था कर दी थी, जिसके द्वारा सर्वप्रथम अनवतप्त ह्रद के पास सारिपुत्त को

१. वहीं, पृ० ४-५। २. वहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधर्म का उपदेश किया गया और उनके शिष्यानुशिष्य-क्रम में यह परम्परा आगे बढ़ती रही तथा सारिपुत्त, भद्दजि, सोभित, पियजाली, पियदस्सी, कोसियपुत्त, सिग्गव, सन्देह, मोग्गलिपुत्त, सुदत्त, धम्मिय, दासक, सोणक और रेवत आदि के रूप में भारतवर्ष में विद्यमान रही। इसी आचार्य परम्परा ने बुद्ध के इसके उपदेश के समय से लेकर तृतीय सङ्गीति तक अभिधर्म को संघ तक पहुंचाया और इसके बाद महिन्द, इट्टिय आदि के द्वारा यह सिंहल द्वीप ले जायी गयी तथा इन आचार्यों के शिष्यानुशिष्यों ने इसे आगे भी पल्लवित रखा[१]।

इस पर प्रश्न यह होता है कि प्रथम सङ्गीति के अवसर पर इस आचार्य-परम्परा में से किसी को सम्मिलित करके अभिधर्म-सम्बन्धी पृच्छा उनसे क्यों नहीं की गयी और उनके द्वारा उसका उत्तर प्राप्त होने के अनन्तर ही इसका सङ्गायन क्यों नहीं हुआ एवं जिस प्रकार विनय और धम्म (सुत्त) के सन्दर्भ में उपालि तथा आनन्द का उल्लेख करते हुए उन्हें व्यवस्थित किया गया, ऐसा अभिधर्म के सम्बन्ध में क्यों नहीं किया गया।

अभिधर्मपिटक को बुद्धवचन न माननेवालों का यह भी तर्क है कि इसके ग्रन्थों में सूत्रपिटक तथा विनयपिटक की भाँति निदान नहीं है, अतः वह बुद्धवचन नहीं है। इसका उत्तर स्थविरवादी-परम्परा ने यह दिया है कि निदान का होना बुद्धवचन मानने के लिए सम्यक् हेतु नहीं है। धम्मपद, सुत्तनिपात तथा जातक आदि में भी तो निदान नहीं है, फिर भी इन्हें बुद्धवचन माना ही जाता है। मण्डलारामवासी तिस्स स्थविर ने महाबोधि को ही इस पिटक का निदान कहा है। गामवासी सुमनदेव थेर के अनुसार इसका निदान है— "एकं समयं भगवा देवेसु विहरति तावतिंसेसु पारिच्छत्तकमूले पाण्डुकम्बलसिलायं। तत्र खो भगवा देवानं तावतिंसानं अभिधम्मकथं कथेसि...." आदि[२]। बुद्धघोषानुसार इसमें दो निदान हैं—अधिगम-निदान—दीपङ्कर बुद्ध से लेकर महाबोधिपर्यङ्क तक; देशना-निदान—धर्मचक्रप्रवर्तन से लेकर। इन दोनों निदानों के सम्यक् ज्ञान हेतु आचार्य बुद्धघोष ने "यह अभिधर्म किससे प्रभावित है, कहाँ परिपक्व हुआ है आदि कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है— उदाहरणार्थ:—यह बोधि के प्रति अभिनीहार करनेवाली श्रद्धा से प्रभावित है तथा जातकों में यह परिपक्व हुआ है आदि[३]।

---

१. वहीं, पृ० १४-१५, २४, २७। २. वहीं, पृ० २५-२६।

३. वहीं, पृ० २७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिधर्म का बुद्धवचनत्व सिद्ध करने में आचार्य बुद्धघोष ने भरपूर प्रयत्न किया है और स्थविरवादी-परम्परा इसे बुद्धवचन ही मानती है। परम्परा का आदर करते हुए मेरा स्पष्ट विचार है कि इसके बुद्धवचन होने में अभी भी सन्देह है और 'धम्म' के विकास-क्रम-स्वरूप इसकी स्थिति है। अधिक विचार करने पर यही स्पष्ट होता है कि अभिधर्म में उन्हीं प्रवृत्तियों का विस्तार प्राप्त होता है, जो बीज-रूप में सुत्तपिटक में प्राप्त सद्धर्म में उपलब्ध हैं। इस कारणवश इसे बुद्धवचन के सन्निकट अथवा एक प्रकार से उसका ही विस्तार लेते हुए यदि बुद्धवचन कहा जाय तो इसमें विशेष कठिनाई नहीं परिलक्षित होती। बुद्धघोष भी अभिधर्म शब्द की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—"तत्थ अभिधम्मो ति केनट्ठेन अभिधम्मो? धम्मातिरेक-धम्मविसेसट्ठेन। अतिरेक-विसेसत्थदीपको हि एत्थ अभिसद्दो"। अर्थात् अभिधर्म, यह किस अर्थ का प्रतिपादक होने से अभिधर्म है? धर्म का अतिरेक अथवा धर्म-विशेष अर्थ होने के कारण। अभिधर्म में प्रयुक्त 'अभि' शब्द अतिरेक तथा विशेष अर्थ को प्रकाशित करनेवाला है[१]। 'धर्म' को ही विशेष-रूप से प्रकट करने वाला अभिधर्म है। इससे यही ज्ञात होता है कि धर्मरूपी सूत्रों के विशेष अर्थ इससे ज्ञात होते हैं। आचार्य असङ्ग ने चार अर्थों को व्यक्त करने में 'अभि' शब्द की सार्थकता प्रदर्शित की है:—"अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभव-गतितोऽभिधर्मश्च[२]"। अर्थात् निर्वाण के अभिमुख होने से, धर्म का विविध वर्गीकरण करने से, विरोधी मतों का अभिभव करने से एवं सूत्रों के सिद्धान्त का अनुगमन करने से। इन कारणों से यदि अभिधर्म को साक्षात् बुद्धवचन न भी माना जाय तो विशेष धर्म की अभिव्यक्ति करने के कारण बुद्धवचन के समान ही इसे माना जा सकता है। स्थविरवादी अभिधर्म के अन्तर्गत ये सात प्रकरण हैं:— धम्मसङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक, तथा पट्ठान।

सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक

सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक में भी सात ग्रन्थ परिगणित हैं, परन्तु ये ग्रन्थ स्थविरवादियों के ग्रन्थों के समान नहीं हैं। ये संस्कृत में अप्राप्त हैं तथा चीनी भाषा में सुरक्षित हैं। उन सात ग्रन्थों में से मुख्य ज्ञानप्रस्थान का चीनी-भाषा से संस्कृत में पुनरुद्धार प्रो० शान्तिभिक्षु शास्त्री ने विश्वभारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन, से किया था, जो १९५५ ई० में वहीं से प्रकाशित हुआ था।

१. वहीं, पृ० १७-१८।

२. महायानसूत्रालङ्कार, ११:३, मिथिला विद्यापीठ संस्करण, १९७०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वास्तिवादी परम्परा अपने इस अभिधर्म को षड्पादाभिधर्म की संज्ञा से विभूषित करती है। इनमें से ज्ञानप्रस्थान शरीर की भाँति है और शेष छह ग्रन्थ उसके पाद-स्वरूप माने गये हैं। ये ग्रन्थ इस प्रकार हैं:—

ग्रन्थ	ग्रन्थकर्ता
१. ज्ञानप्रस्थानशास्त्र	आर्य कात्यायन
२. प्रकरणपाद	स्थविर वसुमित्र
३. विज्ञानकायपाद	स्थविर देवशर्मा या देवक्षेम
४. धर्मस्कन्धपाद	आर्य शारिपुत्र या मौद्गल्यायन
५. प्रज्ञप्तिशास्त्रपाद	आर्य मौद्गल्यायन
६. धातुकायपाद	पूर्ण या वसुमित्र
७. संगीतिपर्यायपाद	महाकौष्ठिल या शारिपुत्र

इसमें एक ही ग्रन्थ के कर्ताओं के अथवा करके जो नाम दिये गये हैं, वे चीनी तथा तिब्बती परम्परा के अनुसार हैं। यद्यपि इन ग्रन्थों के कर्त्ताओं के नाम उल्लिखित हैं, किन्तु कश्मीर-वैभाषिकों के अनुसार ये सभी बुद्धवचन ही हैं और इनका उपदेश शास्ता ने विभिन्न समयों एवं स्थानों पर विभिन्न प्रकार के शिष्यों के लिए किया था; किन्तु वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक इससे सहमत नहीं है। उनके अनुसार इन ग्रन्थों का प्रणयन कालक्रमानुसार भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा किया गया है। ई० लामोत ने अपने विशिष्ट ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ इन्डियन बुद्धिज़्म' में विस्तार-पूर्वक इसकी चर्चा की है तथा यह विषय वहीं द्रष्टव्य है[१]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अभिधर्म के बुद्धवचन होने के बारे में काफी विवाद है।

सच्चसङ्खेप के रचयिता: आचरिय चुल्लधम्मपाल

सच्चसङ्खेप के रचयिता को सामान्यत: 'आचरिय धम्मपाल' (आचार्य धर्मपाल) के नाम से उल्लिखित किया गया है और गौरव प्रदान करने के लिए इन्हें 'पोराणा' इस बहुवचन से भी अलंकृत किया गया है, जो यह अभिव्यक्त

१. ई० नामोत, हिस्ट्री ऑफ इन्डियन बुद्धिज़्म, (फ्रेन्च से आँग्ल-भाषा में अनूदित), पृ० १८४-१९१, लोवेन-ला-नेवुए, १९८८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है कि ये गौरवपूर्ण प्राचीन आचार्य है[१]। किन्तु इसके रचयिता को स्पष्टता प्रदान करने के लिए उन्हें 'चुल्लधम्मपाल' के नाम से स्मृत किया गया है[२]। इसे स्पष्ट करना परमावश्यक है। धम्मपाल नाम के कई आचार्य हो गये हैं तथा नाम-साम्य के कारण इन सभी की कृतियों को लेकर विद्धानों में भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। अत: इस पर समीचीन रूप से विचार करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य धम्मपाल अथवा धर्मपाल के रूप में हमें चार कृतिकार प्राप्त होते हैं और इस सन्दर्भ में इन चारों के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित विवरण प्रस्तुत है—

(क) अट्ठकथाकार एवं टीकाकार आचरिय धम्मपाल— इन आचरिय धम्मपाल का उल्लेख गन्धवंस ग्रन्थ में आया है और वहाँ पर इन्हें जम्बुदीप अर्थात् भारत का निवासी बताया गया है[३]। साथ ही वहाँ पर उन्हें इन ग्रन्थों का रचनाकार कहा गया है— नेत्तिपकरण-अट्ठकथा, इतिवुत्तक-अट्ठकथा, उदानट्ठकथा, चरियापिटकट्ठकथा, थेरगाथाट्ठकथा, विभानवत्थु की विमलविलासिनी नामिका अट्ठकथा, विसुद्धिमग्ग की परमत्थमञ्जूसा नामक टीका, दीघनिकायादि चार निकायों की अट्ठकथा की लीनत्थपकासिनी नामिका टीका, नेत्ति-अट्ठकथा की टीका, बुद्धवंस-अट्ठकथा की परमत्थदीपनी नामक टीका, अभिधम्मट्ठकथा की लीनत्थवण्णना नामक टीका। इस प्रकार उन्हें इन चौदह ग्रन्थों का रचयिता कहा गया है। वहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है— "इमे चुद्दसमत्ते गन्धे अकासि"। अर्थात् इन चौदह ग्रन्थों की उन्होंने रचना की[४]।

सासनवंस के अनुसार वे इतिवुत्तक-अट्ठकथा, उदानट्ठकथा, चरियापिट-कट्ठकथा, थेर-थेरीगाथाट्ठकथा, विमानवत्थुट्ठकथा, पेतवत्थुट्ठकथा, नेत्ति-अट्ठकथा, विसुद्धिमग्ग की महाटीका, दीघनिकायट्ठकथा की टीका, मज्झिमनिकायट्ठकथा की टीका, संयुत्तनिकायट्ठकथा की टीका के लेखक कहे गये हैं[५]।

यद्यपि गन्धवंस तथा सासनवंस उन्नीसवीं सदी के ग्रन्थ हैं, तथापि त्रिपिटक के काल से लेकर आधुनिक युग तक के पालि-ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों

---

१. अभिधम्मत्थसङ्गह की विभाविनीटीका, रोमन संस्करण, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९८९।

२. गन्धवंस, पृ० ६०, रोमन संस्करण, जर्नल आफ पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८६।

३. वहीं, पृ० ६६।

४. वहीं, पृ० ६०।

५. सासनवंस, पृ० ३१, नालन्दा संस्करण, १९६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विवरण इनमें प्राप्त हैं। आचरिय धम्मपाल द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थों के सन्दर्भ में इन दोनों ग्रन्थों द्वारा दिये गये विवरणों में पर्याप्त साम्य विद्यमान हैं। गन्धवंस में थेरीगाथा-अट्ठकथा तथा पेतवत्थु-अट्ठकथा का उल्लेख नहीं हुआ है एवं सासनवंस में अङ्गुत्तरनिकायट्ठकथाटीका, बुद्धवंसट्ठकथाटीका और अभिधम्मट्ठ-कथा की लीनत्थवण्णना नामक अनुटीकादि के नाम प्राप्त नहीं है। साथ ही इसमें अङ्गुत्तरनिकाय की टीका के लेखक, समन्तपासादिका-अट्ठकथा पर सारत्थदीपनी नामक टीका के रचयिता सारिपुत्त थेर बताये गये हैं—"सारत्थदीपनिं नाम विनयटीकं, अङ्गुत्तरनिकायटीकञ्च परक्कमबाहुरञ्ञा याचितो सारिपुत्तथेरो अकासि[१]"। सासनवंस में अभिधम्म की मूलटीका पर अनुटीका लिखनेवाले का नाम भी आचरिय धम्मपाल ही दिया गया है[२], जबकि गन्धवंस में अभिधम्मट्ठकथा की लीनत्थवण्णना नामक अनुटीका का इन्हें रचयिता कहा गया है। लगता है कि ऐसे भ्रम नाम-साम्य के कारण ही हुए हैं।

सासनवंस में आचरिय धम्मपाल को पदरतित्थ-निवासी बताया गया है[३]। यह स्थान दमिळ (तमिल) राष्ट्र में स्थित था—"सो च आचरियधम्मपालथेरो सीहळदीपस्स समीपे दमिळरट्ठे पदरतित्थम्हि निवासितत्ता सीहळदीपे येव सङ्गहेत्वा वत्तब्बो[४]"। पदरतित्थ बदरतित्थ ही है। यह भारत के दक्षिण-पूर्वी समुद्र तट पर मद्रास से थोड़ा दक्षिण की ओर स्थिर है। अत: इससे यही ज्ञात होता है कि जन्मत: वे तमिल थे और उनका लेखन-कार्य दक्षिण भारत में सम्पन्न हुआ था। उनके ग्रन्थों के निगमन-वाक्य से यही प्रतीत होता है कि ये काञ्चीपुर (काञ्जीवरम्) के निवासी थे—"इति बदरतित्थ-महाविहारवासिना तिपिटक-परियत्तिधरेन.....भदन्त-धम्मपालाभिधान-महासामिपदेन विरचितं"[५] आदि।

पू० भिक्षु सद्धातिस्स ने अपने द्वारा सम्पादित उपासकजिनालङ्कार की भूमिका में यह प्रश्न उठाया है कि विसुद्धिमग्गमहाटीका (परमत्थमञ्जूसा) तथा प्रथम तीन निकाय—दीघ, मज्झिम एवं संयुत्त की अट्ठकथाओं की टीका के लेखक आचरिय धम्मपाल न होकर सच्चसङ्खेप के लेखक चुल्लधम्मपाल ही थे[६]।

---

१. वहीं। २. वहीं।

३-४. वहीं।

५. द्रष्टव्य—सच्चसङ्खेप का निगमन-वाक्य, पृ० २५, जर्नल आफ पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९१८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मलल्सेकर ने अपनी 'डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स' में अभिधम्ममूलटीका के रचयिता आनन्दाचरिय को चुल्लधम्मपाल का गुरु स्वीकार दिया है। इसे मानते हुए ही पू० सद्धातिस्स जी ने अपना उपर्युक्त मत रखा है। उनका कथन है कि विसुद्धिमग्ग-महटीका के निगमन (कोलोफोन) में धम्मपाल ने कहा है कि सित्थगामपरिवेण निवासी विशुद्ध शीलवाले दाठानाग थेर के अनुरोध पर ही यह टीका उनके द्वारा लिखी गयी है। चूलवंस के अनुसार इस परिवेण का निर्माण सम्राट् सेन चतुर्थ (ईस्वी सन् ९५४-९५६) द्वारा उस स्थान पर किया गया था, जहाँ अपने राज्यारोहण के पूर्व वे भिक्षु-रूप में रहते थे। उनके उत्तराधिकारी राजा महिन्द चतुर्थ (ईस्वी सन् ९५६-९६२) ने थेर दाठानाग को नियुक्त किया था.... इस प्रकार विसुद्धिमग्गमहाटीका के रचयिता का समय यही है। इसके विपरीत आचरिय धम्मपाल काञ्चीपुर के निवासी थे और दक्षिण भारत के नागपट्टन में स्थित बदरतित्थविहार में निवास करते हुए उन्होंने अपना लेखन-कार्य किया तथा बादवाले धम्मपाल सिंहली भिक्षु थे, ऐसा ज्ञात होता है और इन्होंने अपना लेखनकार्य सीहलद्वीप (श्रीलंका में) किया। यदि यह सब सत्य है तो विसुद्धिमग्गमहाटीका के जिस लेखक ने इसे दसवीं सदी में लिखा, उन्हीं ने दीघ, मज्झिम तथा संयुक्तनिकाय की अट्ठकथाओं पर भी टीकाओं का प्रणयन किया। मूलटीकाकार आनन्दाचरिय के ज्येष्ठ शिष्य तथा सच्चसङ्क्षेप के रचयिता चुल्लंधम्मपाल ही ये धम्मपाल हो सकते हैं।

इसका उत्तर तर्कपूर्ण रीति से दीघनिकायट्ठकथाटीका की भूमिका में इसकी सम्पादिका लिलि डे सिल्वा ने देते हुए अन्त में यह कहा है कि चुल्लधम्मपाल को उपर्युक्त बड़ी टीकाओं का प्रणेता मानने पर यह कठिनाई प्रस्तुत होती है कि उन्हें तब चुल्ल (छोटे) शब्द से क्यों अभिहित किया गया । वास्तव में तो उन्हें चुल्लधम्मपाल न कह कर महाधम्मपाल कहना चाहिए। दीघनिकायट्ठकथाटीका में विस्तार जानने हेतु विसुद्धिमग्गमहाटीका को भी देखने के लिए कहा गया है। इसके अलावा उन्होंने अपने पक्ष में और भी तर्क प्रस्तुत करते हुए उपर्युक्त रचनाओं का प्रणेता आचरिय धम्मपाल को ही माना है, जो बुद्धदत्त एवं बुद्धघोष की परम्परा में बुद्धघोष में पश्चात् आविर्भूत हुए हैं। सित्थगामपिरवेण वाले तर्क पर लिलि डे सिल्वा का विचार यह है कि यह तथा काञ्चीपुर आदि स्थान मद्रास प्रेसिडेन्सी में ही इर्द-गिर्द स्थित हैं और इसके बल पर विसुद्धिमग्गमहाटीकादि को दसवीं सदी में लिखा जाना सिद्ध करना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समीचीन नहीं है। विस्तार हेतु उनके द्वारा प्रस्तुत तर्क दीघनिकाय-अट्ठकथा की टीका की भूमिका में द्रष्टव्य हैं।[७]

आचरिय धम्मपाल ने सीहळदीप (श्रीलंका) के महाविहार में निश्चित रूप से अध्ययन अवश्य किया था, किन्तु उन्होंने अपनी रचनाएँ भी वहीं लिखीं, इस सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि पेतवत्थु-अट्ठकथा के निदान में स्पष्ट रूप से उनके द्वारा कहा गया है कि महाविहार की परम्परा के अनुसार ही इस ग्रन्थ की व्याख्या को वे प्रस्तुत कर रहे हैं[८]। बुद्धघोषाचार्य के सम्बन्ध में भी हमें यह ज्ञात है कि थेरवाद सम्बन्धी व्याख्याएँ और अट्ठकथाएँ श्रीलंका के ही महाविहार में प्राप्त थीं और वहाँ के भिक्षु पठन-पाठन में उनका व्यवहार करते थे। भारत में उनका सर्वथा अभाव था तथा वहाँ विद्यमान उन अट्ठकथाओं को मागध-भाषा में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही वे श्रीलंका गये थे, जिससे सभी के लिए वे सुलभ हो सकें। इसी प्रकार आचरिय धम्मपाल ने भी महाविहार की परम्परा से प्राप्त इन व्याख्याओं एवं अट्ठकथाओं का अध्ययन किया था। स्वत: तमिल होने के कारण तमिल में विद्यमान अट्ठकथाओं के अध्ययन-कार्य में भी उन्हें सौविध्य तो था ही। खुद्दकनिकाय के उन ग्रन्थों पर इन्होंने अट्ठकथाएँ लिखीं, जिन्हें बुद्धघोषाचार्य ने छोड़ दिया था। इनके अतिरिक्त बुद्धघोष द्वारा अन्य निकायों पर प्रस्तुत अट्ठकथाओं पर लीनत्थपकासिनी अथवा लीनत्थवण्णना नामक टीकाएँ धम्मपाल द्वारा लिखी गयीं। श्री भरतसिंह उपाध्याय ने अपने 'पालि साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में जो यह लिखा है कि इनकी रचनाओं में मात्र खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों पर प्रस्तुत परमत्थदीपनी नामक अट्ठकथा ही प्राप्त है तथा शेष में से कुछ भी प्राप्त नहीं है[९] — यह कथन नितान्त असमीचीन है। दीघनिकाय-अट्ठकथा पर लीनत्थवण्णना नामक टीका रोमनाक्षरों में पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, द्वारा तीन भागों में प्रकाशित हो चुकी है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इसे हम गौरवमयी टीका की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। विसुद्धिमग्ग-महाटीका परमत्थमञ्जूसा का भी मूल के साथ तीन भागों में प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से हो चुका है[१०] तथा खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों पर इनके द्वारा

६-७. दीघनिकाय-अट्ठकथा-टीका, भाग १, भूमिका, पृ० ३७-४८, रोमन संस्करण, लन्दन, १९७०।

८. दि पालि लिट्रेचर आफ सीलोन, पृ० ११३, सीलोन, १९५८।

९. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५३१, इलाहबाद, संवत् २००८।

१०. सन् १९६९-१९६२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत परमत्थदीपनी नामक अट्ठकथा का प्रकाशन पालि टेक्सट सोसायटी, लन्दन, से काफी पहले हो चुका है[१]।

यद्यपि आचरिय धम्मपाल ने अपनी अट्ठकथाओं में बुद्धघोषाचार्य की अट्ठसालिनी एवं धम्मपदादि अट्ठकथाओं से सामग्री ली है, किन्तु व्याख्या के कार्य में अपनी रचनाओं में ये अत्यन्त मौलिक तथा सटीक हैं और उनमें स्थान-स्थान पर इनकी विद्वत्ता स्पष्ट रूप से झलकती है। इससे इनका निखरा हुआ व्यक्तित्व साफ नजर आता है तथा इस सन्दर्भ में इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही होगी।

सच्चसङ्खेप के रचयिता के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात यहाँ पर विशेषरूप से ध्यातव्य है कि गन्धवंस में चुल्लधम्मपाल के गुरु आनन्दाचरिय का नाम क्रम में इन धम्मपालाचरिय के पहले आया है और इसके बाद इनका— "आनन्दो नामाचरियो सत्ताभिधम्मगन्धट्ठकथाय मूलटीकं नाम टीकं अकासि[२]"। क्या यह आनन्दाचरिय के पूर्ववर्ती होने का सङ्केत है? हम इसके आधार पर निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते, किन्तु यह विचारणीय विषय अवश्य है।

गन्धवंस तथा सासनवंस में कहीं भी यह उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि धम्मपालाचरिय ने सच्चसङ्खेप नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी, किन्तु बाद के लोगों ने नाम-साम्य के कारण इन्हें ही सच्चसङ्खेप का रचयिता मान लिया और इसके उद्धरणों को आचरिय धम्मपाल का कह दिया। सबसे विचित्र बात तो सच्चसङ्खेप के रोमन संस्करण के प्रकाशन के सन्दर्भ में हुई। उसकी संक्षिप्त भूमिका में तो सच्चसङ्खेप के रचयिता को चुल्लधम्मपाल स्पष्ट रूप से कहा गया, किन्तु ग्रन्थ के मूल के अन्त में आचरिय धम्मपाल से सम्बन्धित निगमन-वाक्य सम्पादक द्वारा दिया गया, पता नहीं किस मानसिकता अथवा तर्क के कारण[३]। इस पर हम विशेष चर्चा चुल्लधम्मपाल पर विचार करते हुए आगे करेंगे।

चीनी यात्री युवान्-च्वाङ् ने अपने प्रसिद्ध यात्रा-विवरण में काञ्चीपुर की यात्रा के प्रसङ्ग में धर्मपालाचार्य का वर्णन प्रस्तुत किया है[४], इसको हम आगे प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

---

१. पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८९२ से लेकर इसके आगे।

२. गन्धवंस, पूर्वोक्त, पृ० ६०।

३. सच्चसङ्खेप, पूर्वोक्त, पृ० २५।

४. रिकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न कन्टरीज़, बुक १०, पृ० २२९-२३० रिप्रिन्ट, दिल्ली, १९६९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) युवान्-च्वाङ् द्वारा अपने यात्रा-विवरण में प्रस्तुत काञ्चीपुर के धर्मपालाचार्य—युवान्-च्वाङ् ने अपने यात्रा-विवरण में द्राविड़ देश की अपनी यात्रा के प्रसङ्ग में इस देश की राजधानी काञ्चीपुर का वर्णन करते हुए महायान के सङ्घारामों का उल्लेख किया है तथा काञ्चीपुर को बोधिसत्त्व धर्मपाल का निवास-स्थान बताया है। उनके सम्बन्ध में एक लम्बी कथा भी वहाँ पर उन्होंने उद्धृत की है। ये बोधिसत्त्व नालन्दा के आचार्य थे तथा बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थें। ये उपर्युक्त आचरिय धम्मपाल से भिन्न व्यक्ति थे। लगता है कि काञ्चीपुर पहुँचने पर उन्होंने वहाँ के निवसियों से उपर्युक्त आचरिय धम्मपाल के सम्बन्ध में यह कथा-विवरण सुना हो और इसे उन्होंने महायानी आचार्य धर्मपाल से जोड़ दिया हो। इस कथा में धर्मपाल को उस देश के मंत्री के पुत्र के रूप में प्रस्तुत करते हुए वैराग्यवशात् इनके प्रवजित होने का विवरण प्रस्तुत किया गया है, जो वहीं द्रष्टव्य है।

इसके आधार पर उदान ग्रन्थ के रोमन संस्करण की भूमिका में इसके सम्पादक स्टेन्थल ने इन्हें नालन्दा विश्वविद्यालय का प्रसिद्ध आचार्य मान लिया[१] तथा रीज-डेविड्स एवं कारपेन्टर ने दीघनिकाय-अट्ठकथा सुमङ्गलविलासिनी के उपोद्घात में इस मत का समर्थन करते हुए यह अभिव्यक्त किया कि आचरिय धम्पाल का जन्म काञ्चीपुर में हुआ था और इन्होंने नालन्दा में अपने लेखन-कार्य को सम्पन्न किया[२]। बाद में इन्साईक्लोपीडिया आफ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स में उन्होंने अपने पूर्वोक्त विचार को बदलते हुए यह स्थापना की कि युवान्-च्वाङ् पालि के आचरिय धम्मपाल के विषय में कुछ नहीं जानता था और काञ्चीपुर पहुँचने पर वहाँ के निवासियों ने इन्हीं के बारे में उन्हें सूचना दी, जिसे भ्रम के वश से उसने महायानी एवं संस्कृत के आचार्य धर्मपाल से जोड़ कर अपना विवरण प्रस्तुत कर दिया[३]।

(ग) अरिमद्दनपुर के धम्मपाल—अरिमद्दनपुर (बर्मा) निवासी भी एक धम्मपालाचरिय हैं, जिनका विवरण हमें गन्धवंस[४] तथा मेबिल बोड कृत 'दि पालि लिटरेचर आफ बर्मा' की भूमिका में[५] प्राप्त है।

---

१. उदान, भूमिका, पृ० ७, रोमन संस्करण, पालिटेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८५।

२. दीघनिकायअट्ठकथा, भा० १, उपोद्घात, पृ० ८, रोमन संस्करण, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८६।

३. ई०आर०ई०, भाग ४, पृ० ७०१।

४. पूर्वोक्त, पृ० ६७।

५. दि पालि लिटरेचर आफ बर्मा, भूमिका, पृ० ३, आर०ए०एस०, लन्दन, १९०९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(घ) सच्चसङ्खेप के रचयिता चुल्लधम्मपाल—पहले यह लिखा जा चुका हैं कि सच्चसङ्खेप के रचयिता आचरिय चुल्लधम्मपाल हैं। गन्धवंस में स्पष्ट उल्लेख है—"आनन्दाचरियस्स जेट्ठसिस्सो चुल्लधम्पालो नामाचरियो सच्चसङ्खेपं नाम आकासि[१]"। किन्तु सासनवंस में यह विवरण आया है—सच्चसङ्खेपं धम्मपालथेरो[२]"। बाद के टीकाकारों आदि ने सच्चसङ्खेप के कर्त्ता के रूप में आचरिय धम्मपाल ही लिखा है। यहाँ तक कि बुद्धसासन समिति, बर्मा, से १९६२ ई० प्रकाशित सच्चसङ्खेप के रचयिता के रूप में भदन्ताचरिय-धम्मपाल थेर की यह कृति है, यही उल्लिखित है। इसकी भूमिका में यह विवरण प्राप्त है—"सच्चसङ्खेपो पन आचरियधम्मपालत्थेरेन विरचितो ति आयति; वुत्तञ्च सासनवंसदीपिकायं—'सच्चसङ्खेपं धम्मपालत्थेरो (अकासी') ति। मणिसार-मञ्जूसायं च ततियपरिच्छेदवण्णनायं 'आहु कथेसुं सच्चसङ्खेपे—धम्मपालाचरियस्स गरुभावतो पोराणा ति बहुवचनवसेन सोवेको वुत्तो' ति च, 'सच्चसङ्खेपे नाम पकरणे धम्मपालाचरियेन वुत्तं ति योजना' ति च"[३]। बुद्धसासन समिति, बर्मा, द्वारा यह ग्रन्थ अभिधम्मावतार, नामरूपपरिच्छेद तथा परमत्थविनिच्छय आदि तीन अन्य ग्रन्थों के साथ प्रकाशित हुआ है। इनमें अभिधम्मावतार के रचयिता आचरिय बुद्धदत्त हैं तथा नामरूपपरिच्छेद एवं परमत्थविनिच्छय के प्रणेता अभिधम्मत्थसङ्गह के कर्त्ता आचरिय अनुरुद्ध।

मललसेकर ने अपनी 'डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स' में धम्मपाल के सम्बन्ध में लिखा है कि सच्चसङ्खेप के लेखक सीलोन के थेर धम्मपाल हैं, जिन्हें सामान्यत: चुल्लधम्मपाल के नाम से अभिहित किया जाता है[४]। अपने ग्रन्थ 'दि पालि लिटरेचर आफ सीलोन' में गन्धवंस का आश्रय लेते हुए उन्होंने इन्हें चुल्लधम्मपाल ही माना है और सद्धम्मसङ्गह में आये इस विवरण का खण्डन किया है कि सच्चसङ्खेप के रचयिता आनन्द हैं। वहीं पर इन्होंने यह भी लिखा है कि ये अभिधम्ममूलटीकाकार वनरतन आनन्द के शिष्य थे[५]।

हम पहले यह लिख चुके हैं कि प्रसिद्ध अट्ठकथाकार आचरिय धम्मपाल ने सच्चसङ्खेप की रचना की थी, इसका कहीं भी उल्लेख गन्धवंस में प्राप्त

---

१. गन्धवंस, पूर्वोक्त, पृ० ६०।
२. सासनवंस, पूर्वोक्त, पृ० ३१।
३. पृ०, ग।
४. पृ० ११४६।
५. पृ० २०२-२०३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। सच्चसङ्खेप के रचयिता धम्मपालथेर हैं, सासनवंस का यह उल्लेख इन्हीं चुल्लधम्मपाल की ही ओर इंगित करता है, क्योंकि यह अट्ठकथाकार आचरिय धम्मपाल के सन्दर्भ में वहाँ विद्यमान न होकर अन्य रचनाकारों के सम्बन्ध में प्राप्त विवरण के साथ सन्निविष्ट है[१]।

सच्चसङ्खेप के रोमन संस्करण में जो निगमन-वाक्य (कोलोफोन) दिया गया है, वह इस ग्रन्थ के रचनाकार के रूप में प्रसिद्ध अट्ठकथाकार आचरिय धम्मपाल को ही अभिव्यक्त करता है[२]। परन्तु इसके सम्पादक ने अपनी भूमिका में स्पष्ट रूप से लिखा है कि सच्चसङ्खेप के रचयिता प्रसिद्ध अट्ठकथाकार और टीकाकार काञ्चीपुर (काञ्जीवरम्) निवासी आचरिय धम्मपाल नहीं हैं, अपितु इसके प्रणेता अभिधम्ममूलटीका के रचनाकार आनन्दाचरिय के शिष्य चुल्लधम्मपाल हैं[३], फिर भी पता नहीं किस उद्देश्य से प्रसिद्ध अट्ठकथाकार एवं टीकाकार आचरिय धम्मपाल को ही दिग्दर्शित करानेवाले इस निगमन-वाक्य को सम्पादक महोदय ने सच्चसङ्खेप के रोमन संस्करण के मूल पाठ में रखा है। इस पर उन्होने पाठभेद भी प्रस्तुत किया है कि यह निगमन-वाक्य इन्डिया आफिस लाईब्रेरी में ताड़पत्रों पर विद्यमान मान्डले संग्रह की इस ग्रन्थ की प्रति में विद्यमान नहीं है[४]। इस स्थिति में इसे मूलपाठ में रखने का उनका कार्य नितान्त असमीचीन है। सम्पादक ने अपनी भूमिका में यह भी स्पष्ट किया है कि सच्चसङ्खेप ग्रन्थ की सिंहली तथा बर्मी लिपियों में प्राप्त कई पाण्डुलिपियों तथा प्रकाशित संस्करणों का अवलोकन करने के पश्चात् ही उन्होंने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है और पाठों के सन्दर्भ में उत्पन्न शंका के निवारणार्थ इन्डिया आफिस लाईब्रेरी में ताड़पत्र पर प्राप्त मान्डले संग्रह की इसकी प्रति का भी उनके द्वारा अवलोकन किया गया है[५], किन्तु उन्हीं के अनुसार यह निगमन-वाक्य मान्डले संग्रह की प्रति में नहीं है[६]। इस प्रकार उनकी दृष्टि से भी सन्देह उत्पन्न करनेवाले इसको मूल में देना एक प्रकार से 'वदतो व्याघात' ही है। बुद्धसासन समिति, बर्मा, ने अपने संस्करण में न तो इसे मूल में रखा है और न पाठभेद के रूप में[७]।

---

१. सासनवंस, पूर्वोक्त, पृ० ३१।
२. सच्चसङ्खेप, रोमन संस्करण, पूर्वोक्त, पृ० २५।
३. वहीं पृ० २।
४. वहीं पृ० २५।
५. वहीं, पृ० २।
६. वहीं, पृ० २५।
७. पृ० ३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊपर यह उल्लिखित किया जा चुका है कि चुल्लधम्मपाल अभिधम्म-मूलटीकाकार वनरतन आनन्द के ज्येष्ठ शिष्य थे। इन्होंने इस मूलटीका पर अनुटीका का प्रणयन किया था[१]। इस मूलटीका की रचना कस्सप की संगीति (११६५ ई०) के पूर्व निश्चित रूप से ही चुकी थी और चुल्लधम्मपाल ने, जो निश्चित रूप से बारहवीं सदी से पूर्व हो चुके थे, इस पर अनुटीका लिखी थी[२]। अरञ्ञवासी अथवा वनवासी सम्प्रदाय की सूचना कलिंग-सम्राट् अग्गबोधि के शासन-काल (५९८-६०८ई०) से ही प्राप्त होती है एवं उसी समय भिक्षु-जीवन व्यतीत करने के लिए सीहल द्वीप में इनका आगमन हुआ; तथा महास्थविर जोतिपाल के संरक्षकत्व में बौद्ध संघ में ये प्रविष्ट हुए। रसवाहिनी ग्रन्थ के प्रणेता वेदेह ने अपने इस ग्रन्थ में वनवासी सम्प्रदाय के प्रारम्भ का विवरण दिया है, क्योंकि वे भी इसी सम्प्रदाय के थे। गन्धवंस द्वारा हमें यह सूचना आनन्दाचरिय के बारे में प्राप्त होती है कि वे भारत के ही निवासी थे और उनका काल सम्भवत: आठवीं अथवा नवीं शताब्दी था एवं उन्होंने बुद्धमित्त के अनुरोध पर अभिधम्ममूलटीका की रचना की, जिसे महास्थविर कस्सप और उनके सहयोगियों ने पुन: संशोधित किया था। इन्हें वनरतन आनन्द अथवा वनरतन तिस्स भी कहा जाता है, क्योंकि वनवासी सम्प्रदाय से उनका सम्बन्ध था[३]।

सारिपुत्त की मंडली के काल में सीहल द्वीप में वनवासी अथवा अरञ्ञवासी सम्प्रदाय राजनीतिक उथल-पुथल से अप्रभावित रहते हुए अमने को महाविहार की परम्परा से सम्पृक्त रखे हुए था। महाविहार की परम्परा ही उनके धार्मिक जीवन में विद्यमान थी। पंडित पराक्रम की संगीति में भी उनका अपूर्व योगदान था[४]। इसी से सारिपुत्त के शिष्य सुमङ्गल स्वामी ने अभिधम्मत्थसङ्गह की टीका विभाविनी में अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिए आनन्दाचरिय की अभिधम्ममूलटीका तथा चुल्लधम्मपाल के सच्चसङ्क्षेप के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। उन्होंने चुल्लधम्मपाल के उद्धरण धम्मपालाचरिय या पोराणा कह कर ही दिये हैं। लगता है कि चुल्लधम्मपाल का नाम धम्मपाल थेर ही था तथा उन्हें अट्ठकथाचरिय धम्मपाल से पृथक् करने के लिए उनके नाम में चुल्ल (छोटे) यह शब्द बाद में जोड़ा गया।

---

१. दि पालि लिटरेचर आफ सीलोन, पूर्वोक्त, पृ० २११।

२. वहीं, पृ० २१०-२१२।

३. वहीं, पृ० २१०।

४. वहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरञ्ञवासी सम्प्रदाय की स्थिति बारहवीं-तेरहवीं सदी तक बनी रही और इस समय एक दूसरे महास्थविर आनन्द विद्यमान थे, जो सारिपुत्त के शिष्य उदुम्बरगिरि मेधङ्कर के शिष्य थे। इन्हीं के शिष्य कच्चायन व्याकरण सम्प्रदाय के ग्रन्थ रूपसिद्धि के प्रणेता बुद्धप्पिय थे, जिन्होंने अपने गुरु आनन्द को ताम्रपर्णी-ध्वज की संज्ञा से अभिहित किया है[१]। सामान्य रूप से इन्हीं आनन्द को नाम-साम्य के आधार पर अभिधम्ममूलटीका के रचयिता के रूप में मान लिया जाता है, किन्तु पहले यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि अभिधम्ममूलटीका के रचनाकार सन् ११६५ की कस्सप थेर की संगीति के पूर्व ही अपने इस ग्रन्थ की रचना कर चुके थे एवं उनके शिष्य चुल्लधम्मपाल अथवा धम्मपाल, जो बारहवीं सदी के पूर्व में विद्यमान थे, इस पर टीका लिख चुके थे।

सारिपुत्त के शिष्य सुमङ्गल स्वामी द्वारा अभिधम्ममूलटीका एवं सच्चसङ्खेप के प्रस्तुत उद्धरण

सुमङ्गल स्वामी ने अभिधम्मत्थसङ्गह की टीका विभाविनी में अनेक स्थलों पर अभिधम्ममूलटीका के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें इसके रोमन संस्करण के आधार पर दर्शाया जा रहा है:—

(१) "अपरे पन कुसलादीनं कुसलादिभावसाधनं हेतुभावो ति वदन्ति (मूलटीका, सिंहली संस्करण, भाग३, पृ०१६८)[२]।

(२) "मूलटीकाकारादयो पन अञ्ञथा पि तं साधेन्ति" (मूलटीका, सिंहली संस्करण, भाग२, पृ०९५)[३]।

(३) "एवञ्च कत्वा वुत्तं आनन्दाचरियेन—'पञ्चद्वारे च आपाथमागच्छन्तं पच्चुप्पन्नं कम्मनिमित्तं आसन्नकप्पकम्मारम्मणसन्ततियं उप्पन्नं, तं सदिसं ति दट्ठब्बं'" (मूलटीका, सिंहली संस्करण, भाग२, पृ०१०५)[४]।

(४) "रूपलोके गन्धादीनं अभाववादिमतम्पि हि तत्थ तत्थ आचरियेहि पटिक्खित्तमेव" (मूलटीका, सिंहली संस्करण, भाग २, पृ०१०८-१०९)[५]।

---

१. वहीं, पृ० २११।

२. विभाविनी, रोमन संस्करण, पृ० ९५, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९८९।

३. वहीं, पृ० १४२।

४. वहीं, पृ० १४६।

५. वहीं, पृ० १५८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) "अपरे पन चित्तस्स ठितिखणं" (मूलटीका, सिंहली संस्करण, भाग १, पृ० २१-२२)[१]।

(६) "भङ्गक्खणे च रूपुप्पादं पटिसेधेन्ति" (मूलटीका, सिंहली संस्करण, भाग २, पृ० २३-२४)[२]।

(७) "आनन्दाचरियादयो पन सब्बेसम्पि चुतिचित्तं रूपं न समुट्ठापेती ति वदन्ति...। (मूलटीका, सिंहली संस्करण, भाग १, पृ० १५१-१५२)[३]।

(८) "टीकाकारमतेन एकादसमे सत्ताहे वा" (मूलटीका, सिंहली संस्करण, भाग ३, पृ० १३०-१३१)[४]।

(९) "आनन्दचरियो पन भणति—'पादकज्झानतो वुट्ठाय पच्चुप्पन्नादिविभागं अकत्वा केवलं इमस्स चित्तं जानामिच्चेव परिकम्मं कत्वा..... अनिट्ठे च ठाने नानारम्मणता दोसो नत्थि अभिन्नाकारप्पवत्तितो" ति (मूलटीका, सिंहली संस्करण, भाग १, पृ० ९४)[५]।

सुमङ्गल स्वामी द्वारा अभिधम्मावतार की टीका अभिधम्मत्थ-विकासिनी में सच्चसङ्खेप की गाथाओं के उद्धरण

(१) सातवें परिच्छेद की गाथा सं० ३७६ की वण्णना में स०स० की गाथा सं० १७६ का उल्लेख (अभिधम्मत्थविकासिनीटीका, भाग २, पृ० ३८, बुद्धसासन समिति, बर्मा, संस्करण, १९६४)।

(२) नवम परिच्छेद की गाथा सं० ५६४-५६७ की वण्णना में स०स० की गाथा सं० १७३ का उल्लेख (वहीं, पृ० ९६)।

सुमङ्गल स्वामी द्वारा अभिधम्मत्थसङ्गह की विभाविनीटीका (रोमन संस्करण) में सच्चसङ्खेप की गाथाओं के उद्धरण

सच्चसङ्खेप की कारिका संख्या	विभाविनी के रोमन संस्करण की पृ० सं०
कारिका ७४	पृ० ९५
कारिका १७१	पृ० १०१
कारिका ६०	पृ० १०८

१-२. वहीं। ३. वहीं, पृ० १५९।
४. वहीं, पृ० १६३। ५. वहीं, पृ०२०३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारिका १७३	पृ० १४६
कारिका १७६	पृ० १०९
कारिका ६२	पृ० १४३
कारिका १६४-१६५	पृ० १४५

मणिसारमञ्जूसाटीका में सच्चसङ्खेप की गाथाओं की व्याख्या

विभाविनी में उद्धृत सच्चसङ्खेप की इन कारिकाओं की व्याख्या अरियवंस द्वारा रचित इसकी व्याख्या मणिसारमञ्जूसा, भाग १, भाग २, बुद्धसासन समिति, बर्मा, द्वारा सन् १९६३ ई० एवं १९६४ ई० में क्रमशः प्रकाशित, में इस प्रकार से है—

सच्चसङ्खेप की कारिका सं०	मणिसारमञ्जूसा की भाग-सहित पृ०सं०
कारिका सं० ७४	भाग १, पृ० ३७७
कारिका सं० १७१	भाग १, पृ० ४०७-४०८
कारिका सं० ६०	भाग १, पृ० ४४२-४४३
कारिका सं० १७३	भाग १, पृ० ४५२
कारिका सं० १७६	भाग १, पृ० ४९१
कारिका सं० ६२	भाग २, पृ० ८४
कारिका सं० १६४-१६५	भाग २, पृ० ९४ (यहाँ पर बहुत विस्तार से व्याख्या की गयी है)।

इस प्रकार से अपने मत की पुष्टि तथा व्याख्यान में विभाविनी नामक टीका के प्रणेता सारिपुत्त के शिष्य सुमङ्गल स्वामी ने सच्चसङ्खेप की उपर्युक्त कारिकाओं अथवा गाथाओं को उद्धृत किया है।

सच्चसङ्खेप की विषय-वस्तु तथा इसके परिच्छेद

सच्चसङ्खेप अभिधर्म-सम्बन्धी एक लघु ग्रन्थ है। इसके शीर्षक को सामान्य रूप से समझने में यही ज्ञात होता है कि इसमें चार आर्य-सत्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। किन्तु यहाँ पर आर्यसत्य व्याख्यायित नहीं है, अपितु सम्मुति (संवृति) एवं परमत्थ (परमार्थ) सत्यों के परिप्रेक्ष्य में आभिधार्मिक तत्त्व यहाँ पर निरूपित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा में यह विवरण उल्लिखित है कि भगवान् बुद्ध की देशना अर्थात् उपदेश दो प्रकार के सत्यों को ध्यान में रख कर दिये गये हैं—संवृतिसत्य एवं परमार्थसत्य, अथवा सम्मुतिदेसना तथा परमत्थदेसना। सम्मुतिदेसना पुद्गल, सत्त्व, स्त्री, पुरुष, क्षत्रिय, ब्राह्मण, देव, मार आदि को व्यक्त करने वाली देसना है और अनित्य, दुःख, अनात्म, स्कन्ध, आयतन, स्मृत्युपस्थानादि परमत्थदेसना के अन्तर्गत व्याख्यायित होते हैं:—

"बुद्धस्स भगवतो दुविधा देसना—सम्मुतिदेसना, परमत्थदेसना चा ति। तत्थ पुग्गलो, सत्तो, इत्थी, पुरिसो, खत्तियो, ब्राह्मणो, देवो मारो ति एवरूपा सम्मुतिदेसना; अनिच्चं, दुक्खं, अनत्ता, खन्धा, धातू, आयतनानि, सतिपट्ठाना ति एवरूपा परमत्थदेसना। तत्थ भगवा ये सम्मुतिवसेन देसनं सुत्वा अत्थं पटिविज्झित्वा मोहं पहाय विसेसमधिगन्तुं समत्था, तेसं सम्मुतिदेसनं देसेति; ये पन परमत्थवसेन देसनं सुत्वा अत्थं पटिविज्झित्वा मोहं पहाय विसेसमधिगन्तुं समत्था तेसं परमत्थदेसनं देसेति[१]"।

इसी को उपसंहार रूप में वहीं कहा गया है:—

"दुवे सच्चानि अक्खासि सम्बुद्धो वदतं वरो।
सम्मुतिं परमत्थं च ततियं नूपलब्भति।।
सङ्केतवचनं सच्चं लोकसम्मुतिकारणा।
परमत्थवचनं सच्चं धम्मानं भूतकारणा।।
तस्मा वोहारकुसलस्स लोकनाथस्स सत्थुनो।
सम्मुतिं वोहरन्तस्स मुसावादो न जायती"।। ति[२]।

इन्हीं दो प्रकार के सत्यों अथवा देशनाओं की अभिव्यक्ति हेतु सच्चसङ्खेप ग्रन्थ की रचना आचरिय चुल्लधम्मपाल द्वारा की गयी है और मङ्गलगाथा के पश्चात् गाथा संख्या ३-४ में उन्होंने इसी ओर इंगित किया है। इस ग्रन्थ के गाथा सं० ५ से लेकर गाथा सं० ३६६ तक परमत्थसच्च का वर्णन किया गया है तथा गाथा सं० ३६७ से आगे सम्मुतिसच्च का।

---

१. म०नि०अ० १, पृ० १७७, नालन्दा संस्करण, १९७५; अ०नि०अ०भा० १, पृ० १०७, नालन्दा संस्करण, १९७६; सारत्थदीपनीटीका, भा० १, पृ० ६७, स०सं०वि० संस्करण, १९९१।

२. वहीं क्रमशः, पृ० ७८; पृ० १०८; पृ० ६७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तथ्य को विस्तार से उद्घाटित करने के लिए बौद्ध-दर्शन के संस्कृत में प्राप्त ग्रन्थों से भी पाद-टिप्पणियाँ वहीं पर दे दी गयी हैं। विद्वानों का यह विचार है कि जब तक अनुरुद्धाचरिय द्वारा अभिधम्मत्थसङ्गह की रचना नहीं हुई थी, तब तक अभिधर्म के तत्त्वों का परिज्ञान कराने के लिए प्रचलित ग्रन्थ के रूप में बौद्ध-समाज में सच्चसङ्खेप का ही प्रचार था और बाद में इसका स्थान अभिधम्मत्थसङ्गह ने ले लिया।[१] मङ्गलगाथा के पश्चात् अभिधम्मत्थसङ्गह की भी दूसरी गाथा अभिधर्म के अर्थों को परमार्थ रूप में व्यक्त करने के लिए ही लिखी गयी है:—

"तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो।
चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा"।।

यह ग्रन्थ निम्नाङ्कित पाँच परिच्छेदों में विभक्त है:—रूपसङ्खेप, खन्धत्तयसङ्खेप, चित्तपवत्तिपरिदीपनपरिच्छेद, विञ्ञाणक्खन्धपकिण्णकनयसङ्खेप, निब्बानपञ्ञत्तिपरिदीपनपरिच्छेद। इन परिच्छेदों के शीर्षक के अनुसार ही उनमें विषय-वस्तु का वर्णन किया गया है और परिच्छेद से सम्बन्धित सम्पूर्ण सामग्री वहाँ पर गाथा-रूप में प्रस्तुत कर दी गयी है।

इस लघु ग्रन्थ का प्रारम्भ रूप के वर्णन से किया गया है, जो अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थ विभङ्गपालि को आधार बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इसकी तुलना में अभिधम्मत्थसङ्गह का प्रारम्भ चित्त के वर्णन से होता है, जिसका आधार अभिधम्मपिटक का ही ग्रन्थ धम्मसङ्गणिपालि है।

इस ग्रन्थ में मङ्गलगाथा को लेकर ३८७ कारिकाएँ हैं, जिनमें मङ्गलगाथा के अन्तर्गत २ गाथाएँ, प्रथम परिच्छेद में ७० गाथाएँ, द्वितीय परिच्छेद में ४३ गाथाएँ, तृतीय परिच्छेद में ७६ गाथाएँ, चतुर्थ परिच्छेद में ११२ गाथाएँ तथा पञ्चम परिच्छेद में ८४ गाथाएँ अथवा कारिकाएँ हैं।

सम्पादन-शैली

ग्रन्थ में आये हुए तकनीकी दार्शनिक शब्दों को भरसक काले अक्षरों में रखा गया है, जिससे अध्येताओं को विशेष रूप से उनकी अभिव्यक्ति हो सके और इन्हें स्पष्ट करने के लिए सम्बन्धित ग्रन्थों से उद्धरण नामोल्लेख तथा

---

१. दि पालि लिट्रेचर आफ सीलोन, पूर्वोक्त, पृ० २०३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी पृष्ठ-संख्या सहित दे दिए गये हैं, जिससे यदि कोई जिज्ञासु विस्तार से उनके बारे में ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो उन ग्रन्थों की सहायता से उसे प्राप्त करने में समर्थ हो सके। ऐसे ग्रन्थों के सङ्केत-विवरण भी अलग स्वतन्त्र रूप से दे दिये गये हैं।

इस ग्रन्थ का सम्पादन दो प्रकाशित ग्रन्थों को आधार बनाकर किया गया है—(१) सन् १९१८ में पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, के जर्नल में प्रकाशित रोमन संस्करण एवं बुद्धसासन समिति, बर्मा, द्वारा सन् १९६३ में बर्मी लिपि में प्रकाशित संस्करण। पाठ की दृष्टि से रोमन संस्करण की अपेक्षा यह बर्मी संस्करण अधिक समीचीन प्रतीत होता है, अतः इसके ही पाठ मूल में अधिक संख्या में विद्यमान हैं तथा रोमन संस्करण के पाठ पाद-टिप्पणियों में। कहीं-कहीं इन दोनों के आधार पर अपना पाठ भी देवनागरी लिपि में इसके प्रथम सम्पादक को बनाना पड़ा है, उदाहरणार्थ गाथा सं० २९६ का पाठ—

"अहीरिकमनोत्तप्प-मोहुद्धच्चा च द्वादसे।
लोभो अट्ठसु चित्तेसु थीनमिद्धं तु पञ्चसु"।।

इन दोनों संस्करणों की पृष्ठ संख्या भी बर्मी लिपि में प्राप्त संस्करण के लिए [B] तथा रोमन संस्करण के लिए [R] के रूप में दे दी गयी है, और पाठभेद को व्यक्त करने के लिए 'रो' रोमन संस्करण तथा 'म' मरम्म अर्थात् बर्मी संस्करण का परिचायक है। ग्रन्थ के अन्त में गाथाओं के प्रथम पाद की अनुक्रमणिका भी प्रस्तुत कर दी गयी है।

इस लघु ग्रन्थ सच्चसङ्क्षेप का सम्पादक विशेष रूप से दो विद्वान् महानुभावों— श्रमण-विद्या संकायाध्यक्ष **प्रो० डॉ० ब्रह्मदेवनारायणशर्मा** तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन संस्थान के निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** के प्रति विशेष आभार एवं कृतज्ञता व्यक्त करता है, क्योंकि इन्हीं की प्रेरणा तथा उत्साहित करने के कारण इसके सम्पादन को वह पूर्ण करने में समर्थ हो सका और अभिधर्मपिटक के बुद्धवचनत्व तथा सच्चसङ्क्षेप ग्रन्थ के प्रणेता के सन्दर्भ में समालोचनात्मक सामग्री भूमिका में प्रस्तुत कर सका।

आशा है कि पाठभेदों, सम्बद्ध ग्रन्थों से टिप्पणियों एवं आलोचनात्मक विस्तृत भूमिका के साथ देवनागरी लिपि में प्रथम बार प्रकाशित सच्चसङ्क्षेप ग्रन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का यह संस्करण स्थविरवादी अभिधर्म के अध्येताओं के लिए उपादेय सिद्ध होगा।

बहुत सावधान रहने पर भी किसी ग्रन्थ के सम्पादनादि कार्य में कुछ त्रुटियों के होने की सम्भावना रहती है। अतः विद्वत्समाज इसके लिए सम्पादक को क्षमा प्रदान करने का अनुग्रह अवश्य करेगा।

भवतु सब्बमङ्गलं

लक्ष्मीनारायण तिवारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सङ्केत-विवरण

अट्ठ०	=	अट्ठसालिनी (धम्मसङ्गणि-अट्ठकथा), भण्डारकर ओरियन्टल सीरिज, पूना, १९४२ ई०।
अनि० २	=	अङ्गुत्तरनिकाय भाग २, नालन्दा संस्करण, १९६० ई०।
अभि०को०भा०का०	=	अभिधर्मकोशभाष्यकारिका, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना संस्करण, १९६७ ई०।
अभि०दी०	=	अभिधर्मदीप, विभाषाप्रभावृत्ति सहित, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना संस्करण, १९५९ ई०।
अभिधम्मा०	=	अभिधम्मावतार, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन संस्करण, १९१५ ई०।
अभि०स०	=	अभिधम्मत्थसङ्गह, विभाविनीटीका सहित, बौद्ध स्वाध्याय सत्र, वाराणसी संस्करण, १९६५ ई०।
अभि०स०टी०	=	अभिधम्मत्थसङ्गहटीका (पोराणटीका), बर्मी संस्करण, रंगून, १९१०।
उ०	=	उदान, नालन्दा संस्करण, १९५९ ई०।
कथा०अ०	=	कथावत्थुपकरणअट्ठकथा, जर्नल आफ पालि टेक्सट सोसायटी, लन्दन, १८८९ ई०।
का०	=	कारिका।
खु०पा०अ०	=	खुद्दकपाठअट्ठकथा, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन संस्करण, १९१५ ई०।
तं०	=	तत्थेव, तत्रैव।
त्रिं०	=	त्रिंशिका, सिल्वाँ लेवी द्वारा प्रकाशित, पेरिस, १९२५ ई०।
द०	=	दट्ठब्ब, द्रष्टव्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसन्न०	=	प्रसन्नपदा, आचार्य चन्द्रकीर्ति विरचित माध्यमिक-कारिका-वृत्ति सहित, पूँसे द्वारा सम्पादित, बिब्लोथिका बुद्धिका संस्करण १९०३-१९१३ ई०।
बोधि०प०का०	=	बोधिचर्यावतारपञ्जिका बोधिचर्यावतारकारिका पर, मिथिला संस्कृत रिसर्च इन्स्टीट्यूट, दरभंगा संस्करण, १९६० ई०।
म	=	मरम्म संस्करण, सच्चसङ्खेप, बुद्धसासन समिति, बर्मा संस्करण, १९६२ ई०।
म०नि० २	=	मज्झिमनिकाय भाग २, नालन्दा संस्करण, १९५८ ई०।
रो	=	रोमन संस्करण, सच्चसङ्खेप, जर्नल आफ पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन द्वारा प्रकाशित, १९१८ ई०।
वि०प्र०वृ०	=	विभाषाप्रभावृत्ति, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना संस्करण, १९५९ ई०।
विसु०	=	विसुद्धिमग्ग, भारतीय विद्याभवन, बम्बई संस्करण, १९४० ई०।
सं०नि० ३	=	संयुत्तनिकाय भाग ३, नालन्दा संस्करण, १९५९ ई०।
सु०नि०	=	सुत्तनिपात, नालन्दा संस्करण, १९५९ ई०।
सु०नि०अ० १	=	सुत्तनिपातअट्ठकथा भाग १, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन संस्करण, १९१६ ई०।
[B]	=	सच्चसङ्खेप के मरम्म-संस्करण की पृष्ठ संख्या।
[R]	=	सच्चसङ्खेप के रोमन-संस्करण की पृष्ठ संख्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सच्चसङ्खेप की
विषय-सूची

	पिट्ठङ्कः
१. भूमिका	१-२४
अभिधर्मपिटक का बुद्धवचनत्व	१-८
स्थविरवादी अभिधम्मपिटक	१-७
सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक	७-८
सच्चसङ्खेप के रचयिता: आचरिय चुल्लधम्मपाल	८-१८
(क) अट्ठकथाकार एवं टीकाकार आचरिय धम्मपाल	९-१४
(ख) युषान्-च्वाङ् द्वारा अपने यात्रा-विवरण में प्रस्तुत काञ्चीपुर के धर्मपालाचार्य	१४
(ग) अरिमद्दनपुर के धम्मपाल	१४
(घ) सच्चसङ्खेप के रचयिता चुल्लधम्मपाल	१५-१८
सारिपुत्त के शिष्य सुमङ्गल स्वामी द्वारा अभिधम्ममूलटीका एवं सच्चसङ्खेप के प्रस्तुत उद्धरण	१८-२०
सुमङ्गल स्वामी द्वारा अभिधम्मावतार की टीका अभिधम्मत्थ-विकासिनी में सच्चसङ्खेप की गाथाओं के उद्धरण	१९
सुमङ्गल स्वामी द्वारा अभिधम्मत्थसङ्गह की विभाविनीटीका (रोमन संस्करण) में सच्चसङ्खेप की गाथाओं के उद्धरण	१९-२०
मणिसारमञ्जूसाटीका में सच्चसङ्खेप की गाथाओं की व्याख्या	२०
सच्चसङ्खेप की विषय-वस्तु तथा इसके परिच्छेद	२०-२२
सम्पादन-शैली	२२-२४
२. सच्चसङ्खेपो (मूलगन्थो)	१-५६
१. मङ्गलगाथा	३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. रूपसङ्खेपो नाम पठमो परिच्छेदो ३-११
३. खन्धत्तयसङ्खेपो नाम दुतियो परिच्छेदो १२-१६
४. चित्तपवत्तिपरिदीपनो नाम ततियो परिच्छेदो १७-२४
५. विञ्ञाणक्खन्धपकिण्णकनयसङ्खेपो नाम चतुत्थो परिच्छेदो २५-३७
६. निब्बानपञ्ञत्तिपरिदीपनो नाम पञ्चमो परिच्छेदो ३८-४८
७. सच्चसङ्खेपस्स गाथानं आदिपदवसेन अनुक्कमणिका ४९-५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुल्लधम्मपालाचरियविरचितो

सच्चसङ्खेपो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

सच्चसङ्खेपो

मङ्गलगाथा

१. [R3,B1] नमस्सित्वा तिलोकग्गं, ञेय्यसागरपारगुं ।
भवाभावकरं[१] धम्मं, गणञ्च गुणसागरं ।।१।।

२. निस्साय पुब्बाचरिय-मतं अत्थाविरोधिनं ।
वक्खामि सच्चसङ्खेपं, हितं कारकयोगिनं ।।२।।

१. रूपसङ्खेपो नाम
पठमो परिच्छेदो

३. **सच्चानि** परमत्थञ्च, सम्मुतिञ्चा[२] ति[३] द्वे तहिं[a] ।
थद्धभावादिना[४] ञेय्यं, सच्चं तं **परमत्थकं** ।।३।।

४. सन्निवेसविसेसादि-ञेय्यं **सम्मुति**[५] तं[६] द्वयं ।
भावसङ्केतसिद्धीनं, तथत्ता सच्चमीरितं ।।४।।

---

१. भवाभवकरं—रो। २-३. सम्मुति चा ति-रो।
४. थद्धभवादिना-रो। ५-६. सम्मुतितं-रो।

a.द.—"तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो ।
चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा" ।।—अभि०स०, पृ० ६;
".....अभिधम्मे वा परमत्थतो सम्मुतिं ठपेत्वा परमत्थसच्छिकट्ठसभावसङ्खातपरमत्थवसेन कुसलादिना खन्धादिना च सब्बथा पि वुत्ता अभिधम्मत्था परमत्थतो चतुधा होन्ति....."
—अभि०स०टी०, पृ०२८६; "द्वे अपि सत्ये—संवृतिसत्यं परमार्थसत्यं च। तयोः किं लक्षणम्?
यत्र भिन्ने न तद्बुद्धिरन्यापोहे धिया च तत् ।
घटाम्बुवत्संवृतिसत् परमार्थसदन्यथा ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. परमत्थो सनिब्बान-पञ्चक्खन्धेत्थ रासितो ।
खन्धत्थो च समासेत्वा, वुत्तोतीतादिभेदनं ।।५।।

६. वेदनादीस्वपेकस्मिं[१], खन्धसद्दो तु रुळ्हिया[२] ।
समुद्दादेकदेसे तु, समुद्दादिरवो यथा ।।६।।

७. तत्थ सीतादिरुप्पत्ता, **रूपं** भ्वापानलानिलं[३] ।
भूतं कठिनदवता-पचनीरणभावकं[४] ।।७।।

८. [B2] चक्खु सोतञ्च घानञ्च[५], जिव्हा कायो पभा रवो ।
गन्धो रसोजा इत्थी च, पुमा वत्थु च जीवितं ।।८।।

९. खं जाति जरता भङ्गो, रूपस्स लहुता तथा ।
मुदुकम्मञ्ञता काय-वचीविञ्ञत्ति[६] **भूतिकं**[७] ।।९।।

१०. चक्खादी[८] दट्ठुकामादि-हेतुकम्मजभूतिका[९] ।
पसादा[१०] रूपसद्दादी[११], चक्खुञाणादिगोचरा ।।१०।।

यस्मिन्नवयवशो भिन्ने न तद्बुद्धिर्भवति तत् संवृतिसत्; तद्यथा— घटः... अतोऽन्यथा परमार्थसत्यम्। तत्र भिन्नेऽपि तद्बुद्धिर्भवत्येव। अन्यधर्मापोहेऽपि बुद्ध्या तत् परमार्थसत्; तद्यथा— रूपम्..."—अभि०को०भा०का० ६:४; "संवृतिसत् इति संव्यवहारेण सत्; परमार्थसत् इति परमार्थेन सत्, स्वलक्षणेन सदित्यर्थतः..."— स्फुटार्था, पृ० ५२४; वि०प्र०, वृ०, पृ० २६२-२६३; प्रसन्न०, पृ० ४९२-४९४; बोधि०प०का० ९:२;

"दुवे सच्चानि अक्खासि सम्बुद्धो वदतां वरो ।
सम्मुतिं परमत्थञ्च ततियं नूपलब्भति ।।
सङ्केतवचनं सच्चं लोकसम्मुतिकारणं ।
परमत्थवचनं सच्चं धम्मानं तथलक्खणं"।। —कथा०अ०, पृ० ३५।

१. वेदनादीसुपेकस्मिं-म। २. रूळ्हिया-रो।
३. भवापनलानिलं-रो। ४. कठिणदवता०-रो; कथिनदवता०-म।
५. घणनञ्च-रो। ६-७. कायवचीविञ्ञत्तिभूतिकं-रो।
८. चक्खादि-रो। ९. ०केतुकम्मजभूतिका-रो।
१०-११. पसादरूपसद्दादि-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. ओजा हि यापना इत्थि-पुमलिङ्गादिहेतुकं[१]।
भावद्वयं[२] तु कायं व, ब्यापि[३] नो[४] सहवुत्तिकं ।।११।।

१२. निस्सयं वत्थु धातूनं, द्विन्नं कम्मजपालनं ।
जीवितं उप्पलादीनं, उदकं व ठितिक्खणे ।।१२।।

१३. खं रूपानं परिच्छेदो, जातिआदित्तयं[५] पन ।
रूपनिब्बत्ति[६] पाको च, भेदो चेव यथाक्कमं[७] ।।१३।।

१४. लहुतादित्तयं तं हि, रूपानं कमतो सिया ।
अदन्धथद्धता चा पि, कायकम्मानुकूलता ।।१४।।

१५. अभिक्कमादिजनक-चित्तजस्सानिलस्स हि।
विकारो कायविञ्ञत्ति, रूपत्थम्भादिकारणं ।।१५।।

१६. वचीभेदकचित्तेन, भूतभूमिविकारता ।
वचीविञ्ञत्तुपादिन्न-घट्टनस्सेव[८] कारणं ।।१६।।

१७. [R4] रूपमब्याकतं सब्बं, विप्पयुत्तमहेतुकं ।
अनालम्बं परित्तादि, इति **एकविधं** नये ।।१७।।

१८. अज्झत्तिकानि चक्खादी[९], पञ्चेतेव पसादका ।
वत्थुना वत्थु[१०] तानेव[११], द्वारा विञ्ञत्तिभी[१२] सह ।।१८।।

१९. सेसं बावीसति[१३] चेक-वीसवीसति बाहिरं ।
अप्पसादमवत्थुञ्च, अद्वारञ्च यथाक्कमं ।।१९।।

२०. पसादा पञ्च भावायु, इन्द्रियनिन्द्रियेतरं[१४] ।
विनापं[१५] आदितो[१६] याव, रसा[१७] थूलं[१८] न चेतरं ।।२०।।

---

१. इत्थी-पुम०-रो।
२. भावद्द्वयं-रो।
३-४. व्यापिनो-रो।
५. जाति आदित्तयं-रो।
६. रूपनिप्फत्ति०-रो।
७. यथक्कमं-रो।
८. वचीविञ्ञत्तुपादिण्ण०-रो।
९. चक्खादि-रो।
१०-११. वत्थुतानेव-रो।
१२. विञ्ञत्तिहि-रो।
१३. बावीसती-रो।
१४. इन्द्रियं निन्द्रियेतरं-रो।
१५-१६. विना पंआदितो-रो।
१७-१८. रसथूलं-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१. [B3] अट्ठकं अविनिब्भोगं, वण्णगन्धरसोजकं ।
भूतं तं तु विनिब्भोग-मितरं ति विनिद्दिसे ।।२१।।

२२. अट्ठारसादितो रूपा[१], निप्फन्नं तु न चेतरं ।
फोट्ठब्बमापवज्जं[२] तु[३], भूतं कामे[४] न[५] चेतरं ।।२२।।

२३. सेक्खसप्पटिघासेक्ख-पटिघं[६] द्वयवज्जितं[७] ।
वण्णं तदितरं थूलं, सुखुमञ्चेति तं[८] तिधा[९] ।।२३।।

२४. कम्मजाकम्मजं[१०] नेव-कम्माकम्मजतो[११] तिधा ।
चित्तोजउतुजादीनं, वसेना पि तिधा तथा ।।२४।।

२५. दिट्ठं[१२] सुतं[१३] मुतञ्चा पि, विञ्ञातं वत चेतसा ।
एकमेकञ्च पञ्चा पि, वीसति च कमा सियुं ।।२५।।

२६. हदयं वत्थु विञ्ञत्ति, द्वारं चक्खादिपञ्चकं[१४] ।
वत्थु द्वारञ्च सेसानि, वत्थु द्वारञ्च नो सिया ।।२६।।

२७. निप्फन्नं रूपरूपं[१५] खं, परिच्छेदोथ लक्खणं ।
जातिआदित्तयं रूपं, विकारो लहुतादिकं ।।२७।।

२८. यथा[१६] सङ्खातधम्मानं[१७], लक्खणं सङ्खतं तथा ।
परिच्छेदादिकं रूपं, तज्जातिमनतिक्कमा ।।२८।।

२९. कम्मचित्तानलाहार-पच्चयानं[१८] वसेनिध ।
ञेय्या पवत्ति रूपस्स, पिण्डानञ्च वसा[१९] कथं[२०] ।।२९।।

३०. **कम्मजं** सेन्द्रियं वत्थु[२१], विञ्ञत्ति **चित्तजा** रवो[२२] ।
चित्तग्गिजो लहुतादि-त्तयं **चित्तानलन्नजं** ।।३०।।

---

१. रूपं-रो।
२-३. फोट्ठब्बं आपवज्जं तु-रो।
४-५. कामेन-रो।
६-७. पटिघद्द्वयवज्जितं-रो।
८-९. तन्निधा-रो।
१०-११. कम्मजाकम्मजानेव कम्माकम्मजातो-रो।
१२-१३. दिट्ठमसुतं-रो।
१४. चक्खादि पञ्चकं-रो।
१५. रूपारूपं-रो।
१६-१७. यथासङ्खातधम्मानं-रो।
१८. कम्मचित्तनलाहार०-रो।
१९-२०. वसाकथं-रो।
२१-२२. वत्थु-विञ्ञत्ति-चित्तजारवो-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१. अट्ठकं जाति चाकासो, **चतुजा** जरता खयं ।
कुतोचि नेव जातं त-प्पाकभेदञ्हि[१] तं द्वयं[२] ।।३१।।

३२. जातिया पि न[३] जातत्तं[४], कुतोचिट्ठकथानया[५] ।
लक्खणाभावतो तस्सा, सति तस्सिं न निट्ठिति[६] ।।३२।।

३३. कम्मचित्तानलन्नेहि, **पिण्डा** नव च सत्त च ।
चत्तारो द्वे च विञ्ञेय्या, सजीवे द्वे अजीवके ।।३३।।

३४. [B4] अट्ठकं जीवितेनायु-नवकं भाववत्थुना ।
चक्खादी[७] पञ्च दसका, कलापा **नव कम्मजा** ।।३४।।

३५. [R5] सुद्धट्ठविञ्ञत्तियुत्त-नवको[८] दसको पि च[९] ।
सुद्धसद्देन नवको, लहुतादिदसेकको[१०] ।।३५।।

३६. विञ्ञत्ति लहुतादीहि, पुन द्वादस तेरस ।
चित्तजा इति विञ्ञेय्या, कलापा **सत्त वा छ वा** ।।३६।।

३७. सुद्धट्ठं सद्दनवकं, लहुतादिदसेककं[११] ।
सद्दे न लहुतादीहि, **चतुरोतुजकण्णिका** ।।३७।।

३८. सुद्धट्ठलहुतादीहि[१२], **अन्नजा द्वे** तिमे नव ।
सत्त चत्तारि द्वे चेति, **कलापा वीसती द्विभि**[१३] ।।३८।।

३९. तयट्ठका च चत्तारो, नवका दसका नव ।
तयो द्वेको च एकेन, दस द्वीहि च तीहि च ।।३९।।

४०. चतुन्नम्पि च धातूनं, अधिकंसवसेनिध ।
रूपभेदोथ विञ्ञेय्यो, कम्मचित्तानलन्नजो ।।४०।।

---

१. त-प्पाकभेदं हि-म।
२. वयं-रो।
३-४. नजातत्तं-रो।
५. कुतोचट्ठ कथानया-रो।
६. निट्ठितं-रो।
७. चक्खादि-रो।
८-९. नवको पि च दसको-म।
१०. लहुतादि दसेकको-रो।
११. लहुतादि दसेककं-रो।
१२. सुद्धट्ठ लहुतादीहि-रो।
१३. द्वीहि-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४१. केसादिमत्थलुङ्गन्ता[१], पठवंसा ति[२] वीसति ।
पित्तादिमुत्तकन्ता ते, जलंसा द्वादसीरिता ।।४१।।

४२. येन सन्तप्पनं[३] येन, जीरणं दहनं तथा ।
येनसीतादिपाको ति, चतुरंसानलाधिका ।।४२।।

४३. उद्धाधोगमकुच्छिट्ठा, कोट्ठासेय्यङ्गसारि च ।
अस्सासो ति च विञ्ञेय्या, छळंसा[४] वायुनिस्सिता[५] ।।४३।।

४४. पुब्बमुत्तकरीसञ्चु-दरियं[६] चतुरोतुजा[७] ।
कम्मा पाचग्गि चित्तम्हा-स्सासो[८] ति छ पि एकजा[९] ।।४४।।

४५. सेदसिङ्घानिकस्सु[१०] च, खेळो चित्तोतुसम्भवा ।
द्विजा[११] द्वत्तिंस[१२] कोट्ठासा, सेसा एव चतुब्भवा ।।४५।।

४६. एकजेस्वादिचतूसु[१३], उतुजा चतुरट्ठका ।
जीवीतनवको[१४] पाचे-स्सासे[१५] चित्तभवट्ठको ।।४६।।

४७. [B5] द्विजेसु मनतेजेहि, द्वे द्वे होन्ति पनट्ठका ।
सेसतेजानिलंसेसु, एकेकम्हिं तयो तयो ।।४७।।

४८. अट्ठकोजमनग्गीहि[१६], होन्ति अट्ठसु कम्मतो ।
अट्ठायुनवका[१७] एवं, इमे अट्ठ चतुब्भवा ।।४८।।

४९. चतुवीसेसु सेसेसु, चतुजेस्वट्ठका[१८] तयो ।
एकेकम्हि च विञ्ञेय्या, पिण्डा चित्तानलन्नजा ।।४९।।

१-२. ०लुङ्गन्तापठवंसाहि-रो; ०पथवंसा ति-म।
३. सन्तापनं-रो।
४-५. छलंसावायुनिस्सिता-रो।
६. पुब्बमुत्तकरीसञ्चोदरियं-रो।
७. चतुरोतुज-रो।
८. चित्तम्हा सासो-रो।
९. एकज-रो।
१०. ०कास्सु-रो।
११-१२. द्विजाबत्तिंस-रो।
१३. एकजेस्वादि चतुसु-रो।
१४. जीवितनवको-रो।
१५. पाचेसासे-रो।
१६. अट्ठको जमनग्गीहि-रो।
१७. अट्ठायु नवका-रो।
१८. चतुजेसुट्ठका-म।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५०. कम्मजा कायभावव्हा, दसका पि सियुं तहिं ।
चतुवीसेसु अंसेसु, एकेकम्हि दुवे दुवे ।।५०।।

५१. पञ्चा[१] पि चक्खुसोतादी[२], पदेसदसका पुन ।
नवका सद्दसङ्घाता, द्वे तिच्चेवं कलापतो ।।५१।।

५२. तेपञ्ञास[३] दसेकञ्च, नवुत्तरसतानि च ।
दसका नवका चेव, अट्ठका च सियुं कमा ।।५२।।

५३. [R6] सेकपञ्चसतं काये, सहस्सं तं पवत्तति ।
परिपुण्णिन्द्रिये रूपं, निप्फन्नं धातुभेदतो ।।५३।।

५४. चित्तुप्पादे सियुं रूप-हेतू कम्मादयो पन ।
ठिति[४] न[५] **पाठे** चित्तस्स, न भङ्गे रूपसम्भवो ।।५४।।

५५. "अञ्ञथत्तं ठितस्सा" ति, वुत्तत्ता व ठितिक्खणं ।
अत्थी ति चे पबन्धेन, ठिति तत्थ पवुच्चति ।।५५।।

५६. अथ[६] वा तिक्खणे[७] कम्मं, चित्तमत्तुदयक्खणे ।
उतुओजात्तनो[८] ठाने, रूपहेतु भवन्ति[९] हि[१०] ।।५६।।

५७. सेय्यस्सादिक्खणे काय-भाववत्थुवसा[११] तयो ।
दसका होन्तिभाविस्स[१२], विना भावं दुवे सियुं ।।५७।।

५८. [B6] ततो परञ्च कम्मग्गि-चित्तजा[१३] ते[१४] च पिण्डिका ।
अट्ठका च दुवे पुब्बे, वुत्तवुत्तक्खणे वदे ।।५८।।

५९. कालेनाहारजं होति, चक्खादिदसकानि च ।
चतुपच्चयतो रूपं, सम्पिण्डेवं[१५] पवत्तति[१६] ।।५९।।

---

१. पञ्ञा-रो।
२. चक्खुसोतादि-रो।
३. ते पञ्ञास-रो।
४-५. ठितिन्न-रो।
६-७. अथवातिक्खणे-रो।
८. उतु ओजात्तनो-रो।
९-१०. भवन्तिहि-रो।
११. कायभाववत्थु वसा-रो।
१२. होन्त्यभाविस्स-रो।
१३-१४. चित्तजाते-रो।
१५-१६. सम्पिण्डेवम्पवत्तति-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६०. तं सत्तरसचित्तायु[१], विना विञ्ञत्तिलक्खणं[२]।
सन्ततामरणा[३] रूपं, जरादिफलमावहं ।।६०।।

६१. भङ्गा सत्तरसुप्पादे, जायते कम्मजं न तं।
तदुद्धं जायते तस्मा, तक्खया मरणं भवे ।।६१।।

६२. आयुकम्मुभयेसं वा, खयेन मरणं भवे।
उपक्कमेन वा केस-ञ्चुपच्छेदककम्मुना ।।६२।।

६३. ओपपातिकभाविस्स, दसका सत्त कम्मजा।
कामे आदो भवन्तग्गि-जाहि[४] पुब्बेव भूयते ।।६३।।

६४. आदिकप्पनरानञ्च, अपाये अन्धकस्स च।
बधिरस्सा पि आदो छ, पुब्बेवेतरजा सियुं ।।६४।।

६५. तत्थेवन्धबधिरस्स[५], पञ्च होन्ति अभाविनो।
युत्तिया इध विञ्ञेय्या, पञ्च वा चतुरो पि वा ।।६५।।

६६. चक्खादित्तयहीनस्स[६], चतुरो व भवन्ति[७] हि[८]।
वुत्तं[९] उपपरिक्खित्वा[१०], गहेतब्बं विजानता ।।६६।।

६७. रूपे जीवितछक्कञ्च[११], चक्खादिसत्तकत्तयं।
पञ्च छ उतुचित्तेहि, पञ्च[१२] छासञ्ञिनं[१३] भवे ।।६७।।

६८. पञ्चधात्वादिनियमा[१४], **पाठे**[१५] गन्धरसोजनं।
नुप्पत्ति तत्थ भूतानं, अफोट्ठब्बपवत्तिनं[१६] ।।६८।।

६९. थद्धुण्हीरणभावो व[१७], नत्थि धात्वादिकिच्चतो।
अञ्ञं गन्धादिनं[१८] तेसं, तक्किच्चेनोपलद्धितो[१९] ।।६९।।

---

१. सत्तरस चित्तायु-रो।
२. विञ्ञत्ति लक्खणं-रो।
३. सन्तता मरणा-रो।
४. भवन्तग्गिजादि-रो।
५. तत्थेव अन्धबधिरस्स-रो।
६. चक्खादित्तय हीनस्स-रो।
७-८. भवन्ती ति-रो।
९-१०. वुत्तमुपपरिक्खित्वा-रो।
११. जीवितचक्कञ्च-रो।
१२-१३. छ पञ्चासञ्ञिनं-रो।
१४-१५. पञ्चधात्वादिनियमापाठे-रो।
१६. अफोट्ठब्बप्पवत्तिनं-रो।
१७. च-रो।
१८. गन्धादीनं-म।
१९. तक्किच्चे नोपलद्धितो-रो।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

७०. रूपे सप्पटिघत्तादि[१], तत्थ रुप्पनतो[२] विय ।
घट्टनञ्च रवुप्पाद-स्सञ्ञत्थस्सेव[३] हेतुता ।।७०।।

७१. [R7,B7] इच्छितब्बमिमेकन्त-मेवं पाठाविरोधतो ।
अथ वा तेहि विञ्ञेय्यं, दसकं नवकट्ठकं ।।७१।।

७२. सब्बं कामभवे रूपं, रूपे एकूनवीसति ।
असञ्ञीनं दस गन्ध-रसोजाहि च ब्रह्मुनं[४] ।।७२।।

इति[५] सच्चसङ्खेपे रूपसङ्खेपो नाम
पठमो परिच्छेदो[६]।

●

१. सप्पटिघट्ठादि-रो। २. रुप्पणता-रो।
३. ०स्सञ्ञथस्सेव-रो। ४. ब्रह्मुणं-रो।
५-६. रूपक्खन्धविभागो नाम पठमो परिच्छेदो-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. खन्धत्तयसङ्खेपो नाम
दुतियो परिच्छेदो

७३. **वेदनानुभवो**[१] तेधा[२], सुखदुक्खमुपेक्खया ।
इट्ठानिट्ठानुभवन-मज्झानुभवलक्खणा ।।१।।

७४. कायिकं मानसं दुक्खं, सुखोपेक्खा च वेदना ।
एकं मानसमेवेति, पञ्चधिन्द्रियभेदतो ।।२।।

७५. यथा तथा[३] वा[४] सञ्जानं[५], **सञ्ञा** सतिनिबनधनं ।
छधा छद्द्वारसम्भूत[६]-फस्सजानं वसेन सा ।।३।।

७६. **सङ्खारा** चेतना फस्सो, मनक्कारायु सण्ठिति ।
तक्को चारो च वायामो, पीति छन्दाधिमोक्खको[७] ।।४।।

७७. सद्धा सति हिरोत्तप्पं, चागो मेत्ता मती[८] पुन[९] ।
मज्झत्तता च पस्सद्धी[१०], कायचित्तवसा दुवे ।।५।।

७८. लहुता[११] मुदुकम्मञ्ञ[१२]-पागुञ्ञमुजुता[१३] तथा ।
दया मुदा[१४] मिच्छावाचा, कम्मन्ताजीवसंवरो ।।६।।

७९. लोभो दोसो च मोहो च, दिट्ठि उद्धच्चमेव च ।
अहिरीकं[१५] अनोत्तप्पं, विचिकिच्छितमेव[१६] च ।।७।।

---

१. वेदनानुभावो-रो।
२. तिधा-रो।
३-४. तथावा-रो।
५. सञ्जाणं-म।
६. छद्वार०-म।
७. छन्दोधिमोक्खको-म।
८. मति-म।
९. पन-रो।
१०. पस्सद्धि-रो।
११-१२. लहुता-मुदुकम्मञ्ञ-रो।
१३. पागुञ्ञवुजुता-रो।
१४. मुदु-रो।
१५-१६. अहिरिकमनोत्तप्पम्विचिकिच्छितमेव-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८०. [B8] मानो इस्सा च[1] मच्छेरं[2], कुक्कुच्चं थीनमिद्धकं[3]।
इति एतेव[4] पञ्ञास, सङ्खारक्खन्धसञ्ञिता ।।८।।

८१. ब्यापारो चेतना फस्सो, फुसनं सरणं तहिं।
मनक्कारो पालनायु, समाधि अविसारता ।।९।।

८२. आरोपनानुमज्जट्ठा, तक्कचारा[5] पनीहना[6]।
विरियं[7] पीणना पीति, छन्दो तु कत्तुकामता ।।१०।।

८३. अधिमोक्खो निच्छयो सद्धा, पसादो सरणं सति।
हिरी[8] पापजिगुच्छा[9] हि, ओत्तप्पं तस्स[10] भीरुता[11] ।।११।।

८४. अलग्गो च अचण्डिक्कं, चागो मेत्ता मति[12] पन।
याथावबोधो[13] मज्झत्तं, समवाहितलक्खणं[14] ।।१२।।

८५. [R8] छ युगानि कायचित्त-दरगारवथद्धता-[15]।
अकम्मञ्ञत्तगेलञ्ञ-कुटिलानं विनोदना ।।१३।।

८६. तानुद्धतादिथीनादि[16]-दिट्ठादीनं[17] यथाक्कमं।
सेसकादिअसद्धादि-मायादीनं[18] विपक्खिनो ।।१४।।

८७. दुक्खापनयनकामा[19], दया मोदा पमोदना[20]।
वचीदुच्चरितादीनं, विरामो विरतित्तयं ।।१५।।

८८. लोभो दोसो च मोहो च, गेधचण्डमनन्धता।
कमेन दिट्ठि दुग्गाहो, उद्धच्चं[21] भन्ततं[22] मतं ।।१६।।

१-२. मच्छरियं-रो।
३. थिनमिद्धकं-म; सब्बत्थ 'थि' इति।
४. एतानि-रो।
५-६. चक्कचारापनीहना-रो।
७. वीरियं-म; सब्बत्थ 'वी' इति।
८-९. हिरिपापजिगुच्छा-रो।
१०-११. तस्सभीरुता-रो।
१२. मती-रो।
१३. यथावबोधो-रो।
१४. समापादितलक्खणं-रो।
१५. कायचित्तादारगारवथद्धता-रो।
१६-१७. तानुद्धतादि थीनादि दिट्ठादीनं-रो।
१८. सेसागादि असद्धादि मायादीनं-रो।
१९-२०. दया दुक्खापनयना कामा मदो पमदना-रो।
२१-२२. उद्धच्चम्भन्तता-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८९. अहिरीकमलज्जत्तं[१], अनोत्तप्पमतासता[२]।
संसयो विचिकिच्छा हि, मानो उन्नतिलक्खणो ।।१७।।

९०. [B9] परस्सकसम्पत्तीनं[३], उसूया[४] च निगूहना।
इस्सामच्छेरका[५] तापो[६], कताकतस्स[७] सोचना[८] ।।१८।।

९१. थीनं चित्तस्स सङ्कोचो, अकम्मञ्ञत्तता पन।
मिद्धमिच्चेवमेतेसं, **लक्खणञ्च** नये बुधो ।।१९।।

९२. वेदनादिसमाधन्ता[९], सत्त **सब्बग**सञ्ञिता।
तक्कादिअधिमोक्खन्ता[१०], छ **पकिण्णक**नामका ।।२०।।

९३. सद्धादयो विरमन्ता, **अरणा** पञ्चवीसति।
लोभादिमिद्धकन्तानि[११], **सरणानि** चतुद्दस ।।२१।।

९४. इस्सामच्छेरकुक्कुच्च-दोसा[१२] कामे दया मुदा।
कामे रूपे च सेसा छ-चत्तालीस[१३] तिधातुजा ।।२२।।

९५. छन्दनिच्छयमज्झत्त-मनक्कारा सउद्धवा।
दयादी[१४] पञ्च मानादी[१५], छ **येवापन**[१६] सोळस ।।२३।।

९६. छन्दादी[१७] पञ्च **नियता**[१८], तत्थेकादस नेतरा।
अहिरीकमनोत्तप्पं[१९], लोकनासनकं[२०] द्वयं[२१] ।।२४।।

९७. एते द्वे मोहुद्धच्चा[२२] ति[२३], चत्तारो **पापसब्बगा**[२४]।
लोकपालदुकं वुत्तं, हिरिओत्तप्पनामकं[२५] ।।२५।।

---

१. अहिरिक०-रो।
२. अनोत्तप्पमता सता-रो।
३. परसकसम्पत्तीनं-रो।
४. उसुया-रो।
५-६. इस्सामच्छेरकातापो-रो।
७-८. कतस्साकतसोचना-रो।
९. वेदनादि समाधन्ता-रो।
१०. तक्कादि अधिमोक्खन्ता-रो।
११. लोभादि मिद्धकन्तानि-रो।
१२. इस्सा मच्छेर०-रो।
१३. छचत्ताळीस-रो।
१४. दयादि-रो।
१५. मानादि-रो।
१६. ये वा पन-रो।
१७-१८. छन्दादिपञ्चनियता-रो।
१९. अहिरिकमनोत्तप्पं-रो।
२०-२१. लोकनासनकद्द्वयं-रो।
२२-२३. मोहमुद्धच्चा-रो।
२४. सब्बपापगा-रो।
२५. हिरि ओत्तप्पनामहं-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९८. आरम्मणूपनिज्झाना[१], **झानङ्गा** तक्कचारका ।
पीति एकग्गता चेति, सत्त वित्तित्तयेन वे ।।२६।।

९९. सद्धा सति मतेकग्ग-धिति लोकविनासका ।
पालका नव[२] चेतानि[३], **बलानि** अविकम्पतो ।।२७।।

१००. एत्थ सद्धादिपञ्चायु[४], कत्वात्र[५] चतुधा मतिं ।
वेदनाहि द्विसत्तेते, इन्द्रियानाधिपच्चतो ।।२८।।

१०१. मनरूपिन्द्रियेहेते, सब्बे **इन्द्रिय**नामका ।
बावीसति भवन्तायु-द्वयं[६] कत्वेकसङ्गहं ।।२९।।

१०२.[R9,B10] दिट्ठिहेकग्गतातक्क-सतीविरतियो[७] **पथा** ।
अट्ठ निय्यानतो आदि-चतुरो भित्वान[८] द्वादस ।।३०।।

१०३. फस्सो च चेतना चेव, द्वेवेत्थाहारणत्थतो[९] ।
आहारा मनवोजाहि, भवन्ति चतुरोथवा[१०] ।।३१।।

१०४. **हेतु**[११] मूलट्ठतो[१२] पापे, लोभादित्तयमीरितं ।
कुसलाब्याकते चा पि, अलोभादित्तयं तथा ।।३२।।

१०५. दिट्ठिलोभदुसा[१३] कम्म-पथापायस्स मग्गतो ।
तब्बिपक्खा सुगतिया, तयो ति छ पथीरिता ।।३३।।

१०६. पस्सद्धादियुगानि[१४] छ, वग्गत्ता युगळानि[१५] तु ।
उपकारा सति[१६] धी[१७] च, बहूपकारभावतो[१८] ।।३४।।

१०७. **ओघा**हरणतो **योगा**, योजनेनाभवग्गतो ।
सवनेना**सवा** दिट्ठि-मोहेजेत्थ दुधा लुभो ।।३५।।

---

१. आरम्मणुपनिज्झाना-रो।
२-३. च नवेतानि-रो।
४. सद्धादि पञ्चायु-रो।
५. कत्वात्र-रो।
६. भवन्तायुद्द्वयं-रो।
७. दिट्ठि हेकग्गता तक्कसतिविरतियो-रो।
८. भेत्वा-रो।
९. द्वेवेत्थ आहारणत्थतो-रो।
१०. चतुरो थवा-रो।
११-१२. हेतुमूलट्ठतो-रो।
१३. दिट्ठिलोभा दुसा-रो।
१४. पस्सद्धादि युगानि-रो।
१५. युगलानि-रो।
१६-१७. सतिद्धि-रो।
१८. बहूपकार भावतो-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०८. दळ्हग्गाहेन दिट्ठेजा, **उपादानं** तिधा तहिं ।
दिट्ठिदोसेन ते गन्था, गन्थतो दिट्ठिह[१] द्विधा[२] ।।३६।।

१०९. पञ्चावरणतो काम-कङ्खादोसुद्धवं[३] तपो[४] ।
थीनमिद्धञ्च मोहेन, छ वा **नीवरणानिथ**[५] ।।३७।।

११०. कत्वा तापुद्धवं एकं, थीनमिद्धञ्च वुच्चति ।
किच्चस्साहारतो चेव, विपक्खस्स[६] च लेसतो ।।३८।।

१११. [B11] दिट्ठेजुद्धवदोसन्ध-कङ्खाथीनुन्नती[७] दस ।
लोकनासयुगेनेते, **किलेसा**[८] चित्तक्लेसतो[९] ।।३९।।

११२. लोभदोसमूहमान-दिट्ठिकङ्खिस्समच्छरा[१०] ।
संयोजनानि दिट्ठेजा, भित्वा बन्धनतो दुधा ।।४०।।

११३. तानि मोहुद्धवंमान-कङ्खादोसेजदिट्ठियो[११] ।
दुधा दिट्ठि तिधा लोभं[१२], भित्वा[१३] सुत्ते दसीरिता[१४] ।।४१।।

११४. दिट्ठिलोभमूहमान-दोसकङ्खा तहिं दुधा ।
कत्वा लोभमिमे सत्ता-**नुसया**[१५] समुदीरिता ।।४२।।

११५. दिट्ठि एव[१६] **परामासो**, ञेय्यो एवं समासतो ।
अत्थो सङ्खारक्खन्धस्स, वुत्तो वुत्तानुसारतो ।।४३।।

इति[१७] सच्चसङ्खेपे खन्धत्तयसङ्खेपो नाम
दुतियो परिच्छेदो[१८]।

●

१-२. दिट्ठिहदिद्धधा-रो। ३-४. कामकङ्खा दसद्धवन्नपो-रो।
५. नीवरणान्यथा-रो। ६. विपक्कस्स-रो।
७. ०कङ्खा थीनुन्नती-रो; ०कङ्खाथिनुण्णती-म।
८. क्लेसा-रो। ९. चित्तकिलेसतो-रो।
१०. ०मच्छेरा-रो। ११. मोहुद्धच्चमानकङ्खा दोसेजदिट्ठियो-रो।
१२-१३. लोभम्भित्वा-रो। १४. दसेरिता-रो।
१५. सत्तनुसया-रो। १६. येव-रो।
१७-१८. वेदनादिखन्धत्तयविभागो नाम दुतियो परिच्छेदो-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. चित्तपवत्तिपरिदीपनो नाम
ततियो परिच्छेदो

११६. [R10] चित्तं विसयग्गाहं तं, पाकापाकदतो दुधा ।
कुसलाकुसलं पुब्बं, परमब्याकतं मतं ।।१।।

११७. कुसलं तत्थ कामादि-भूमितो[१] चतुधा सिया ।
अट्ठ पञ्च च[२] चत्तारि[३], चत्तारि कमतो कथं ।।२।।

११८. सोमनस्समतियुत्त-मसङ्खारमनेककं[४] ।
ससङ्खारमनञ्चेकं, तथा हीनमती[५] द्वयं ।।३।।

११९. तथोपेक्खामतियुत्तं, मतिहीनं[६] ति अट्ठधा ।
कामावचरपुञ्ञेत्थ[७], भिज्जते वेदनादितो ।।४।।

१२०. [B12] दानं सीलञ्च भावना, पत्तिदानानुमोदना ।
वेय्यावच्चापचायञ्च, देसना सुति[८] दिट्ठिजु[९] ।।५।।

१२१. एतेस्वेकमयं हुत्वा, वत्थुं निस्साय वा न[१०] वा[११] ।
द्वारहीनादियोनीनं, गतियादिप्पभेदवा ।।६।।

१२२. तिकालिकपरित्तादि-गोचरेस्वेकमादिय[१२] ।
उदेति कालमुत्तं वा, मतिहीनं[१३] विनामलं[१४] ।।७।।

---

१. कामादि भूमितो-रो।
२-३. चत्तारि च-म।
४. ०मसङ्खारमनमेकं-म।
५. हीनमति-म।
६. मति हीनं-रो।
७. कामावचरपुञ्ञेत्थेत्थ-रो।
८-९. सुतिदिट्ठुजु-रो।
१०-११. नवा-रो।
१२. तिकालिकपरित्तादि गोचरेस्वेकं आदिया-रो।
१३. मति हीनं-रो।
१४. विना मलं-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२३. छगोचरेसु[१] रूपादि-पञ्चकं[२] पञ्च[३] गोचरा[४] ।
सेसं[५] रूपमरूपञ्च[६], पञ्ञत्ति छट्ठगोचरा ।।८।।

१२४. ञाणयुत्तवरं तत्थ, दत्वा सन्धिं तिहेतुकं ।
पच्छा पच्चति पाकानं, पवत्ते अट्ठके दुवे ।।९।।

१२५. तेसु येव निहीनं तु, दत्वा सन्धिं दुहेतुकं ।
देति द्वादस पाके च, पवत्ते धीयुतं विना ।।१०।।

१२६. एवं धीहीनमुक्कट्ठं, सन्धियञ्च पवत्तियं ।
हीनं पनुभयत्था पि, हेतुहीनेव पच्चति ।।११।।

१२७. कामसुगतियं येव, भवभोगददं इदं ।
रूपापाये पवत्तेव, पच्चते अनुरूपतो ।।१२।।

१२८. वितक्कचारपीतीहि[७], सुखेकग्गयुतं[८] मनं ।
आदि चारादिपीतादि[९]-सुखादीहि परं तयं ।।१३।।

१२९. उपेक्खेकग्गतायन्त-मारुप्पञ्चेवमङ्गतो[१०] ।
पञ्चधा **रूपपुञ्ञं** तु, होतारम्मणतो पन ।।१४।।

१३०. आदिस्सासुभमन्तस्सु-पेक्खा मेत्तादयो तयो ।
आदो चतुन्नं पञ्चन्नं, सस्सासकसिणानि[११] तु ।।१५।।

१३१. नभतम्मनतस्सुञ्ञ-तच्चित्तचतुगोचरे ।
कमेनातिक्कमा**रुप्प-पुञ्ञं** होति चतुब्बिधं ।।१६।।

१३२. [B13] अमलं सन्तिमारब्भ, होति तं **मग्ग**योगतो ।
चतुधा पादकज्झान-भेदतो पुन वीसति ।।१७।।

---

१. छ गोचरेसु-रो।
२. रूपादि पञ्चकं-रो।
३-४. पञ्चगोचरा-रो।
५-६. सेसरूपमरूपञ्च-रो।
७. वितक्काचारपीतीहि-रो।
८. सुखेकग्ग-उतं-रो।
९. चारादि पीतादि-रो।
१०. ०मारुप्पं येवम्येवमङ्गतो-रो।
११. ससासकसिणानि-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३३. दिट्ठिकङ्खानुदं[१] आदि[२], कामदोसतनूकरं ।
परं परं तदुच्छेदी, अन्तं सेसकनासकं[३] ।।१८।।

१३४. [R11] एवं भूमित्तयं पुञ्ञं, भावनामयमेत्थ हि ।
पठमं वत्थुं निस्साय, दुतियं उभयेन पि ।।१९।।

१३५. ततिये आदि निस्साय, सेसा[४] निस्साय[५] वा न वा ।
होन्ति आदिद्वयं[६] तत्थ, साधेति सकभूभवं ।।२०।।

१३६. साधेतानुत्तरं सन्तिं, अभिञ्ञा, पनिधेव[७] तु ।
झानूदयफलत्ता[८] न, फलदाना[९] पि सम्भवा ।।२१।।

१३७. नाञ्ञभूफलदं कम्मं, रूपपाकस्स गोचरो ।
सकम्मगोचरो येव, न चञ्ञोयमसम्भवो[१०] ।।२२।।

१३८. पापं कामिकमेवेकं, हेतुतो तं द्विधा पुन ।
मूलतो तिविधं लोभ-दोसमोहवसा सिया ।।२३।।

१३९. सोमनस्सकुदिट्ठीहि, युत्तमेकमसङ्खरं[११] ।
ससङ्खारमनञ्चेकं, हीनदिट्ठिद्वयं[१२] तथा ।।२४।।

१४०. उपेक्खादिट्ठियुत्तम्पि[१३], तथा दिट्ठिवियुत्तकं ।
वेदनादिट्ठिआदीहि[१४], **लोभमूले**वमट्ठधा ।।२५।।

१४१. सदुक्खदोसासङ्खारं, इतरं **दोसमूलकं** ।
मोहमूलम्पि सोपेक्खं, कङ्खुद्धच्चयुतं[१५] द्विधा ।।२६।।

१४२. तत्थ दोसद्वयं वत्थुं[१६], निस्सायेवितरे पन ।
निस्साय वा न[१७] वा[१८] होन्ति, वधादिसहिता कथं ।।२७।।

१-२. दिट्ठि कङ्खमिदमादि-रो।
३. सेसाघनासकं-रो।
४-५. सेसानिस्साय-रो।
६. आदिद्द्वयं-रो।
७. पनिध एव-रो।
८-९. झानोदय फलत्तान-फलदाना-रो।
१०. चञ्ञो यमसम्भवो-रो।
११. उत्तमेकमसङ्खरं-रो।
१२. ०दिट्ठिद्द्वयं-रो।
१३. उपेक्खा दिट्ठि उत्तम्पि-रो।
१४. वेदना दिट्ठि आदीहि-रो।
१५. कङ्खुद्धच्चउतं-रो।
१६. वत्थं-रो।
१७-१८. नवा-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४३. फरुस्सवचब्यापादा[१], सदोसेन[२] सलोभतो ।
कुदिट्ठिमेथुनाभिज्झा, सेसा कम्मपथा[३] द्विभि[४] ।।२८।।

१४४. [B14] सन्धिं चतूस्वपायेसु[५], देति सब्बत्थ वुत्तियं ।
पच्चते गोचरं तस्स, सकलं[६] अमलं[७] विना ।।२९।।

१४५. अब्याकतं द्विधा पाक-क्रिया तत्थादि भूमितो ।
चतुधा कामपाकेत्थ[८], पुञ्ञपाकादितो दुधा ।।३०।।

१४६. पुञ्ञपाका द्विधाहेतु-सहेतू ति द्विरट्ठका ।
अहेतू[९] पञ्च ञाणानि[१०], गहणं तीरणा[११] उभो ।।३१।।

१४७. कायञाणं सुखी[१२] तत्थ[१३], सोमनस्सादि[१४] तीरणं[१५] ।
सोपेक्खानि[१६] छ सेसानि, सपुञ्ञं व सहेतुकं ।।३२।।

१४८. केवलं सन्धिभवङ्ग-तदालम्बचुतिब्बसा[१७] ।
जायते सेसमेतस्स[१८], पुब्बे वुत्तनया नये ।।३३।।

१४९. मनुस्सविनिपातीनं, सन्धादि अन्ततीरणं ।
होति अञ्ञेन कम्मेन, सहेतू[१९] पि अहेतुनं ।।३४।।

१५०. पापजा पुञ्ञजाहेतु-समा[२०] तीरं[२१] विनादिकं ।
सदुक्खं कायविञ्ञाणं, अनिट्ठारम्मणा इमे ।।३५।।

१५१. ते सातगोचरा तेसु, द्विट्ठानं[२२] आदितीरणं[२३] ।
पञ्चट्ठानापरा द्वे ते, परित्तविसयाखिला[२४] ।।३६।।

१५२. सम्पटिच्छद्विपञ्चन्नं, पञ्च रूपादयो तहिं ।
पच्चुप्पन्ना व सेसानं, पाकानं छ तिकालिका ।।३७।।

१-२. फरुसवधब्बयापादासो दोसेन-रो।
३-४. कम्मपथाति हि-रो।
५. चतुस्वपायेसु-रो।
६-७. सकलममलं-रो।
८. कामपाहेत्थ-रो।
९-१०. अहेतुपञ्ञञाणानि-रो।
११. तिरणा-रो।
१२-१३. सुखीलत्थ-रो।
१४-१५. सोमनस्सादितीरणं-रो।
१६. से पेक्खानि-रो।
१७. ०चुतीवसा-रो।
१८. सेसेमे तस्स-रो।
१९. सहेतु-म।
२०-२१. पुञ्ञजा हेतू समातीरं-रो।
२२-२३. द्विठानमादितीरणं-रो।
२४. परित्तविसया खिला-रो।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

१५३. [R12] रूपारूपविपाकानं, सब्बसो सदिसं वदे ।
सकपुञ्ञेन सन्धादि-सकिच्चत्तयतं[1] विना ।।३८।।

१५४. समानुत्तरपाका पि, सकपुञ्ञेन[2] सब्बसो ।
हित्वा मोक्खमुखं तं[3] हि[4], द्विधा मग्गे तिधाफले[5] ।।३९।।

१५५. क्रिया तिधामलाभावा[6], भूमितो[7] तत्थ कामिका ।
द्विधा[8] हेतुसहेतू[9] ति, तिधाहेतु[10] तहिं कथं ।।४०।।

१५६. [B15] आवज्जहसितावज्जा, सोपेक्खसुखुपेक्खवा[11] ।
पञ्चछकामावचरा[12], सकलारम्मणा[13] च ते ।।४१।।

१५७. सहेतुरूपरूपा[14] च, सकपञ्ञंवारहतो[15] ।
वुत्तिया न फले पुप्फं, यथा छिन्नलता फलं ।।४२।।

१५८. अनासेवनयावज्ज-द्वयं[16] पुथुज्जनस्स[17] हि ।
न फले वत्तमानम्पि, मोघपुप्फं फलं यथा ।।४३।।

१५९. तिसत्त द्विछ छत्तिंस, चतुपञ्च[18] यथाक्कमं ।
पुञ्ञं[19] पापं फलं क्रिया[20], **एकूननवुतीविधं**[21] ।।४४।।

१६०. सन्धि[22] भवङ्गमावज्जं[23], दस्सनादिकपञ्चकं ।
गहतीरणवोट्ठब्ब-जवतग्गोचरं[24] चुति[25] ।।४५।।

१६१. इति एसं द्विसत्तन्नं, किच्चवुत्तिवसाधुना ।
चित्तप्पवत्ति छद्वारे[26], सङ्खेपा वुच्चते कथं ।।४६।।

---

१. सन्धादि सककिच्चत्तयं-रो।
२. सकपुञ्ञेहि-रो।
३-४. तञ्हि-रो।
५. तिधफले-रो।
६. तिधा मलाभावा-रो।
७. भुम्मितो-रो।
८-९. द्विधाहेतु-सहेतू-रो।
१०. तिधा हेतु-रो।
११. सोपेक्खा सुखुपेक्खवा-रो।
१२-१३. पञ्च छ कामावचरसकलारम्मणा-रो।
१४. सहेतुरूपारूपा-रो।
१५. सकपुञ्ञं वरहतो-रो।
१६. अनासेवनया वज्जद्द्वयं-रो।
१७. पोथुज्जनस्स-रो।
१८. चतु पञ्च-रो।
१९-२०. पुञ्ञपापफलक्किरया-रो।
२१. एकूननवुतिब्बिधं-रो।
२२-२३. सन्धिभवङ्गमावज्ज-रो।
२४-२५. जवमग्गोचरच्चुति-रो।
२६. छद्द्वारे-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६२. कामे सरागिनं कम्म-निमित्तादि चुतिक्खणे ।
खायते मनसो येव, सेसानं कम्मगोचरो ।।४७।।

१६३. उपट्ठितं तमारब्भ, पञ्चवारं जवो[१] भवे[२] ।
तदालम्बं ततो तम्हा, चुति होति जवेहि वा ।।४८।।

१६४. अविज्जातण्हासङ्खार-सहजेहि[३] अपायिनं ।
विसयादीनवच्छादि-नमनक्खिपकेहि[४] तु ।।४९।।

१६५. अप्पहीनेहि सेसानं, छादनं नमनम्पि[५] च ।
खिपका पन सङ्खारा, कुसलाव[६] भवन्तिह[७] ।।५०।।

१६६. किच्चत्तये कते एवं, कम्मदीपितगोचरे ।
तज्जं वत्थुं सहुप्पन्नं, निस्साय वा न वा तहिं ।।५१।।

१६७. तज्जा सन्धि सिया हित्वा, अन्तरत्तं भवन्तरे ।
अन्तरत्तं विना दूरे, पटिसन्धि कथं भवे ।।५२।।

१६८. इहेव कम्मतण्हादि-हेतुतो[८] पुब्बचित्तको[९] ।
चित्तं दूरे सिया दीपं-पटिघोसादिकं यथा ।।५३।।

१६९. [B16] नासञ्ञा चवमानस्स, निमित्तं न चुती च यं ।
उद्धं सन्धिनिमित्तं किं, पच्चयो पि कनन्तरो[१०] ।।५४।।

१७०. पुब्बभवे चुति दानि, कामे जायनसन्धिया ।
अञ्ञचित्तन्तराभावा, होतानन्तरकारणं ।।५५।।

१७१. भवन्तरकतं कम्मं, यमोकासं लभे ततो ।
होति सा सन्धि तेनेव, उपट्ठापितगोचरे ।।५६।।

१७२. [R13] यस्मा चित्तविरागत्तं, कातुं नासक्खि सब्बसो ।
तस्मा सानुसयस्सेव, पुनुप्पत्ति सिया भवे ।।५७।।

१-२. जवोभवे-रो।
३. अविज्जा तण्हा सङ्खारसहजेहि-रो।
४. विसयादि नवच्छादन मनक्खिपकेहि-रो।
५. न मनम्पि-रो।
६-७. कुसलावभवन्तिह-रो।
८. कम्मतण्हादि हेतुतो-रो।
९. पुब्बचित्ततो-रो।
१०. क्वनन्तरो-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७३. पञ्चद्वारे सिया सन्धि, विना कम्मं द्विगोचरे ।
भवसन्धानतो सन्धि, भवङ्गं तं तदङ्गतो ।।५८।।

१७४. तमेवन्ते चुति[१] तस्मिं, गोचरे चवनेन[२] तु ।
एकसन्ततिया एवं, उप्पत्तिट्ठितिभेदका ।।५९।।

१७५. अथञ्ञारम्मणापाथ-गते[३] चित्तनन्तरस्स हि ।
हेतुसङ्ख्यं भवङ्गस्स, द्विक्खत्तुं चलनं भवे ।।६०।।

१७६. घट्टिते अञ्ञवत्थुम्हि, अञ्ञनिस्सितकम्पनं[४] ।
एकाबद्धेन होती ति, सक्खरोपमता[५] वदे ।।६१।।

१७७. मनोधातुक्रियावज्जं, ततो होति सकिं भवे[६] ।
दस्सनादि सकद्वार-गोचरो[७] गहणं ततो ।।६२।।

१७८. सन्तरीणं ततो तम्हा, वोट्ठब्बञ्च सकिं ततो ।
सत्तक्खत्तुं जवो कामे, तम्हा तदनुरूपतो ।।६३।।

१७९. तदालम्बद्विकं तम्हा, भवङ्गतिमहन्तरि[८] ।
जवा महन्ते वोट्ठब्बा, परित्ते[९] नितरे[१०] मनं ।।६४।।

१८०. वोट्ठब्बस्स परित्ते तु, द्वत्तिक्खत्तुं जवो विय ।
वदन्ति वुत्तिं तं[११] **पाठे**[१२] अनासेवनतो न हि ।।६५।।

१८१. नियमो पिध चित्तस्स, कम्मादिनियमो[१३] विय ।
ञेय्यो अम्बोपमादीहि[१४], दस्सेत्वा तं सुदीपये ।।६६।।

१८२. [B17] मनोद्वारेतरावज्जं[१५], भवङ्गम्हा सिया ततो ।
जवो कामे विभूते तु, कामव्हे[१६] विसये ततो ।।६७।।

---

१. चुती-रो।
२. वचनेन-रो।
३. अथञ्ञारम्मणा पाठगते-रो।
४. अञ्ञनिस्सिता कम्पनं-रो।
५. सङ्खारोपमया-रो।
६. ततो-रो।
७. सकद्द्वारगोचरे-रो।
८. भवङ्गन्ति महन्तरि-रो।
९-१०. परित्तेनित्तरे-रो।
११-१२. तम्पाठे-रो।
१३. कम्मादि नियमो-रो।
१४. अम्बोपमादीनि-रो।
१५. मनोद्वारेतरा वज्जं-रो।
१६. कामके-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८३. कामीनं तु तदालम्बं, भवङ्ग तु ततो सिया ।
अविभूते परित्ते[१] च[२], भवङ्गं जवतो भवे ।।६८।।

१८४. अविभूते विभूते च, परित्ते अपरित्तके[३] ।
जवा येव भवङ्गं तु, ब्रह्मानं चतुगोचरे ।।६९।।

१८५. महग्गतं पनारब्भ, जविते दोससंयुते ।
विरुद्धत्ता भवङ्गं[४] न[५], किं सिया सुखसन्धिनो[६] ।।७०।।

१८६. उपेक्खातीरणं[७] होति, परित्तेनावज्जं[८] कथं ।
नियमो न विनावज्जं[९], मग्गतो फलसम्भवा ।।७१।।

१८७. महग्गतामला[१०] सब्बे, जवा गोत्रभुतो[११] सियुं ।
निरोधा च फलुप्पत्ति, भवङ्गं जवनादितो ।।७२।।

१८८. सहेतुसासवा[१२] पाका, तीरणा द्वे चुपेक्खका ।
इमे सन्धि[१३] भवङ्गा[१४] च, चुति चेकूनवीसति[१५] ।।७३।।

१८९. द्वे द्वे आवज्जनादीनि, गहणन्तानि तीणि तु ।
सन्तीरणानि एकं[१६] व[१७], वोट्ठब्बमिति[१८] नामकं[१९] ।।७४।।

१९०. [R14] अट्ठ[२०] काममहापाका[२१], तीणि सन्तीरणानि च ।
एकादस भवन्तेते, तदारम्मणनामका ।।७५।।

१९१. कुसलाकुसलं सब्बं, क्रिया चावज्जवज्जिता ।
फलानि पञ्चपञ्ञास[२२], जवनानि भवन्तिमे ।।७६।।

इति[२३] सच्चसङ्खेपे चित्तपवत्तिपरिदीपनो नाम
ततियो परिच्छेदो[२४]।

१-२. चापरित्ते-रो।
३. चापरित्तके-रो।
४-५. भवङ्गन्ता-रो।
६. सुखसन्धिते-रो।
७. उपेक्खा तीरणं-रो।
८. परित्ते नावज्जं-रो।
९. विना वज्जं-रो।
१०. महग्गता मला-रो।
११. गोत्रभुतो-रो।
१२. सहेतु सासवा-रो।
१३-१४. सन्धिभवङ्गा-रो।
१५. चेकून वीसति-रो।
१६-१७. एकञ्च-रो।
१८-१९. वोट्ठब्बमितिनामकं-म।
२०-२१. अट्ठकाममहापाका-रो।
२२. पञ्च पञ्ञास-रो।
२३-२४. चित्तप्पवत्तिविभागो नाम ततियो परिच्छेदो-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. विञ्ञाणक्खन्धपकिण्णकनयसङ्खेपो नाम चतुत्थो परिच्छेदो

१९२. [B18] एकाधादिनयोदानि, पाटवत्थाय[१] योगिनं ।
वुच्चते विसयग्गाहा, सब्बमेकविधं मनं ।।१।।

१९३. एकासीति तिभूमट्ठं, लोकियं सुत्तरञ्च तं ।
सेसं लोकुत्तरं अट्ठ, अनुत्तरञ्चिती[२] **द्विधा**[३] ।।२।।

१९४. लोकपाकक्रियाहेतू[४], चेकहेतू[५] ति सत्तहि ।
तिंस[६] नाधिपति[७] साधि-पति[८] सेसा[९] ति पी द्विधा[१०] ।।३।।

१९५. छन्दचित्तीहवीमंसा[११]-स्वेकेन मतिमा[१२] युतं[१३] ।
विना वीमंसमेकेन, ञाणहीनमनं युतं ।।४।।

१९६. परित्तानप्पमाणानि, महग्गतमनानिति[१४] ।
तिधा छनव[१५] चट्ठ च[१६], तिनवा[१७] च यथाक्कमं ।।५।।

१९७. द्विपञ्च चित्तं विञ्ञाणं, तिस्सो हि मनधातुयो[१८] ।
छसत्तति[१९] मनोञाण-धातू[२०] ति **तिविधा** पुन ।।६।।

---

१. पटुवङ्गाय-म।
२-३. अनुत्तरञ्च इति-द्विद्वधा-रो।
४. लोकपाकक्रिया हेतु-रो।
५. चेक हेतू-रो।
६-७. तिंसनाधिपति-रो।
८. साधीपती-रो।
९-१०. सेसानीतिद्विद्वधा-रो।
११. छन्दवित्तिहवीमंसा-रो।
१२-१३. मतिमायुतं-रो।
१४. महग्गतमनानि ति-रो।
१५. छ नव-रो।
१६. चाति-रो।
१७. नवा-रो।
१८. मनोधातुयो-म।
१९. छ सत्तति-रो।
२०. मनो ञाणधातू-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९८. एकारम्मणचित्तानि, अनभिञ्ञं महग्गतं ।
अमनं पञ्चविञ्ञाणं[१], नवपञ्च[२] भवन्तिमे ।।७।।

१९९. पञ्चालम्बं मनोधातु, साभिञ्ञं कामधातुजं ।
सेसं छारम्मणं तं हि, तेचत्तालीस[३] सङ्ख्यतो ।।८।।

२००. कामपाकदुसा चादि-मग्गो[४] चादिक्रिया दुवे ।
रूपा[५] सब्बेतिरूपे न[६], तेचत्तालीस[७] होन्तिमे ।।९।।

२०१. विना व रूपेनारुप्प-विपाका चतुरो सियुं ।
द्वेचत्तालीस[८] सेसानि, वत्तन्तुभयथा पि च ।।१०।।

२०२. **चतुधा** पि अहेत्वेक-द्विहेतुकतिहेतुतो ।
अट्ठारस[९] द्वे बावीस, सत्तचत्तालिसं भवे[१०] ।।११।।

२०३. [B19] कामे[११] जवा[१२] सवोट्ठब्बा, अभिञ्ञाद्वयमेव[१३] च ।
रूपिरियापथविञ्ञत्ति-करामे[१४] चतुरट्ठका ।।१२।।

२०४. छब्बीसति जवा[१५] सेसा[१६], करा रूपिरियापथे[१७] ।
द्विपञ्चमनवज्जानि[१८], कामरूपफलानि च ।।१३।।

२०५. [R15] आदिक्रिया ति चेकून-वीस[१९] रूपकरा[२०] इमे ।
सेसा चुद्दस भिन्नाव-चुति[२१] सन्धि न तीणि पि ।।१४।।

२०६. एककिच्चादितो **पञ्च-विधा** तत्थेककिच्चका ।
द्विपञ्चचित्तं जवनं, मनोधातुट्ठसट्ठिमे[२२] ।।१५।।

---

१. पञ्च विञ्ञाणं-रो। २. नव पञ्च-रो।
३. तेचत्ताळीस-रो। ४. चादि मग्गो-रो।
५-६. रूपे सब्बेत्यरूपेन-रो। ७. तिचत्ताळीस-रो।
८. द्वे चत्ताळीस-रो।
९-१०. अट्ठारसद्वेबावीस-सत्त-चत्ताळीस सम्भवे-रो।
११-१२. कामेजवा-रो। १३. अभिञ्ञाद्वयमेव-रो।
१४. रूपियापथ-विञ्ञत्तिकरामे-रो। १५-१६. जव सेसा-रो।
१७. रूपीरियापथे-रो। १८. द्विपञ्च मनवज्जानि-रो।
१९-२०. चेकूनवीसरूपकरा-रो। २१. भिन्नाघचुति-रो।
२२. मनोधात्वट्ठसट्ठिमे-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०७. द्विकिच्चादीनि वोट्ठब्बं, सुखतीरं महग्गते ।
पाका काममहापाका, सेसा तीरा यथाक्कमं ।।१६।।

२०८. दस्सनं सवनं दिट्ठं, सुतं घायनकादिकं ।
तयं मुतं मनोधातु-त्तयं दिट्ठं सुतं मुतं ।।१७।।

२०९. दिट्ठं सुतं मुतं ञातं, साभिञ्ञं सेसकामिकं[1] ।
विञ्ञातारम्मणं सेस-मेवं **छब्बिधमी**रये ।।१८।।

२१०. **सत्तधा** सत्तविञ्ञाण-धातूनं तु वसा भवे ।
वुच्चतेदानि[2] तस्सेव, अनन्तरनयक्कमो ।।१९।।

२११. पुञ्ञेस्वादिद्वया[3] कामे, रूपपुञ्ञमनन्तकं ।
तप्पादकुत्तरानन्तं, भवङ्गञ्चादितीरणं ।।२०।।

२१२. दुतियन्तद्वया[4] तीरं, भवङ्गं ततियद्वया[5] ।
ते अनन्तामलं[6] पुञ्ञं, मज्झत्तञ्च महग्गतं ।।२१।।

२१३. सब्बवारे सयञ्चेति, तेपञ्ञास तिसत्त च ।
तेत्तिंस[7] च भवन्तेते, रूपेसु पन पुञ्ञतो ।।२२।।

२१४. तप्पाका च मतियुत्त-कामपाका सयं दस ।
आरुप्पपुञ्ञतो ते च, सको पाको सयं पुन ।।२३।।

२१५. अधोपाका[8] च अन्तम्हा, ततियञ्च फलन्तिमे ।
दसेकद्वितिपञ्चाहि[9], मग्गा चेकं सकं फलं ।।२४।।

२१६. [B20] लोभमूलेकहेतूहि, अन्तकामसुभा विय ।
सत्त[10] दोसद्वया[11] काम-भवङ्गुपेक्खवा[12] सयं ।।२५।।

---

१. सेसकामिनं-रो।
२. वुच्चते दानि-रो।
३. पुञ्ञेस्वादिद्द्वया-रो।
४. दुतियन्तद्द्वया-रो।
५. ततियद्द्वया-रो।
६. चानन्तामलं-रो।
७. तेत्तिंसा-रो।
८. अधो पाको-रो।
९. ०पञ्चहि-रो।
१०-११. सत्तदोसद्द्वया-रो।
१२. ०पेक्खना-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१७. महापाकतिहेतूहि, सावज्जा सब्बसन्धियो ।
कामच्चुतीहि[१] सेसाहि, सावज्जा कामसन्धियो ।।२६।।

२१८. कामच्चुति[२] च वोट्ठब्बं, सयञ्च सुखतीरतो ।
पटिच्छा[३] तीरणानि द्वे[४], इतरा सकतीरणं ।।२७।।

२१९. सकं सकं पटिच्छं तु, विञ्ञाणेहि द्विपञ्चहि ।
रूपपाकेहि सावज्जा, सन्धियोहेतुवज्जिता[५] ।।२८।।

२२०. अरूपपाकेस्वादिम्हा, कामपाका तिहेतुका ।
अन्तावज्जम्पि चारुप्प-पाका च नव होन्तिमे ।।२९।।

२२१. दुतियादीहि ते येव, अधोपाकं विना विना ।
फला तिहेतुका पाका, सयञ्चेति चतुद्दस ।।३०।।

२२२. द्विपञ्चादिक्रिया[६] हासा, सयञ्चारुप्पवज्जिता ।
ञाणयुत्तभवङ्गा ति, दस वोट्ठब्बतो पन ।।३१।।

२२३. [R16] कामे जवा भवङ्गा च, कामरूपे सयम्पि वा ।
नवपञ्च[७] सहेतादि-किरियद्वयतो[८] पन ।।३२।।

२२४. सयं भवङ्गमतिमा, रूपे सातक्रिया[९] पि च ।
तप्पादकन्तिमञ्चेति[१०], बावीस ततिया पन ।।३३।।

२२५. ते च पाका सयञ्चन्ते[११], फलं[१२] मज्झा महग्गता ।
क्रिया ति वीसति होन्ति, सेसद्वीहि दुकेहि तु ।।३४।।

२२६. वुत्तपाका सयञ्चेति, चुद्दसेवं क्रियाजवा[१३] ।
तदारम्मणं[१४] मुञ्चित्वा,[१५] पट्ठाननयतो नये ।।३५।।

---

१. कामचुतीहि-रो।
२. कामचुति-रो।
३-४. पटिच्छा-तीरणानिद्द्वे-रो।
५. सन्धियो हेतुवज्जिता-रो।
६. द्विपञ्चादि क्रिया-रो।
७-८. नव पञ्च सहेत्वादि किरियाद्वयतो-रो।
९. सातक्किया-रो; एवमग्गे पि।
१०. तप्पादकं तिमञ्चेति-रो।
११-१२. पाकासञ्चन्तेफलं-रो।
१३. क्रिया जवा-रो।
१४-१५. तदालम्बं विमुञ्चित्वा-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२७. अथ सातक्रिया सातं, सेसं सेसक्रिया पि च ।
तदालम्बं यथायोगं, वदे अट्ठकथानया ।।३६।।

२२८. महग्गता क्रिया सब्बा, सकपुञ्ञसमा तहिं ।
अन्ता फलन्तिमं होति, अयमेव विसेसता[१] ।।३७।।

२२९. [B21] इमस्सानन्तरं धम्मा, एत्तका ति पकासिता ।
इमं पनेत्तकेही ति, वुच्चतेयं नयोधुना[२] ।।३८।।

२३०. द्वीहि कामजवा तीहि, रूपारूपा चतूहि च ।
मग्गा छहि फलादि[३] द्वे[४], सेसा द्वे पन सत्तहि ।।३९।।

२३१. एकम्हा दस पञ्चहि, पटिच्छा सुखतीरणं ।
कामे दोसक्रियाहीन-जवेहि[५] गहतो सका ।।४०।।

२३२. कामे जवा क्रियाहीना, तदालम्बा सवोट्ठब्बा ।
सगहञ्चेति तेत्तिसं-चित्तेहि[६] परतीरणा[७] ।।४१।।

२३३. कामपुञ्ञसुखीतीर-कण्हवोट्ठब्बतो द्वयं ।
महापाकन्तिमं होति, अनारुप्पचुतीहि च ।।४२।।

२३४. सत्ततिसं पनेतानि, एत्थ हित्वा दुसद्वयं[८] ।
एतेहि पञ्चतिंसेहि, जायते दुतियद्वयं[९] ।।४३।।

२३५. सुखतीरादि सत्तेते, क्रियतो चा पि सम्भवा ।
ञेय्या सेसानि चत्तारि, भवङ्गेन च लब्भरे ।।४४।।

२३६. मग्गवज्जा सवोट्ठब्ब[१०]-सुखितीरजवाखिला[११] ।
चुती ति नवकट्ठाहि[१२], ततियद्वयमादिसे ।।४५।।

---

१. विसेसका-रो। २. मयोधुना-रो।
३-४. फलादिद्वे-रो। ५. दोसक्किया०-रो।
६. तेत्तिंस चित्तेहि-रो। ७. तीरणापरं-रो।
८. दुसद्वयं-रो। ९. दुतियद्वयं-रो।
१०-११. सवोट्ठब्बा सुखीतीरजवा खिला-रो। १२. नवकट्ठहि-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३७. एतेहि दोसवज्जेहि, सत्ततीहितरद्वयं[१] ।
रूपपाका विनारुप्प[२]-पाकाहेतुदुहेतुके[३] ।।४६।।

२३८. तेहेवेकूनसट्ठीहि, होन्तिरुप्पादिकं[४] विना ।
हासावज्जे जवे रूपे, अट्ठछक्केहि[५] तेहि तु ।।४७।।

२३९. साधोपाकेहि तेहेव, दुतियादीनि अत्तना ।
अधोधोजवहीनेहि, एकेकूनेहि जायरे ।।४८।।

२४०. सुखीतीरभवङ्गानि, सयञ्चा ति तिसत्तहि ।
अन्तावज्जं अनारुप्प-भवङ्गेहि पनेतरं ।।४९।।

२४१. वुत्तानन्तरसङ्खातो, नयो दानि अनेकधा ।
पुग्गलादिप्पभेदा पि, पवत्ति तस्स वुच्चते ।।५०।।

२४२.[R17,B22] पुथुज्जनस्स जायन्ते, दिट्ठिकङ्खायुतानि वे ।
सेक्खस्सेवामला[६] सत्त, अनन्तानितरस्स तु ।।५१।।

२४३. अन्तामलं अनावज्ज-क्रिया चेकूनवीसति ।
कुसलाकुसला सेसा, होन्ति सेक्खपुथुज्जने ।।५२।।

२४४. इतरानि पनावज्ज-द्वयं[७] पाका च सासवा ।
तिण्णन्नम्पि सियुं एवं, पच्चधा सत्तभेदतो ।।५३।।

२४५. कामे सोळस घानादि-त्तयं[८] दोसमहाफला ।
रूपारूपे सपाको[९] ति, पञ्चवीसति एकजा ।।५४।।

२४६. कामपाका च[१०] सेसादि-मग्गो[११] आदिक्रिया[१२] दुवे ।
रूपे जवा ति बावीस[१३], द्विजा[१४] सेसा तिधातुजा ।।५५।।

---

१. सत्ततीहितरद्द्वयं-रो।
२-३. विनारुप्पपाका हेतु दुहेतुके-रो।
४. होन्त्यारुप्पादिकं-रो।
५. अट्ठ छक्केहि-रो।
६. सेक्खस्सेव मला-रो।
७. पनावज्ज द्वयं-रो।
८. घाणादित्तयं-रो।
९. सपाका-रो।
१०. व-रो।
११-१२. सेसादि मग्गो चादि क्रिया-रो।
१३-१४. बावीसद्विजा-रो।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

२४७. वित्थारो पि च भूमीसु[१], ञेय्यो कामसुभासुभं ।
हासवज्जमहेतुञ्च, अपाये सत्ततिंसिमे ।।५६।।

२४८. हित्वा महग्गते पाके, असीति सेसकामिसु ।
चक्खुसोतमनोधातु, तीरणं[२] वोट्ठब्बम्पि[३] च ।।५७।।

२४९. दोसहीनजवा सो सो, पाको रूपे अनारिये[४] ।
पञ्चसट्ठि छसट्ठी[५] तु, परित्ताभादिसु[६] तीसु ।।५८।।

२५०. आदिपञ्चामला कङ्खा-दिट्ठियुत्ते[७] विना तहिं ।
ते येव पञ्चपञ्ञास[८], जायरे सुद्धभूमीसु[९] ।।५९।।

२५१. आदिमग्गदुसाहास[१०] - रूपहीनजवा सको ।
पाको वोट्ठब्बनञ्चा[११] ति, तिचत्तालीसं[१२] सियुं नभे ।।६०।।

२५२. अधोधोमनवज्जा[१३] ते, पाको चेव सको सको ।
दुतियादीसु जायन्ते, द्वे द्वे ऊना ततो ततो ।।६१।।

२५३. अरूपेस्वेकमेकस्मिं रूपेस्वादित्तिके पि च ।
तिके च ततिये एकं, द्वे होन्ति दुतियत्तिके ।।६२।।

२५४. [B23] अन्तिमं रूपपाकं तु, छसु वेहप्फलादिसु ।
कामसुगतियं येव, महापाका[१४] पवत्तरे ।।६३।।

२५५. घायनादित्तयं[१५] कामे, पटिघद्वयमेव[१६] च ।
सत्तरसेसु पठमं, अमलं मानवादिसु ।।६४।।

२५६. अरियापायवज्जेसु, चतुरादिप्फलादिका[१७] ।
अपायारुप्पवज्जेसु[१८], हासरूपसुभक्रियं[१९] ।।६५।।

---

१. भुम्मीसु-रो।
२-३. तीरवोट्ठपनम्पि-रो।
४. अनरिये-रो।
५. छसट्ठि-रो।
६. परित्ताभादीसु-म।
७. कङ्खा दिट्ठियुत्ते-रो।
८. पञ्च पञ्ञास-रो।
९. सुद्धिभुम्मिसु-रो।
१०. आदिमग्गदुसहास-रो।
११. वोट्ठपनञ्चा-रो।
१२. तिताळीसा-रो।
१३. अधोधो मनवज्जा-रो।
१४. महा पाका-रो।
१५. खाणादिकत्तयं-रो।
१६. पटिघद्द्वयमेव-रो।
१७. चतुरोदिप्फलादिका-म।
१८. अपायरुप्प०-रो।
१९. हासरूपसुभक्रिया-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५७. अपायुद्धत्तयं हित्वा, होताकाससुभक्रियं[१] ।
तथापायुद्धद्वे[२] हित्वा, विञ्ञाणकुसलक्रियं[३] ।।६६।।

२५८. भवग्गापायवज्जेसु, आकिञ्चञ्ञसुभक्रियं[४] ।
दिट्ठिकङ्खायुता सुद्धे, विना सब्बासु भूमिसु ।।६७।।

२५९. अमलानि च तीणन्ते, भवग्गे च सुभक्रिया[५] ।
महाक्रिया[६] च होन्तेते, तेरसेवानपायिसु ।।६८।।

२६०. [R18] अनारुप्पे मनोधातु, दस्सनं[७] सवतीरणं[८] ।
कामे अनिट्ठसंयोगे[९], ब्रह्मानं[१०] पापजं फलं ।।६९।।

२६१. वोट्ठब्बं कामपुञ्ञञ्च, दिट्ठिहीनं[११] सउद्धवं ।
चुद्दसेतानि चित्तानि, जायरे तिंसभूमिसु[१२] ।।७०।।

२६२. इन्द्रियानि दुवे अन्त-द्वयवज्जेस्वहेतुसु ।
तीणि कङ्खेतराहेतु[१३], पापे चत्तारि तेरस ।।७१।।

२६३. छ ञाणहीने तब्बन्त-सासवे[१४] सत्त[१५] निम्मले[१६] ।
चत्तालीसे[१७] पनट्ठेवं, ञेय्यमिन्द्रियभेदतो[१८] ।।७२।।

२६४. द्वे बलानि अहेत्वन्त-द्वये[१९] तीणि तु संसये ।
चत्तारितरपापे[२०] छ, होन्ति सेसदुहेतुके[२१] ।।७३।।

२६५. एकूनासीतिचित्तेसु[२२], मतियुत्तेसु सत्त तु ।
अबलानि हि सेसानि, विरियन्तं[२३] बलं भवे ।।७४।।

---

१. ०सुभक्किरयं-रो।
२. तथापायुद्ध द्वे-रो।
३. ०कुसलक्किरयं-रो।
४. ०सुभक्किरयं-रो।
५. सुभक्किरया-रो।
६. महा क्रिया-रो।
७-८. दस्सनस्स व तीरणं-रो।
९. अनिट्ठ संयोगे-रो।
१०. ब्रह्माणं-रो।
११. दिट्ठि हीनं-रो।
१२. तिंस भुम्मिसु-रो।
१३. कङ्खेतरा हेतु-रो।
१४. तब्बन्त सासवे-रो।
१५-१६. सत्तनिम्मले-रो।
१७. चत्ताळीस-रो।
१८. ञेय्यामिन्द्रियभेदतो-रो।
१९. अहेत्वन्त द्वये-रो।
२०. चत्तारीतर पापे-रो।
२१. सेस दुहेतुके-रो।
२२. एकूनासीति चित्तेसु-रो।
२३. वीरियन्तं-म; सब्बत्थ 'वी' इति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६६. [B24] अझानङ्गानि द्वेपञ्च[१], तक्कन्ता हि तदङ्गता ।
झाने पीतिविरत्ते त-प्पादके अमले[२] दुवे ।।७५।।

२६७. ततिये सामले तीणि, चत्तारि दुतिये तथा ।
कामे निप्पीतिके चा पि, पञ्चङ्गानि हि सेसके ।।७६।।

२६८. मग्गा द्वे संसये दिट्ठि-हीनसेसासुभे[३] तयो ।
दुहेतुकेतरे सुद्ध-ज्झाने[४] च दुतियादिके ।।७७।।

२६९. चत्तारो पञ्च पठम-झानकामतिहेतुके[५] ।
सत्तामले दुतियादि-झानिके[६] अट्ठ सेसके ।।७८।।

२७०. हेत्वन्ततो हि मग्गस्स, अमग्गङ्गमहेतुकं ।
छ मग्गङ्गयुतं नत्थि, बलेहि पि च पञ्चहि ।।७९।।

२७१. सुखितीरतदालम्बं[७], इट्ठे पुञ्ञजुपेक्खवा[८] ।
इट्ठमज्झेतरं होति, तब्बिपक्खे तु गोचरे ।।८०।।

२७२. दोसद्वया[९] तदालम्बं, न सुखिक्रियतो[१०] पन ।
सब्बं सुभासुभे नट्ठे, तदारम्मणवाचतो[११] ।।८१।।

२७३. क्रियतो वा तदालम्बं, सोपेक्खाय[१२] सुखी न हि ।
इतरा इतरञ्चेति, इदं सुट्ठुपलक्खये[१३] ।।८२।।

२७४. सन्धिदायककम्मेन, तदालम्बपवत्तियं[१४] ।
नियामनं जवस्साहु[१५], कम्मस्सेवञ्ञकम्मतो ।।८३।।

२७५. चित्ते चेतसिका यस्मिं, ये वुत्ता ते समासतो ।
वुच्चरे दानि द्वेपञ्च[१६], सब्बगा सत्त जायरे ।।८४।।

---

१. द्वे पञ्च-रो।
२. चामले-रो।
३. दिट्ठिहीनसेसा सुभे-रो।
४. सुद्धझाने-रो।
५. पठमज्झानका मतिहेतुके-रो।
६. दुतियादि झानिके-रो।
७. सुखीतीर तदालम्बं-रो।
८. पुञ्ञुजुपेक्खवा-रो।
९. दोसद्दया-रो।
१०. सुखी क्रियतो-रो।
११. तदालम्बणवाचतो-म।
१२. सो पेक्खाय-रो।
१३. सुट्ठु फलक्खये-रो।
१४. तदालम्बप्पवत्तियं-रो।
१५. जवस्साह-म।
१६. द्वे पञ्च-रो; द्वेपञ्चे-म।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७६. तक्कचाराधिमोक्खेहि, ते येव जायरे दस ।
पञ्चट्ठानमनोधातु, पञ्चके सुखतीरणे ।।८५।।

२७७. एते पीताधिका हासे, वायामेन च द्वाधिका ।
वोट्ठब्बने पि एतेव, दसेका पीतिवज्जिता ।।८६।।

२७८.[R19,B25] पापसाधारणा ते च, तिपञ्चुद्धच्चसञ्ञुते ।
कङ्खायुत्ते पि एतेव, सकङ्खा हीननिच्छया ।।८७।।

२७९. कङ्खावज्जा[१] पनेतेव[२], सदोसच्छन्दनिच्छया ।
सत्तरस दुसे होन्ति, सलोभन्तद्वये[३] पन ।।८८।।

२८०. दोसवज्जा सलोभा ते, ततियादिदुकेसु[४] ते ।
दिट्ठिपीतिद्वयाधिका[५], द्विनवेकूनवीसति[६] ।।८९।।

२८१. पीतिचारप्पनावज्जा, आदितो याव तिंसिमे ।
उप्पज्जन्ति चतुत्थादि-रूपारूपमनेसु[७] वे ।।९०।।

२८२. पीतिचारवितक्केसु, एकेन द्वितितिक्कमा[८] ।
ततियादीसु[९] ते येव, तिंसेकद्वेतयोधिका ।।९१।।

२८३. एतेवादिद्वये[१०] कामे, दुतियादिदुकेसु[११] हि ।
मतिं[१२] पीतिं मतिप्पीतिं[१३], हित्वा ते कमतो सियुं ।।९२।।

२८४. झाने वुत्ता व तज्झानि-कामले विरताधिका ।
तत्थेता[१४] नियता वित्तिं[१५], वदे[१६] सब्बत्थ सम्भवा ।।९३।।

१-२. कङ्खावज्जापनेतेव-रो।
३. सलोभन्तद्द्वये-रो।
४. ततियादि दुकेसु-रो।
५. दिट्ठि पीतिद्द्वयाधिका-रो।
६. द्विन्नमेकूनवीसति-रो।
७. चतुत्थादि रूपारूपमनेसु-रो।
८. द्वीतीहि कमा-रो।
९. ततियादिसु-रो।
१०. एतेवादिद्द्वये-रो।
११. दुतियादि दुकेसु-रो।
१२-१३. मति पीति मति पीति-रो।
१४. एत्थेता-रो।
१५-१६. वित्तिवदे-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८५. कामपुञ्ञेसु पच्चेकं, जयन्तानियतेसु[१] हि ।
विरतीयो[२] दयामोदा, कामे सातसुभक्रिये[३] ।।९४।।

२८६. मज्झत्ते पि वदन्तेके, सहेतुकसुभक्रिये[४] ।
सुखञ्ञाने पि पच्चेकं, होन्ति येव दयामुदा[५] ।।९५।।

२८७. थीनमिद्धं[६] ससङ्खारे, दिट्ठिहीनद्वये[७] तहिं ।
मानेन वा तयो सेस-दिट्ठिहीने विधेकको ।।९६।।

२८८. [B26] इस्सामच्छेरकुक्कुच्चा, विसुं दोसयुतद्वये[८] ।
तत्थन्तके सियुं थीन-मिद्धकेन तयो पि वा ।।९७।।

२८९. ये वुत्ता एत्तका एत्थ, इति चेतसिकाखिला[९] ।
तत्थेत्तकेस्विदन्तेवं, वुच्चतेयं नयोधुना ।।९८।।

२९०. तेसट्ठिया सुखं दुक्खं, तीसुपेक्खा[१०] पि वेदना ।
पञ्चपञ्ञासचित्तेसु[११], भवे इन्द्रियतो पन ।।९९।।

२९१. एकत्थेकत्थ चेव[१२] द्वे-सट्ठिया[१३] द्वीसु[१४] पञ्चहि[१५] ।
पञ्ञासाया ति विञ्ञेय्यं, सुखादिन्द्रियपञ्चकं[१६] ।।१००।।

२९२. दसुत्तरसते होति, निच्छयो विरियं ततो ।
पञ्चहीने[१७] ततोकूने, समाधिन्द्रियमादिसे ।।१०१।।

२९३. छन्दो एकसतेकून-वीस[१८] सद्धादयो पन ।
ञाणवज्जा नवहीन-सते[१९] होन्ति मती पन ।।१०२।।

---

१. जायन्तानियतेसु-रो।
२. विरतियो-रो।
३. सातसुभक्किया-रो।
४. ०सुभक्किये-रो।
५. दया मुदा-रो।
६. थिनमिद्धं-म; सब्बत्थ 'थि' इति।
७. दिट्ठि हीनद्वये-रो।
८. दोसयुतद्वये-रो।
९. चेतसिका खिला-रो।
१०. तीसु पेक्खा-रो।
११. पञ्चपञ्ञास चित्तेसु-रो।
१२-१३. चेव-द्वेसट्ठिया-रो।
१४-१५. द्वीसुपञ्चहि-रो।
१६. सुख-इन्द्रियपञ्चकं-रो।
१७. पञ्च हीने-रो।
१८. एकरतेकूनवीस-रो।
१९. नव हीन-सते-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९४. एकूनासीतिया[१] चारो[२], छसट्ठीसु पनप्पना[३] ।
पञ्चपञ्ञासके पीति, एकपञ्ञासके सिया ।।१०३।।

२९५. विरती[४] छट्ठके वीसे, करुणामुदिताथ[५] वा[६] ।
अट्ठसोपेक्खचित्तेन[७], अट्ठवीसतिया सियुं ।।१०४।।

२९६. [R20] अहीरिकमनोत्तप्प-मोहुद्धच्चा[८] च द्वादसे[९] ।
लोभो अट्ठसु चित्तेसु, थीनमिद्धं तु पञ्चसु ।।१०५।।

२९७. मानो चतूसु[१०] दिट्ठी[११] च, तथा द्वीसु मनेसु हि ।
दोसो इस्सा च मच्छेरं, कुक्कुच्चञ्च भवन्तिमे ।।१०६।।

२९८. एकस्मिं विमती होति, एवं वुत्तानुसारतो ।
अप्पवत्तिनयो चा पि, सक्का ञातुं विजानता ।।१०७।।

२९९. अस्मिं खन्धे व[१२] विञ्ञेय्यो, वेदनादीस्वयं नयो ।
एकधादिविधो[१३] युत्ति-वसा तेनावियोगतो ।।१०८।।

३००. उपमा फेणपिण्डो[१४] च, बुब्बुलो[१५] मिगतण्हिका ।
कदली माया विञ्ञेय्या, खन्धानं तु यथाक्कमं[१६] ।।१०९।।

३०१. [B27] तेसं[१७] विमद्दासहन-खणसोभप्पलोभन[१८]-।
निस्सारवञ्चकत्तेहि[१९], समानत्तं समाहटं ।।११०।।

१-२. एकूनासीतियाचारो-रो। ३. पनप्पणा-रो।
४. विरति-रो। ५-६. ०मुदिताथवा-रो।
७. अट्ठ सोपेक्खचित्तेन-रो।
८-९. ०मोहुद्धच्चा द्वादसेव-म; अहिरिकमनोत्तप्पं मोहुद्धञ्च द्वादसे-रो।
१०. चतुसु-रो। ११. दिट्ठि-म।
१२. च-रो। १३. एकधादिविधि-रो।
१४. फेणुपिण्डो-म। १५. बुब्बुळो-म।
१६. यथाकमं-रो। १७-१८. तेसं विमद्दसहन-खणसोभपलम्भना-रो।
१९. निस्सारवञ्च कट्ठेहि-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०२. ते सासवा उपादान-क्खन्धा खन्धावनासवा ।
तत्थादी[१] दुक्खवत्थुत्ता[२], दुक्खा[३] भारा[४] च खादका ।।१११।।

३०३. खन्धानिच्चादिधम्मा ते, वधका सभया इती[५] ।
असुखद्धम्मतो चिक्खा, उक्खित्तासिकरी यथा ।।११२।।

इति[६] सच्चसङ्खेपे विञ्ञाणखन्धपकिण्णकनयसङ्खेपो नाम
चतुत्थो परिच्छेदो[७]।

●

१-२. तत्थादिदुक्खवत्थुत्ता-रो। ३-४. दुक्खाभारा-रो।
५. इति-रो।
६-७. पकिण्णकसङ्गहविभागो नाम चतुत्थो परिच्छेदो-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. निब्बानपञ्ञत्तिपरिदीपनो नाम पञ्चमो परिच्छेदो

३०४. रागादीनं खयं वुत्तं, निब्बानं सन्तिलक्खणं ।
संसारदुक्खसन्ताप-तत्तस्सालं समेतवे[a] ।।१।।

३०५. खयमत्तं न निब्बानं, सगम्भीरादिवाचतो[b]।
अभावस्स हि कुम्मानं, लोमस्सेव न वाचता ।।२।।

३०६. खयो ति वुच्चते मग्गो, तप्पापत्ता इदं खयं ।
अरहत्तं वियुप्पाद-वयाभावा धुवञ्च तं ।।३।।

---

a. "निब्बानं निब्बानं ति, आवुसो सारिपुत्त, वुच्चति; कतमं नु खो आवुसो निब्बानं ति? यो खो आवुसो रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो— इदं वुच्चति निब्बानं ति..."—सं०नि० ३, पृ०२२३,२३३; "तस्मा तथागतो सब्बमञ्ञितानं सब्बमथितानं सब्बअहङ्कारममङ्कार-मानानुसयानं खया विरागा निरोधा चागा पटिनिस्सग्गा अनुपादा विमुत्तो ति वदामी ति..."— म०नि० २, पृ० १७९-१८२; "अत्थि, भिक्खवे, तदायतनं यत्थ नेव पठवी न आपो न तेजो न वायो न आकासानञ्चायतनं न विञ्ञाणञ्चायतनं न आकिञ्चञ्ञायतनं न नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं नायं लोको न परलोको न उभो चन्दिमसुरिया। तत्रापाहं, भिक्खवे, नेव आगतिं वदामि, न गतिं न ठितिं न चुतिं न उपपत्तिं; अप्पतिट्ठं अनारम्मणमेवेतं। एसेवन्तो दुक्खस्सा ति"— उ०, पृ० १६२; "छन्दरागविनोदनं निब्बानपदमच्चुतं"—सु०नि०, पृ० ४३२; "यावता, भिक्खवे, धम्मा सङ्खता वा असङ्खता वा विरागो तेसं धम्मानं अग्गमक्खायति, यदिदं मदनिम्मदनो पिपासविनयो आलयसमुग्घातो वट्टुपच्छेदो तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बानं"— अ०नि० २, पृ० ३७; "नत्थि एत्थ तण्हासङ्खातं वानं, निग्गतं वा तस्मा वाना ति निब्बानं"—अट्ठ०, पृ० ३२२; "...यस्मा पनेस चतस्सो योनियो, पञ्च गतियो, सत्त विञ्ञाणट्ठितियो, नव च सत्तावासे अपरापरभावाय विननतो, आबन्धनतो, संसिब्बनतो वानं ति लद्धवोहाराय तण्हाय निक्खन्तो, निस्सटो, विसंयुत्तो, तस्मा निब्बानं ति वुच्चती ति"— विसु०, पृ० १९८-१९९; पृ० ३५४-३५६; खु०पा०अ०, पृ० १५७; सु०नि०अ० १, पृ० २५३; अभिधम्मा० ११ परि०; अभि०स०, पृ० १२४-१२५; प्रसन्न०, पृ० ५१९-५२१; त्रिं०, ३० का०; अभि०दी०, १६२ का०; वि०प्र०वृ०, पृ०१२६।

b. अभिधम्मा०, पृ० ८०-८१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०७. सङ्खतं सम्मुतिञ्चा पि ञाणमालम्ब[१] नेव[२] हि ।
छिन्ने मले ततो वत्थु[३], इच्छितब्बमसङ्खतं[४] ।।४।।

३०८. पत्तुकामेन तं सन्तिं, छब्बिसुद्धिं[५] समादिय[६] ।
ञाणदस्सनसुद्धी तु, साधेतब्बा[७] हितत्थिना ।।५।।

३०९. चेतनादिविधा[८] **सील-सुद्धि** तत्थ चतुब्बिधा ।
सोपचारसमाधी[९] तु, **चित्तसुद्धी** ति वुच्चते ।।६।।

३१०. [R21] सम्पादेत्वादिद्वेसुद्धिं[१०], नमना नामं तु रुप्पतो[११] ।
रूपं[१२] नत्थि इहत्तादि-वत्थू ति पि[१३] ववत्थपे ।।७।।

३११. [B28] मणिन्धनातपे[१४] अग्गि, असन्तो पि समागमे ।
यथा होति तथा चित्तं, वत्थालम्बादिसङ्गमे[१५] ।।८।।

३१२. पङ्गुलन्धा यथा गन्तुं, पच्चेकमसमत्थका ।
यन्ति[१६] युत्ता[१७] यथा एवं, नामरूपव्हया[१८] क्रिया[१९] ।।९।।

३१३. न नामरूपतो अञ्ञो, अत्तादि इति दस्सनं ।
सोधनत्ता[२०] हि दुद्दिट्ठिं[२१], **दिट्ठिसुद्धी**[a] ति वुच्चति ।।१०।।

३१४. अविज्जातण्हुपादान-कम्मेनादिम्हि[२२] तं द्वयं ।
रूपं कम्मादितो नामं, वत्थादीहि पवत्तियं ।।११।।

३१५. सदा सब्बत्थ सब्बेसं, सदिसं न यतो ततो ।
नाहेतु नाञ्ञो अत्तादि-निच्चहेतू[२३] ति पस्सति ।।१२।।

१-२. ञाणमालम्बनेव-रो।
३-४. वत्थुस्मिच्छितब्बं असङ्खतं-रो।
५. छब्बीसुद्धिं-रो।
६. समापिय-रो।
७. भावेतब्बा-रो।
८. चेतना दिविधा-रो।
९. सो पवारसमाधी-रो।
१०-११. सम्पादेत्वादि द्वे सुद्धिं०-रो; ०नमना नामं तु रुप्प-म।
१२-१३. तो रूपं नत्थि अत्तादि-वत्थू ति च-म।
१४. मनिन्धानातपे-रो।
१५. वत्थालम्बादि सङ्गमे-रो।
१६-१७. यन्तियुत्ता-रो।
१८-१९. नामरूपव्हयक्रिया-रो।
२०-२१. दुद्दिट्ठि सोधनत्ता हि-रो।
२२. अविज्जा तण्हुपादानकम्मेनादिं हि-रो।
२३. अत्तादि निच्चहेतू-रो।
a. विसु०, पृ० ४१५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१६. एवं तीरयते कङ्खा, याय पञ्ञाय पच्चये ।
दिट्ठता सुद्धि सा **कङ्खा-तरणं**[1a] ति[2] पवुच्चति[3] ।।१३।।

३१७. पत्तञ्ञातपरिञ्ञो[4] सो, अत्रट्ठो यतते यति ।
तीरणव्हपरिञ्ञाय, विसुद्धत्थं सदादरो ।।१४।।

३१८. तिकालादिवसा खन्धे, समासेत्वा कलापतो ।
अनिच्चा[5] दुक्खानत्तादि[6], आदो एवं विपस्सति ।।१५।।

३१९. खन्धानिच्चा[7] खयट्ठेन, भयट्ठेन दुखा[8] व[9] ते ।
अनत्तासारकट्ठेन, इति पस्से पुनप्पुनं ।।१६।।

३२०. आकारेहि अनिच्चादि-चत्तालीसेहि[10] सम्मसे ।
लक्खणानं विभूतत्थं, खन्धानं पन सब्बसो ।।१७।।

३२१. एवञ्चा पि असिज्झन्ते, नवधा निस्सितिन्द्रियो[11] ।
सत्तकद्वयतो[12] सम्मा, रूपारूपे विपस्सये ।।१८।।

३२२. रूपमादाननिक्खेपा[13], वयोवुद्धत्तगामितो[14] ।
सम्मसेवन्नजादीहि, धम्मतारूपतो पि च ।।१९।।

३२३. नामं कलापयमतो, खणतो कमतो पि च ।
दिट्ठिमाननिकन्तीनं, पस्से उग्घाटनादितो ।।२०।।

३२४. [B29] अविज्जातण्हाकम्मन्न-हेतुतो रूपमुब्भवे ।
विनाहारं सफस्सेहि, वेदनादित्तयं भवे ।।२१।।

३२५. तेहि येव विना फस्सं, नामरूपाधिकेहि तु ।
चित्तं हेतुक्खया सो सो, वेति वे तस्स तस्स तु ।।२२।।

---

१. कङ्खा तरणं-रो।　　२-३. इति वुच्चति-म।
४. पत्तञ्ञातपरिञ्ञो-रो।　　५-६. अनिच्चदुक्खानत्तादि-रो।
७. खन्धनिच्चा-रो।　　८-९. दुक्खा च-रो।
१०. अनिच्चादि चत्ताळीसेहि-रो।　　११. निसितिन्द्रियो-म।
१२. सत्तकद्द्वयतो-रो।　　१३-१४. निक्खेपवयोवुद्धत्थगामितो-रो।

a. विसु०, पृ० ४२३।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

३२६. हेतुतोदयनासेवं, खणोदयवयेन पि ।
इति पञ्ञासाकारेहि, पस्से पुनुदयब्बयं[१] ।।२३।।

३२७. योगिस्सेवं समारद्ध-उदयब्बयदस्सिनो[२] ।
पातुभोन्ति[३] उपक्लेसा[४], सभावाहेतुतो पि च ।।२४।।

३२८. [R22] ते ओभासमतुस्साह-पस्सद्धिसुखुपेक्खना[५] ।
सति[६] पीताधिमोक्खो[७] च, निकन्ति च दसीरिता ।।२५।।

३२९. तण्हादिट्ठुन्नतिग्गाह-वत्थुतो तिंसधा च[८] ते[९] ।
तदुप्पन्ने चले बालो, अमग्गे मग्गदस्सको ।।२६।।

३३०. विपस्सना पथोक्कन्ता, तदासि मतिमाधुना ।
न मग्गो गाहवत्थुत्ता, तेसं[१०] इति[११] विपस्सति ।।२७।।

३३१. उपक्लेसे अनिच्चादि-वसगे[१२] सोदयब्बये[१३] ।
पस्सतो वीथिनोक्कन्त-दस्सनं[१४] वुच्चते पथो ।।२८।।

३३२. मग्गामग्गे ववत्थेत्वा, या पञ्ञा एवमुट्ठिता ।
मग्गामग्गिक्खसङ्खाता[a], सुद्धी सा पञ्चमी भवे ।।२९।।

३३३. पहानव्हपरिञ्ञायं[१५], आदितो सुद्धिसिद्धिया ।
तीरणव्हपरिञ्ञाय, अन्तगो यततेधुना ।।३०।।

३३४. जायते नवञाणी[१६] सा, विसुद्धि कमतोदय[१७]-।
ब्बयादी[१८] घटमानस्स[१९], नव होन्ति पनेत्थ हि ।।३१।।

---

१. पुनुदब्बयं-रो।
२. समारद्धस्सुदयब्बयदस्सिनो-रो।
३. पातु होन्ति-रो।
४. उपक्क्लेसा-रो; एवमग्गे पि 'क्क्लेस' इति।
५. ०पस्सद्धि सुखुपेक्खना-रो।
६-७. सतिपीताधिमोक्खो-रो।
८-९. ते च-म।
१०-११. तेसमिति-रो।
१२-१३. अनिच्चादि वसगेसोदयब्बये-रो।
१४. वीथिनोक्कन्त दस्सनं-रो।
१५. पहाणव्हपरीञ्ञाय-रो।
१६. नवञानी-रो।
१७. कमतोदयब्-रो।
१८-१९. बयादिघटमानस्स-रो।

a. विसु०, पृ० ४२९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३५. सन्ततीरियतो चेव, घनेना[१] पि[२] च छन्नतो ।
लक्खणानि न खायन्ते, सङ्किलिट्ठा विपस्सना ।।३२।।

३३६. [B30] ततोत्र[३] **सम्मसे** भिय्यो[४], पुनदे**वुदयब्बयं**[a] ।
तेनानिच्चादिसम्पस्सं[५], पटुतं[६] परमं वजे ।।३३।।

३३७. आवट्टेत्वा यदुप्पाद-ट्ठितिआदीहि पस्सतो ।
भङ्गेव तिट्ठते ञाणं, तदा **भङ्गमती**[b] सिया ।।३४।।

३३८. एवं पस्सयतो[७] भङ्गं, तिभवो खायते यदा[८] ।
सीहादि व भयं हुत्वा, सिया लद्धा **भयिक्खणा**[c] ।।३५।।

३३९. सादीनवा पतिट्ठन्ते[९], खन्धादित्तघरं विय ।
यदा तदा सिया लद्धा, **आदीनवा**नुपस्सना[d] ।।३६।।

३४०. सङ्खारादीनवं दिस्वा, रमते न भवादिसु ।
मति[१०] यदा[११] तदा लद्धा, सिया **निब्बिद**पस्सना[१२e] ।।३७।।

३४१. ञाणं मुञ्चितुकामं[१३] ते, सब्बभूसङ्खते[१४] यदा ।
जलादीहि च मच्छादी[१५], तदा लद्धा **चज्जमति**[१६f] ।।३८।।

३४२. सङ्खारे असुभानिच्च-दुक्खतोनत्ततो[१७] मति ।
पस्सन्ति चतुमुस्सुका[१८], **पटिसङ्खा**नुपस्सना[g] ।।३९।।

१-२. यं घणेन-रो।
३. ततोत्र-रो।
४. भीय्यो-रो।
५. तेनानिच्चादि सम्पस्सं-रो।
६. पतुतं-रो।
७. हि पस्सतो-रो।
८. तदा-रो।
९. पट्ठहन्ते-रो।
१०-११. यदा मति-रो।
१२. निब्बिन्दपस्सना-रो।
१३. मुच्चितुकामं-रो।
१४. सब्बभू सङ्खते-रो।
१५. मच्छादि-रो।
१६. चजी मती-रो।
१७. ०दुक्खतानत्ततो-रो।
१८. चत्तुमुस्सुका-रो।

a. विसु०, पृ० ४५३।
b. त०, पृ० ४५४-४५५।
c. त०, पृ० ४५७।
d. त०, पृ० ४५९।
e. त०, पृ० ४६१।
f. त०।
g. त०, पृ० ४६३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४३. वुत्तात्र[१] पटुभावाय,[२] सब्बञाणपवत्तिया[३]।
मीनसञ्ञाय[४] सप्पस्स[५], गाहलुद्दसमोपमा[६] ।।४०।।

३४४. अत्तत्तनियतो सुञ्ञं, द्विधा "नाहं क्वचा"दिना।
चतुधा छब्बिधा चा पि, बहुधा पस्सतो भुसं[a] ।।४१।।

३४५. आवट्टतिग्गिमासज्ज[७], न्हारू[८] व मति[९] सङ्खतं[१०]।
चत्तभरियो यथा[११] दोसे[१२], तथा तं समुपेक्खते ।।४२।।

३४६. [R23] ताव सादीनवानम्पि, लक्खणे तिट्ठते मती।
न पस्से याव सा तीरं, सामुद्दसकुणी यथा ।।४३।।

३४७. **सङ्खारुपेक्खाञाणायं**,[१३b] सिखापत्ता विपस्सना[c]।
वुट्ठानगामिनी[१४] चेति[१५], **सानुलोमा**[d] ति वुच्चति ।।४४।।

३४८. [B31] पत्वा मोक्खमुखं सत्त, साधेतिरियपुग्गले[१६]।
झानङ्गादिप्पभेदे च, पादकादिवसेन सा[e] ।।४५।।

३४९. अनिच्चतो हि वुट्ठानं, यदि यस्सासि योगिनो।
सोधिमोक्खस्स बाहुल्ला, तिक्खसद्धिन्द्रियो भवे[f] ।।४६।।

३५०. दुक्खतोनत्ततो तञ्चे, सिया होन्ति[१७] कमेन ते।
पस्सद्धिवेदबाहुल्ला[१८], तिक्खेकग्गमतिन्द्रिया[g] ।।४७।।

---

१. वुत्तत्र-रो। २. पातुभावाय-रो।
३. ०ञाणप्पवत्तिया-रो। ४. मिनसञ्ञाय-रो।
५-६. सप्पस्सगाहलुद्दसमोपमा-रो। ७. आवट्टत्यग्गिमासज्ज-रो।
८. नहारू-रो। ९-१०. मतिसङ्खतं-रो।
११-१२. यथादोसे-रो। १३. सङ्खारुपेक्खा ञाणायं-रो।
१४-१५. वुट्ठानगामिनीति च-म। १६. साधेतारियपुग्गले-रो।
१७. येसं-रो। १८. पस्सद्धि वेदबाहुल्ला-रो।
a. विसु०, पृ० ४६३-४६४। b. त०, पृ० ४६५।
c. त०, पृ० ४६८। d. त०, पृ० ४७५।
e. त०, पृ० ४६६। f. त०।
g. त०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५१. पञ्ञाधुरत्तमुद्दिट्ठं[१], वुट्ठानं यदिनत्ततो ।
सद्धाधुरत्तं[२] सेसेहि, तं वियाभिनिवेसतो ।।४८।।

३५२. द्वे तिक्खसद्धसमता[३], सियुं सद्धानुसारिनो ।
आदो मज्झेसु ठानेसु, छसु सद्धाविमुत्तका[a] ।।४९।।

३५३. इतरो धम्मानुसारीदो[४], दिट्ठिप्पत्तो[५] अनन्तके[६] ।
पञ्ञामुत्तोभयत्थन्ते[७], अझानिझानिका[८] च ते[b] ।।५०।।

३५४. तिक्खसद्धस्स चन्ते पि, सद्धामुत्तत्तमीरितं ।
विसुद्धिमग्गे मज्झस्स, कायसक्खित्तमट्ठसु[c] ।।५१।।

३५५. वुत्तं मोक्खकथायं यं, तिक्खपञ्ञारहस्स तु ।
दिट्ठिपत्तत्तं[९] हेतञ्च[१०], तञ्च नत्थाभिधम्मिके[११d] ।।५२।।

३५६. ते सब्बे अट्ठमोक्खानं[१२], लाभी[१३] मज्झेसु चे छसु[१४] ।
कायसक्खी सियुं अन्ते, उभतोभागमुत्तका[१५e] ।।५३।।

३५७. अनुलोमानि चत्तारि, तीणि द्वे वा भवन्ति हि ।
मग्गस्स वीथियं मन्द-मज्झतिक्खमतिब्बसा[१६f] ।।५४।।

३५८. **विसुद्धिमग्गे** चत्तारि, पटिसिद्धानि सब्बथा[g] ।
एव**मट्ठसालिनिया**[१७h], वुत्तत्ता एवमीरितं ।।५५।।

---

१. पञ्ञा धुरत्तमुद्दिट्ठं-रो।
२. सद्धा धुरत्तं-रो।
३. तिक्खसद्धा समथा-रो।
४-५. धम्मानुसारदो दिट्ठिपत्तो-रो।
६. अनन्तको-रो।
७. पञ्ञा मुत्तो॰-रो।
८. झानिका झानिका-रो।
९-१०. दिट्ठिप्पत्तत्तमेतञ्च-रो।
११. नत्थाभिधम्मके-रो।
१२. अट्ठ मोक्खानं-रो।
१३-१४. लाभी चे छसु मज्झसु-म।
१५. उभतो भागमुत्तका-रो।
१६. ॰तिक्खमतीवसा-रो।
१७. अट्ठसालिनिया एवं-रो।
a. विसु०, पृ० ४६७।
b. त०।
c. त०।
d. त०।
e. त०।
f. त०, पृ० ४७५।
g. त०, पृ० ४६७।
h. अट्ठ०, पृ० ३०६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५९. भवङ्गासन्नदोसो पि, नप्पनाय[१] थिरत्ततो ।
सुद्धिं **पटिपदाञाण-दस्सने**वं लभे यति[२a] ।।५६।।

३६०. [B32] आवज्जं विय मग्गस्स, छट्ठसत्तमसुद्धिनं ।
अन्तरा[३] सन्तिमारब्भ[४], तेहि गोत्रभु जायते ।।५७।।

३६१. सञ्ञोजनत्तयच्छेदी[५], **मग्गो** उप्पज्जते ततो ।
फलानि एकं द्वे तीणि, ततो वुत्तमतिक्कमा[६b] ।।५८।।

३६२. तथा[७] भावयती[८] होति, रागदोसतनूकरं ।
दुतियो तप्फलं तम्हा, **सकदागामि** तप्फलो[c] ।।५९।।

३६३. एवं भावयतो राग-दोसनासकरुब्भवे ।
ततियो तप्फलं तम्हा, तप्फलट्ठो**नागामिको**[d] ।।६०।।

३६४. एवं भावयतो सेस-दोसनासकरुब्भवे ।
चतुत्थो तप्फलं तम्हा, **अरहा** तप्फलट्ठको[९e] ।।६१।।

३६५. [R24] कतकिच्चो भवच्छेदो, दक्खिणेय्योपधिक्खया ।
निब्बुतिं याति दीपो व[१०], सब्बदुक्खन्तसञ्ञितं ।।६२।।

३६६. एवं सिद्धा सिया **सुद्धि**[११], **ञाणदस्सन**सञ्ञिता[१२f] ।
वुत्तं एतावता सच्चं, परमत्थं समासतो ।।६३।।

३६७. सच्चं सम्मुति सत्तादि-अवत्थु[१३] वुच्चते यतो ।
न लब्भालातचक्कं व, तं हि रूपादयो विना ।।६४।।

---

१. नप्पणाय-रो।
२. सति-रो।
३-४. अन्तरासन्तिमारब्भ-रो।
५. संयोजन०-रो।
६. वुत्तमतिक्कमो-रो।
७-८. तथाभावयतो-रो।
९. तप्फलट्ठितो-रो।
१०. च-रो।
११-१२. सुद्धिञाणदस्सन०-रो।
१३. सत्तादि अवत्थु-रो।
a. विसु०, पृ० ४७७।
b. त०, पृ० ४७९।
c. त०, पृ० ४८०।
d. त०।
e. त०, पृ० ४८१।
f. त०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६८. तेन तेन पकारेन, रूपादिं[१] न विहाय तु ।
तथा तथाभिधानञ्च, गाहञ्च वत्तते ततो ।।६५।।

३६९. लब्भते परिकप्पेन, यतो तं न मुसा ततो ।
अवुत्तालम्बमिच्चाहु, परित्तादीस्ववाचतो[२] ।।६६।।

३७०. पापकल्याणमित्तोयं, सत्तो ति खन्धसन्तति[३] ।
एकत्तेन[४] गहेत्वान, वोहरन्तीध पण्डिता ।।६७।।

३७१. पठवादि[५] वियेको पि, पुग्गलो न यतो ततो ।
कुदिट्ठिवत्थुभावेन[६], पुग्गलग्गहणं भवे ।।६८।।

३७२. एतं विसयतो कत्वा, सङ्खादीहि पदेहि तु ।
अविज्जमानपञ्ञत्ति, इति तञ्ञूहि भासिता[७a] ।।६९।।

३७३. [B33] पञ्ञत्ति विज्जमानस्स, रूपादिविसयत्ततो[८] ।
कायं पञ्ञत्ति चे सुट्ठु, वदतो सुण[९] सच्चतो[१०] ।।७०।।

३७४. सविञ्ञत्तिविकारो[११] हि, सद्दो सच्चद्वयस्स[१२] तु ।
पञ्ञापनत्ता पञ्ञत्ति, इति तञ्ञूहि भासिता[b] ।।७१।।

३७५. पच्चुप्पन्नादिआलम्बं[१३], निरुत्तिपटिसम्भिदा[१४] ।
ञाणस्सा ति इदञ्चेवं, सति युज्जति नाञ्ञथा ।।७२।।

३७६. सद्दाभिधेय्यसङ्खादि[१५], इति चे सब्बवत्थुनं ।
पञ्ञापेतब्बतो होति **पञ्ञत्ति**पदसङ्गहो[१६c] ।।७३।।

---

१. रूपादि-रो।
२. परित्तादीसु वाचतो-रो।
३. खन्धसन्ततिं-रो।
४. एकन्तेन-रो।
५. पथवादि-म।
६. कदिट्ठि०-रो।
७. भासितो-रो।
८. रूपादि विसयत्ततो-रो।
९-१०. सुणतच्छतो-रो।
११. सविञ्ञत्ति विकारो-रो।
१२. सच्चद्द्वयस्स-रो।
१३-१४. पच्चुप्पन्नादि आलम्बं निरुत्तिपटिसम्भिदा-रो।
१५. सद्धाभिधेय्यं सङ्खादि-रो।
१६. पञ्ञत्ति पदसङ्गहो-रो।
a. द०-अभि०स०, पृ० २३३।
b. द०-त०, पृ० २३१।
c. द०-त०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७७. "सब्बे पञ्ञत्तिधम्मा" ति[१], देसेतब्बं[२] तथा सति ।
अथ पञ्ञापनस्सा पि, पञ्ञापेतब्बवत्थुनं ।।७४।।

३७८. विभागं[३] आपनत्थं[४] हि, तथुद्देसो कतो ति चे ।
न कत्तब्बं विसुं तेन, पञ्ञत्तिपथसङ्गहं ।।७५।।

३७९. पञ्ञापियत्ता चतूहि, पञ्ञत्तादिपदेहि सा[a] ।
परेहि पञ्ञापनत्ता, इति आचरियाब्रवुं ।।७६।।

३८०. रूपादयो उपादाय, पञ्ञापेतब्बतो किर ।
अविज्जमानोपादाय-पञ्ञत्ति[५] पठमा[६] ततो[b] ।।७७।।

३८१. सोतविञ्ञाणसन्ताना-नन्तरं पत्तजातिना ।
गहितपुब्बसङ्केत-मनोद्वारिकचेतसा ।।७८।।

३८२. पञ्ञापेन्ति गहिताय, याय सत्तरथादयो[७c] ।
इति सा नामपञ्ञत्ति[८], दुतिया ति च कित्तिता ।।७९।।

३८३. [R25] सद्दतो अञ्ञनामाव-बोधनत्थावबोधनं ।
किच्छसाधनतो पुब्ब-नयो एवं पसंसियो ।।८०।।

३८४. सा[९] विज्जमानपञ्ञत्ति[१०], तथा अविज्जमानता[११] ।
विज्जमानेन चाविज्ज-माना[१२] तब्बिपरीतका ।।८१।।

३८५. अविज्जमानेन[१३] विज्ज-मानतब्बिपरीतका[१४] ।
इच्चेता छब्बिधा तासु, पठमा मतिआदिका ।।८२।।

३८६. [B34] सत्तो सद्धो नरुस्साहो, सेनियो मनचेतना ।
इच्चेवमेता[१५] विञ्ञेय्या, कमतो दुतियादिका[d] ।।८३।।

१-२. तिदेसेतब्बं-रो। ३-४. विभागञापणत्थं-रो।
५. ०मानोपादाय पञ्ञत्ति-रो। ६. पथमा-रो।
७. सत्त रथादयो-रो। ८. नाम पञ्ञत्ति-रो।
९-१०. साविज्जमानपञ्ञत्ति-रो। ११. अविज्जमानका-रो।
१२. वा विज्जमाना-रो। १३-१४. अविज्जमानेनाविज्जमाना तब्बिपरीतका-रो।
१५. इच्चेमेता-रो।

a-b. द०-अभि०स०, पृ० २३२-२३४। c-d. द०-त०, पृ० २३१-२३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८७. एवं लक्खणतो ञत्वा, सच्चद्वयमसङ्करं[1] ।
कातब्बो पन वोहारो, विञ्ञूहि न यथा तथा।। ति ।८४।।

इति[2] सच्चसङ्खेपे निब्बानपञ्ञत्तिपरिदीपनो नाम
पञ्चमो परिच्छेदो।

सच्चसङ्खेपो निट्ठितो[3]।

●

---

१. सच्चदद्वयमसङ्करं-रो।

२-३. निब्बानविभागादीहि सङ्गहितो नाम पञ्चमो परिच्छेदो।
निट्ठितो सच्चसङ्खेपो।
सुखी होतु।

इति बदरतित्थमहाविहारवासिना तिपिटकपरियत्तिधरेन सद्धासीलादिगुणगणाभरण-विभूसितेन अट्ठकथाचरिय-टीकाचरिय-अनुटीकाचरिय-धुरन्धरेन भदन्तधम्मपालाभिधान-महासामि-पदेन विरचितं सच्चसङ्खेपपकरणं निट्ठितं-रो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सच्चसङ्खेपस्स
गाथानं आदिपदवसेन
अनुक्कमणिका[1]

अ	
अज्झत्तिकानि चक्खादी	१८
अज्झानङ्गानि द्वेपञ्च	२६६
अञ्ञथत्तं ठितस्सा ति	५५
अट्ठकं अविनिब्भोगं	२१
अट्ठकं जाति चाकासो	३१
अट्ठकं जीवितेनायु-	३४
अट्ठ काममहापाका	१९०
अट्ठकोजमनग्गीहि	४८
अट्ठ रसादितो रूपा	२२
अत्तत्तनियतो सुञ्ञं	३४४
अथञ्ञारम्मणापाथ-	१७५
अथ वा तिक्खणे कम्मं	५६
अथ सातक्रिया सातं	२२७
अधोधोमनवज्जा ते	२५२
अधोपाका च अन्तम्हा	२१५
अधिमोक्खो निच्छयो सद्धा	८३
अनारुप्पे मनोधातु	२६०
अनासेवनयावज्ज-	१५८
अनिच्चतो हि वुट्ठानं	३४९
अन्तामलं अनावज्ज-	२४३
अन्तिमं रूपपाकं तु	२५४
अनुलोमानि चत्तारि	३५७
अपायुद्धत्तयं हित्वा	२५७
अप्पहीनेहि सेसानं	१६५
अब्याकतं द्विधा पाक-	१४५
अभिक्कमादिजनक-	१५
अमलं सन्तिमारब्भ	१३२
अमलानि च तीणन्ते	२५९
अरियापायवज्जेसु	२५६
अरूपपाकेस्वादिम्हा	२२०
अरूपेस्वेकमेकस्मिं	२५३
अलग्गो च अचण्डिक्कं	८४
अविज्जमानेन विज्ज-	३८५
अविज्जातण्हाकम्मन्न-	३२४
अविज्जातण्हासङ्खार-	१६४
अविज्जातण्हुपादान-	३१४
अविभूते विभूते च	१८४
अस्मिं खन्धे व विञ्ञेय्यो	२९९
अहिरीकमलज्जत्तं	८९
अहीरिकमनोत्तप्प-	२९६
आ	
आकारेहि अनिच्चादि-	३२०
आदिकप्पनरानञ्च	६४

१. एत्थ गाथानं आदि-संख्या दिन्ना अत्थि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिक्रिया ति चेकून- २०५
आदिपञ्चामला कङ्खा- २५०
आदिमग्गदुसाहास- २५१
आदिस्सासुभमन्तस्सु- १३०
आयुकम्मभयेसं वा ६२
आरम्मणूपनिज्झाना ९८
आरोपनानुमज्जट्ठा ८२
आवज्जं विय मग्गस्स ३६०
आवज्जहसितावज्जा १५६
आवट्टतिग्गिमासज्ज ३४५
आवट्टेत्वा यदुप्पाद- ३३७

इ

इच्छितब्बमिमेकन्त- ७१
इतरानि पनावज्ज- २४४
इतरो धम्मानुसारीदो ३५३
इति एसं द्विसत्तन्नं १६१
इन्द्रियानि दुवे अन्त- २६२
इमस्सानन्तरं धम्मा २२९
इस्सामच्छेरकुक्कुच्च- ९४
इस्सामच्छेरकुक्कुच्चा २८८
इहेव कामतण्हादि १६८

उ

उद्धाधोगमकुच्छिट्ठा ४३
उपक्लेसे अनिच्चादि- ३३१
उपट्ठितं तमारब्भ १६३
उपमा फेणपिण्डो च ३००
उपेक्खातीरणं होति १८६
उपेक्खादिट्ठियुत्तम्पि १४०
उपेक्खेकग्गतायन्त- १२९

ए

एककिच्चादितो पञ्च- २०६
एकजेस्वादिचतूसु ४६
एकत्थेकत्थ चेव द्वे- २९१
एकधादिनयोदानि १९२
एकम्हा दस पञ्चहि २३१
एकस्मिं विमती होति २९८
एकारम्मणचित्तानि १९८
एकासीति तिभूमट्ठं १९३
एकूनासीतिचित्तेसु २६५
एकूनासीतिया चारो २९४
एतं विसयतो कत्वा ३७२
एते द्वे मोहुद्धच्चा ति ९७
एते पीताधिका हासे २७७
एतेवादिद्वये कामे २८३
एतेस्वेकमयं हुत्वा १२१
एतेहि दोसवज्जेहि २३७
एत्थ सद्धादिपञ्चायु १००
एवञ्चा पि असिज्झन्ते ३२१
एवं तीरयते कङ्खा ३१६
एवं धीहीनमुक्कट्ठं १२६
एवं पस्सयतो भङ्गं ३३८
एवं भावयतो राग- ३६३
एवं भावयतो सेस- ३६४
एवं भूमित्तयं पुञ्ञं १३४
एवं लक्खणतो ञत्वा ३८७
एवं सिद्धा सिया सुद्धि ३६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओ

ओघाहरणतो योगा १०७
ओजा हि यापना इत्थि- ११
ओपपातिकभाविस्स ६३

क

कङ्खावज्जा पनेतेव २७९
कतकिच्चो भवच्छेदो ३६५
कत्वा तापुद्धवं एकं ११०
कम्मचित्तानलन्नेहि ३३
कम्मचित्तानलाहार- २९
कम्मजं सेन्द्रियं वत्थु ३०
कम्मजाकम्मजं नेव- २४
कम्मजा कायभावव्हा ५०
कामच्चुति च वोट्ठब्बं २१८
कामपाकदुसा चादि- २००
कामपाका च सेसादि- २४६
कामपुञ्ञसुखीतीर- २३३
कामपुञ्ञेसु पच्चेकं २८५
कामसुगतियं येव १२७
कामीनं तु तदालम्बं १८३
कामे जवा क्रियाहीना २३२
कामे जवा भवङ्गा च २२३
कामे जवा सवोट्ठब्बा २०३
कामे सरागिनं कम्म- १६२
कामे सोळस घानादि- २४५
कायञाणं सुखी तत्थ १४७
कायिकं मानसं दुक्खं ७४
कालेनाहारजं होति ५९
किच्चत्तये कते एवं १६६
कुसलं तत्थ कामादि- ११७
कुसलाकुसलं सब्बं १९१
केवलं सन्धिभवङ्ग- १४८
केसादिमत्थलुङ्गन्ता ४१
क्रियतो व तदालम्बं २७३
क्रिया तिधामलाभावा १५५

ख

खं जाति जरता भङ्गो ९
खं रूपानं परिच्छेदो १३
खन्धानिच्चा खयट्ठेन ३१९
खन्धानिच्चादिधम्मा ते ३०३
खयमत्तं न निब्बानं ३०५
खयो ति वुच्चते मग्गो ३०६

घ

घट्टिते अञ्ञवत्थुम्हि १७६
घायनादित्तयं कामे २५५

च

चक्खादित्तयहीनस्स ६६
चक्खादी दट्ठुकामादि- १०
चक्खु सोतञ्च घानञ्च ८
चतुधा पि अहेत्वेक- २०२
चतुन्नम्पि च धातूनं ४०
चतुवीसेसु सेसेसु ४९
चत्तारो पञ्च पठम- २६९
चित्तं विसयग्गाहं तं ११६
चित्तुप्पादे सियुं रूप- ५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्ते चेतसिका यस्मिं २७५
चेतनादिविधा सील- ३०९

छ

छगोचरेसु रूपादि- १२३
छ ञाणहीने तब्बन्त- २६३
छ युगानि कायचित्त- ८५
छन्दचित्तीहवीमंसा १९५
छन्दनिच्छयमज्झत्त- ९५
छन्दादी पञ्च नियता ९६
छन्दो एकसतेकून- २९३
छब्बीसति जवा सेसा २०४

ज

जातिया पि न जातत्तं ३२
जायते नवञाणी सा ३३४

झ

झाने वुत्ता व तज्झानि २८४

ञ

ञाणं मुञ्चितुकामं ते ३४१
ञाणयुत्तवरं तत्थ १२४

त

तं सत्तरस चित्तायु ६०
तक्कचाराधिमोक्खेहि २७६
तज्जा सन्धि सिया हित्वा १६७
तण्हादिट्ठुन्नतिग्गाह- ३२९
ततिये आदि निस्साय १३५
ततिये सामले तीणि २६७
ततोत्र सम्मसे भिय्यो ३३६
ततो परञ्च कम्मग्गि- ५८
तथा भावयतो होति ३६२
तथोपेक्खामतियुत्तं ११९
तत्थ दोसद्वयं वत्थुं १४२
तत्थ सीतादिरुप्पत्ता ७
तत्थेवन्धबधिरस्स ६५
तदालम्बद्विकं तम्हा १७९
तप्पाका च मतियुत्त- २१४
तमेवन्ते चुति तस्मिं १७४
तयट्ठका च चत्तारो ३९
तानि मोहुद्धवंमान- ११३
तानुद्धतादिथीनादि- ८६
ताव सादीनवानम्पि ३४६
तिकालादिवसा खन्धे ३१८
तिकालिकपरित्तादि- १२२
तिक्खसद्धस्स चन्ते पि ३५४
तिसत्त द्विछ छत्तिसं १५९
ते ओभासमतुस्साह- ३२८
ते च पाका सयञ्चन्ते २२५
तेन तेन पकारेन ३६८
तेपञ्ञास दसेकञ्च ५२
ते सब्बे अट्ठमोक्खानं ३५६
ते सातगोचरा तेसु १५१
तेसट्ठिया सुखं दुक्खं २९०
ते सासवा उपादान- ३०२
तेसु येव निहीनं तु १२५
तेसं विमद्दासहन- ३०१
तेहि येव विना फस्सं ३२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेहेवेकूनसट्ठीहि २३८

थ

थद्धुण्हीरणभावो व ६९
थीनमिद्धं ससङ्खारे २८७
थीनं चित्तस्स सङ्कोचो ९१

द

दसुत्तरसतो होति २९२
दस्सनं सवनं दिट्ठं २०८
दळ्हग्गाहेन दिट्ठेजा १०८
दानं सीलञ्च भावना १२०
दिट्ठि एव परामासो ११५
दिट्ठिकङ्खानुदं आदि १३३
दिट्ठिलोभदुसा कम्म- १०५
दिट्ठिलोभमूहमान- ११४
दिट्ठिहेकग्गतातक्क- १०२
दिट्ठेजुद्धवदोसन्ध- १११
दिट्ठं सुतं मुतञ्चा पि २५
दिट्ठं सुतं मुतं ञातं २०९
दुक्खतोनत्ततो तञ्चे ३५०
दुक्खापनयनकामा ८७
दुतियन्तद्वया तीरं २१२
दुतियादीहि ते येव २२१
दोसद्वया तदालम्बं २७२
दोसवज्जा सलोभा ते २८०
दोसहीनजवा सो सो २४९
द्विकिच्चादीनि वोट्ठब्बं २०७
द्विजेसु मनतेजेहि ४७
द्विपञ्च चित्तं विञ्ञाणं १९७
द्विपञ्चादिक्रिया हासा २२२
द्वीहि कामजवा तीहि २३०
द्वे तिक्खसद्धसमता ३५२
द्वे द्वे आवज्जनादीनि १८९
द्वे बलानि अहेत्वन्त- २६४

न

न नामरूपतो अञ्ञो ३१३
नभतम्मनतस्सुञ्ञ- १३१
नमस्सित्वा तिलोकग्गं १
नाञ्ञभूफलदं कम्मं १३७
नामं कलापयमतो ३२३
नासञ्ञा चवमानस्स १६९
निप्फन्नं रूपरूपं खं २७
नियमो पिध चित्तस्स १८१
निस्सयं वत्थु धातूनं १२
निस्साय पुब्बाचरिय-मतं २

प

पङ्गुलन्धा यथा गन्तुं ३१२
पच्चुप्पन्नादिआलम्बं ३७५
पञ्चद्वारे सिया सन्धि १७३
पञ्चधात्वादिनियमा ६८
पञ्चा पि चक्खुसोतादि ५१
पञ्चालम्बं मनोधातु १९९
पञ्चावरणतो काम- १०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्ञत्ति विज्जमानस्स ३७३
पञ्ञाधुरत्तमुद्दिट्ठं ३५१
पञ्ञापियत्ता चतूहि ३७९
पञ्ञापेन्ति गहिताय ३८२
पठवादि वियेको पि ३७१
पत्तञ्ञातपरिञ्ञो सो ३१७
पत्तुकामेन तं सन्तिं ३०८
पत्वा मोक्खमुखं सत्त ३४८
परमत्थतो सनिब्बान- ५
परस्सकसम्पत्तीनं ९०
परित्तानप्पमाणानि १९६
पसादा पञ्च भावायु २०
पस्सद्धादियुगानि छ १०६
पहानञ्ञपरिञ्ञाय ३३३
पापकल्याणमित्तोयं ३७०
पापसाधारणा ते च २७८
पापजा पुञ्ञजाहेतु- १५०
पापं कामिकमेवेकं १३८
पीतिचारप्पनावज्जा २८१
पीतिचारवितक्केसु २८२
पुञ्ञपाका द्विधाहेतु- १४६
पुञ्ञेस्वादिद्वया कामे २११
पुथुज्जनस्स जायन्ते २४२
पुब्बभवे चुति दानि १७०
पुब्बमुत्तकरीसञ्चु- ४४

फ

फरुस्सवचब्यापादा १४३
फस्सो च चेतना चेव १०३

ब

ब्यापारो चेतना फस्सो ८१

भ

भङ्गा सत्तरसुप्पादे ६१
भवग्गापायवज्जेसु २५८
भवङ्गासन्नदोसो पि ३५९
भवन्तरकतं कम्मं १७१

म

मग्गवज्जा सवोट्ठब्ब- २३६
मग्गा द्वे संसये दिट्ठि- २६८
मग्गामग्गे ववत्थेत्वा ३३२
मज्झत्ते पि वदन्तेके २८६
मणिन्धनातपे अग्गि ३११
मनरूपिन्द्रियेहेते १०१
मनुस्सविनिपातीनं १४९
मनोद्वारेतरावज्जं १८२
मनोधातुक्रियावज्जं १७७
महग्गता क्रिया सब्बा २२८
महग्गतामला सब्बे १८७
महग्गतं पनारब्भ १८५
महापाकतिहेतूहि २१७
मानो इस्सा च मच्छेरं ८०
मानो चतूसु दिट्ठी च २९७

य

यथा तथा वा सञ्ञानं ७५
यथा सङ्खातधम्मानं २८
यस्मा चित्तविरागत्तं १७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये वुत्ता एत्तका एत्थ २८९
येन सन्तप्पनं येन ४२
योगिस्सेवं समारद्ध- ३२७

र

रागादीनं खयं वुत्तं ३०४
रूपमब्याकतं सब्बं १७
रूपमादाननिक्खेपा ३२२
रूपादयो उपादाय ३८०
रूपारूपविपाकानं १५३
रूपे जीवितछक्कञ्च ६७
रूपे सप्पटिघत्तादि ७०

ल

लब्भते परिकप्पेन ३६९
लहुतादित्तयं तं हि १४
लहुता मुदुकम्मञ्ञ- ७८
लोकपाकक्रियाहेतू १९४
लोभदोसमूहमान- ११२
लोभमूलेकहेतूहि २१६
लोभो दोसो च मोहो च ७९,८८

व

वचीभेदकचित्तेन १६
विञ्ञत्ति लहुतादीहि ३६
वितक्कचारपीतीहि १२८
वित्थारो पि च भूमीसु २४७
विनावरूपेनारुप्प- २०१
विपस्सना पथोक्कन्ता ३३०
विभागं आपनत्थं हि ३७८
विरती छट्ठके वीसे २९५
विसुद्धिमग्गे चत्तारि ३५८
वुत्तं मोक्खकथायं यं ३५५
वुत्तपाका सयञ्चेति २२६
वुत्ताय पटुभावाय ३४३
वुत्तानन्तरसङ्खातो २४१
वेदनादिसमाधन्ता ९२
वेदनादिस्वपेकस्मिं ६
वेदनानुभवो तेधा ७३
वोट्ठब्बस्स परित्ते तु १८०
वोट्ठब्बं कामपुञ्ञञ्च २६१

स

सकं सकं पटिच्छं तु २१९
सङ्गतं सम्मुतिञ्चा पि ३०७
सङ्गारा चेतना फस्सो ७६
सङ्गारादीनवं दिस्वा ३४०
सङ्गारुपेक्खाञाणायं ३४७
सङ्गारे असुभानिच्च- ३४२
सच्चं सम्मुति सत्तादि- ३६७
सच्चानि परमत्थञ्च ३
सञ्ञोजनत्तयच्छेदी ३६१
सत्ततिंस पनेतानि २३४
सत्तधा सत्तविञ्ञाण- २१०
सत्तो सद्धो नरुस्साहो ३८६
सदा सब्बत्थ सब्बेसं ३१५
सदुक्खदोसासङ्गारं १४१
सद्दतो अञ्ञनामाव- ३८३
सद्दाभिधेय्यसङ्गादि ३७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्धादयो विरमन्ता	९३	सा विज्जमानपञ्ञत्ति	३८४
सद्धा सति मतेकग्ग-	९९	सुखतीरभवङ्गानि	२४०
सद्धा सति हिरोत्तप्पं	७७	सुखतीरादि सत्तेते	२३५
सन्ततीरियतो चेव	३३५	सुखितीरतदालम्बं	२७१
सन्तीरणं ततो तम्हा	१७८	सुद्धट्ठलहुतादीहि	३८
सन्धिं चतुस्वपायेसु	१४४	सुद्धट्ठविञ्ञत्तियुत्त-	३५
सन्धिदायककम्मेन	२७४	सुद्धट्ठं सद्दनवकं	३७
सन्धिभवङ्गमावज्जं	१६०	सेकपञ्चसतं काये	५३
सन्निवेसविसेसादि-	४	सेक्खसप्पटिघासेक्ख-	२३
सब्बवारे सयञ्चेति	२१३	सेदसिङ्घानिकस्सु च	४५
सब्बे पञ्ञत्तिधम्मा ति	३७७	सेय्यस्सादिक्खणे काय-	५७
सब्बं कामभवे रूपं	७२	सेसं बावीसति चेक-	१९
समानुत्तरपाका पि	१५४	सोतविञ्ञाणसन्ताना-	३८१
सम्पटिच्छद्विपञ्चन्नं	१५२	सोमनस्सकुदिट्ठीहि	१३९
सम्पादेत्वादिद्वेसुद्धिं	३१०	सोमनस्समतियुत्त-	११८
सयं भवङ्गमतिमा	२२४		
सविञ्ञत्तिविकारो हि	३७४	**ह**	
सहेतुरूपरूपा च	१५७	हदयं वत्थु विञ्ञत्ति	२६
सहेतुसासवा पाका	१८८	हेतुतोदयनासेवं	३२६
सादीनवा पतिट्ठन्ते	३३९	हेतु मूलट्ठतो पापे	१०४
साधेतानुत्तरं सन्तिं	१३६	हित्वा महग्गते पाके	२४८
साधोपाकेहि तेहेव	२३९	हेत्वन्ततो हि मग्गस्स	२७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महामंगलनामकेन एकेन थेरेन विरचितं

बुद्धघोसुप्पत्ति

सम्पादक

डॉ. वीरेन्द्र पाण्डेय

(एम.ए. पालि, पी-एच.डी.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिचिति

बुद्धघोसुप्पत्ति

'बुद्धघोसुप्पत्ति' आचार्य बुद्धघोष की जीवनी के रूप में लिखी गई ऐतिहासिक रचना है। इसमें आचार्य बुद्धघोष का जन्म, बाल्यावस्था, प्रारम्भिक शिक्षा, धर्मपरिवर्तन, लंकागमन, ग्रन्थरचना, जम्बुद्वीप में प्रत्यागमन आदि विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत कार्य का उद्देश्य जेम्स ग्रे द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित 'बुद्धघोसुप्पत्ति' को देवनागरी लिपि में सम्पादन एवं प्रकाशन कर हिन्दी भाषी सामान्य जन को उपलब्ध कराना है। प्रो. जेम्स ग्रे. ने इसका सम्पादन १८९२ ई. में रोमन लिपि में किया था। इसका प्रकाशन लन्दन से हुआ था। इस ग्रन्थ का सम्पादन एवं प्रकाशन देवनागरी लिपि में आज तक अनुपलब्ध है, इसलिए इसका सम्पादन एवं प्रकाशन प्रथम बार देवनागरी लिपि में किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ की रचना सिंहली भिक्षु महामंगल नामक एक स्थविर ने की थी। इस ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि— 'इति एत्तावता महामङ्गलनामेन एकेन थेरेन पुब्बाचरियानं सन्तिकं यथापरियत्ति पञ्ञाय रचितस्स जवनहासतिक्खनिब्बेधिकपञ्ञासम्पन्नस्य बुद्धघोसस्सेव नाम महाथेरस्स निदानस्स अट्ठमपरिच्छेदवण्णना समत्ता'।

उपर्युक्त उद्धरण से दो बातों पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम यह कि महामंगल नामक स्थाविर ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। द्वितीय यह कि प्रस्तुत रचना महास्थविर आचार्य-बुद्धघोष के जीवनवृत्त के रूप में की गई है। यह रचना प्रारम्भ में हस्तलिखित ताड़पत्र पर प्राप्त हुई थी, जिसे प्रो. जेम्स ग्रे. ने स्व. उ आसरा बिहार पाजूडांग से प्राप्त किया था। पुनः उन्होंने स्वे डागोन बिहार पुस्तकालय की एक कापी से मिलाया था, जिसे बर्नाड फ्री पुस्तकालय से प्राप्त एक हस्तलिखित प्रति से भी मिलाया था। तदनन्तर उन्होंने रोमन लिपि में इसे सम्पादित किया और इसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया। इसी को आधार मानकर इसे देवनागरी लिपि में प्रस्तुत करने का यत्न है। इसे हिन्दी अनुवाद के साथ बाद में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह पुस्तक आठ परिच्छेदों में विभक्त है। महामंगल स्थविर ने सर्वप्रथम बुद्ध, धम्म एवं संघ की वन्दना की है और बताया है कि मैं बुद्धघोष की उत्पत्तिकथा का यथाभूत वर्णन कर रहा हूँ।

बन्दित्वा रतनत्तयं सब्बपापपवाहनं ।
बुद्धघोसस्स उप्पत्तिं वण्णयिस्सं यथाभूतं ।।

इन्होंने यह भी कहा है कि जो सद्यः इस सम्यक्सम्बुद्ध द्वारा वर्णित बुद्धघोष के निदान को सुनेगा वह स्वर्ग एवं मोक्ष का अधिकारी होगा क्योंकि यह सुख एवं मोक्षदायक है।[१] इससे यह ज्ञात होता है कि बुद्धघोसुप्पत्ति का दूसरा नाम 'बुद्धघोष का निदान' भी है।

बुद्धघोष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के दो सौ छत्तीस वर्ष बाद स्थविर महेन्द्र लंका में बुद्ध-उपदेशों को ले गये थे। उनके परिनिर्वाण के उपरान्त बुद्धघोष नामक स्थविर उत्पन्न हुए। उनके उत्पन्नमात्र को बताते हुए कहा गया है कि— महाबोधि के समीप घोष नामक एक गाँव था। गोपालों का निवास स्थान होने के कारण इसका नाम 'घोस गाँव' था। वहाँ एक राजा राज्य करता था। उसका 'केसी' नामक ब्राह्मण पुरोहित था। वह श्रेष्ठ गुरु तथा राजा का अत्यन्त प्रिय था। 'केसनी' उसकी धर्मपत्नी थी।

'तस्सेव केसिनी नाम ब्राह्मणी च विसारदी ।
ब्राह्मणस्स पिया होति गरुट्ठा व अनालसा' ति ।।

उस समय 'बुद्धदेशना' (तिपिटक) सीहलभाषा में होने के कारण अन्य लोग 'परियत्तिशासन' (सम्पूर्ण बुद्धवचन) के अर्थ को नहीं जान सकते थे, इसलिए— ऋद्धिसम्पन्न महाक्षीणास्रव एक महास्थविर ने चिन्तन किया कि स्वर्गलोक में घोसदेव पुत्र निवास करता है यदि वह इस लोक में प्रादुर्भूत हो तो भगवान् बुद्ध के शासन को सीहलभाषा से मागधीभाषा में परिवर्तन करने में समर्थ हो सकता है। चिन्तन के अनन्तर महास्थविर तावतिंसभवन में देवराज शक्र के सामने प्रगट हुए। देवराज ने आने का कारण पूछा तो महास्थविर ने कहा कि इस समय भगवान् बुद्ध का शासन लोगों के लिए दुर्विज्ञेय है, क्योंकि वह सीहलभाषा में कथित है। आपके इस देवलोक में घोसदेव पुत्र नामक एक देव-पुत्र निवास करता है वह प्रज्ञावान् है और पूर्वबुद्धों की सेवा एवं साक्षात्कार-

---

१. तस्मा सुणेय्य सक्च्चं सम्मासम्बुद्ध वण्णितं ।
बुद्धघोसस्स निदानं सग्गमोक्खसुखावहं ति ।। बु.घो. पृ.१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृत है। वह बुद्धशासन को सिंहलीभाषा से मागधी भाषा में परिवर्तित करने में समर्थ है। इन्द्र ने घोसदेव पुत्र के निकट जाकर कहा कि महास्थविर तुझे मनुष्य लोक में ले जाना चाहते हैं। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि मेरे जाने से बुद्ध शासन जो लोगों को ज्ञात नहीं हो रहा है उन्हें ज्ञात होगा, तो वह मनुष्य लोक आने को तैयार हो गया। स्थविर केसी ब्राह्मण के मित्र थे। वहाँ से आकर पात्र चीवर लेकर ब्राह्मण के घर पिण्डपात के लिए पहुँचे और उन्होंने कहा कि आज से सातवें दिन तुझे पुत्र लाभ होगा। सातवें दिन घोसदेव पुत्र केसिनी ब्राह्मणी के उदर में प्रवेश किया और दस मास बीतने पर उत्पन्न हुआ। उनके जन्म के समय दास, कर्मकर और ब्राह्मण परिषद् दूसरे को सुन्दर आवाज में खाओ-पीओ कहा इसलिए उस बच्चे का नाम घोसकुमार रखा गया।

घोसकुमार सात वर्ष में ही सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर तीनों वेदों में पारंगत हो गया। घोसकुमार को बड़े प्यार से उनके माता-पिता ने पाला-पोसा और उनके प्रतिभा से प्रसन्न हुये। एक दिन केसी ब्राह्मण राजा को वेद पढ़ाने के लिए अपने पुत्र के साथ गया था। वह शिक्षा काल में वेद के एक कठिन स्थल को पाकर उसके अर्थ और अभिप्राय को न जानकर राजा से पूछ कर अपना घर लौट गया। घोस कुमार ने यह समझ लिया कि मेरे पिता वेद की इस ऋचा के अर्थ को नहीं जानते हैं, इसलिए उसने एक कागज पर उसका अर्थ लिखकर रख दिया। केसी ब्राह्मण उसे देखकर और उसके अभिप्राय को जानकर बड़ा सन्तुष्ट हुआ। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि यह 'अर्थ' हमारे पुत्र ने ही लिखा है, तो उसकी प्रशंसा करते हुये राजा को बतलाया। जिससे राजा ने संतुष्ट होकर उसका आलिंगन किया और प्यार से कहा— 'तुम मेरे पुत्र हो और में तुम्हारा पिता हूँ। इस तरह बुद्धघोष के जन्म और शिक्षा के संबंध में इस अध्याय में चर्चा की गई हैं।

द्वितीय परिच्छेद

ग्रंथ के द्वितीय परिच्छेद में बुद्धघोष की प्रव्रज्या और आचार्य उपाध्याय के द्वारा प्राप्त उपसम्पदा का वर्णन किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि केसी ब्राह्मण के मित्र महास्थविर अपनी प्रकृति के अनुसार पिण्डपात के लिए उनके घर गये। वहाँ उन्होंने उन्हें बुद्धघोष के आसन पर बैठाया। इसे देखकर घोस ब्राह्मण कुमार क्रोधित हो गया और कहा कि क्या मुण्डक स्थविर वेद की ऋचाओं को जानता है अथवा कोई दूसरा मंत्र जानता है। महास्थविर ने उत्तर दिया 'मैं' सभी वेदों के मंत्रों को जनाता हूँ उसने वेद मंत्रों का जटा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाठ सुना दिया। घोस कुमार ने कहा कि भन्ते! मैं आपके मंत्र का अर्थ जानना चाहता हूँ। उसकी बात को सुनकर महास्थविर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कुसला धम्मा, अकुसला धम्मा, अब्याकता धम्मा आदि के अर्थ को स्पष्ट किया और यह बतलाया कि अनवद्य इष्ट विपाक लक्षण कुशल है और अकुशल को नष्ट कर देना इसका कृत्य है, मन का निर्मल होना इसके जानने का आकार है और यह सुगति को देने वाला है। इसके विपरीत अकुशल धर्म है, जो दुर्गति को देने वाला है और इन दोनों से भिन्न अब्याकृत धर्म है, जिसका विपाक नहीं होता है तथा जो कुशल तथा अकुशल भी नहीं है। इस प्रकार उन्होंने २१ कुशल, १२ अकुशल, ३६ विपाक तथा २० प्रकार के क्रिया चित्तों का वर्णन किया, और बतलाया कि इसे सद्धर्म्म कहते हैं। पुनः जब घोसकुमार ने पूछा कि इस मंत्र का क्या नाम है? तब महास्थविर ने इसे बुद्धमंत्र बतलाया। पुनः घोसदेवपुत्र ने पूछा कि क्या मैं इसे सीख सकता हूँ, तो महास्थविर ने बतलाया कि प्रव्रजित होने पर ही कोई सीख सकता है। गृहस्थ अनेक बाधाओं से परिपूर्ण रहता है, इसलिए वह इसे नहीं सीख सकता। इसके बाद घोस कुमार ने माता-पिता से आज्ञा लेकर महास्थविर के पास जाकर प्रव्रज्या ली। प्रव्रजित होने पर उसे महास्थविर ने 'तचकम्मट्ठान' दिया और उस पर ध्यान करने को कहा। बुद्धघोष ने उस कम्मट्ठान पर भावना करते हुए बुद्ध, धर्म तथा संघ में श्रद्धा रखते हुए दससील का पालन किया तथा अनित्य, दुःख, अनात्म की भावना करते हुए बुद्धशासन में श्रद्धावान् हुआ।

इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण त्रिपिटक को एक वर्ष में ही कंठस्थ कर लिया और चार प्रतिसम्भिदाओं को जानकर अविहत ज्ञान सम्पन्न हुआ। तब से इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में वह बुद्धघोष के नाम से जाना जाने लगा।

तृतीय परिच्छेद

तीसरे परिच्छेद में बुद्धघोष के माता-पिता की मिथ्यादृष्टियों को हटाने का उपाय बतलाया गया हैं। एक दिन बुद्धघोष के मन में यह विचार आया कि मेरी प्रज्ञा अधिक है अथवा मेरे उपाध्याय की। उपाध्याय ने, जो महाक्षीणास्रव थे, उसके चित्त में उत्पन्न उस वितर्क को जान लिया और जानकर बुद्धघोष से कहा कि तुम्हारा ऐसा सोचना श्रमण धर्म के अनुकूल नहीं है। बुद्धघोष स्थविर की बात को समझकर उनसे क्षमा याचना की। तब उपाध्याय ने कहा कि यदि तुम लंकाद्वीप जाकर सम्पूर्ण बुद्धवचन को सिंहली भाषा से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मागधी भाषा में परिवर्तन कर सकोगे, तभी में तुम्हें क्षमा करूँगा अन्यथा नहीं। बुद्धघोष ने कहा कि यदि आपकी यही इच्छा है तो मै लंका जाना चाहता हूँ। पर मेरे माता-पिता मिथ्यादृष्टि से युक्त हैं। मैं उनको मिथ्यादृष्टि से मुक्त करना चाहता हूँ। ऐसा कहकर आचार्य से आज्ञा लेकर वे अपने घर आये। उनको देखकर उनके माता-पिता प्रसन्न हुए और कहने लगे कि पुत्र गृहस्थ होगा क्योंकि उसका मुख प्रसन्न है। यह भिक्षु बनकर घूम घामकर लौट आया है। बुद्धघोष उनकी बातों को सुनकर चुप रहे और अपने वासस्थान में ईटों की दो गर्भ कुटी बनवाया और उसमें से एक में अन्दर और बाहर अर्गला लगाकर वहाँ खाने पीने का सारा सामान रखकर अपने माता-पिता को अन्दर प्रवेश कराकर बाहर किवाड़ बन्द कर दिया। केसी ब्राह्मण ने पूछा— तात्! मैं तुम्हारा पिता हूँ। तुम मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों करते हो? तब बुद्धघोष ने कहा कि आप मेरे माता-पिता अवश्य हैं लेकिन आप मिथ्यादृष्टि से सम्पन्न है क्योंकि बुद्धशासन के प्रति अप्रसन्न तथा अश्रद्धावान् हैं। इसलिए यह 'दण्ड' मैनें किया है। उसके माता-पिता ने कहा— मैं मिथ्यादृष्टि से सम्पन्न होकर कोई काम नही करता हूँ, इसलिए द्वार खोल दो। बुद्धघोष ने कहा कि यदि आप मिथ्यादृष्टि से सम्पन्न होकर कार्य नही करते हैं तो आप बुद्धगुणों का वाचन करें तभी में आपका द्वार खोलूँगा। उन्होंने कहा कि मिथ्यादृष्टि सम्पन्न कर्म अवीची नरक में ले जाता है। इस प्रकार नरक-भय की तर्जना से उसके माता-पिता मिथ्यादृष्टि को छोड़कर बुद्ध, धर्म तथा संघ के शरण में चले गये तथा बुद्धगुणों को स्मरण करते हुए 'सोतापत्ति फल' को प्राप्त किये। इस पर बुद्धघोष बहुत प्रसन्न हुए और साधु-साधु कहकर अनुमोदन किया।

चतुर्थ परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद में बुद्धघोष के लंका-गमन का वर्णन है। बुद्धघोष ने अपने माता-पिता को श्रोतापत्ति फल में प्रतिस्ठापित कर अपने दोष के लिए क्षमा माँगकर उनसे पूछकर उपाध्याय के निकट पहुँचे और उपाध्याय से आज्ञा लेकर लंका द्वीप जाने के लिए महावणिक् के साथ बन्दरगाह पर जाकर नाव पर चढ़कर लंका के लिए प्रस्थान किया। उनके नाव पर सवार होने के दिन ही बुद्धदत्त महास्थविर भी लंका द्वीप से भारतवर्ष आने के लिए वणिक के साथ नाव पर चढ़कर आ रहे थे। महासमुद्र में घूमते हुए बुद्धदत्त से उनकी भेंट हो गई। बुद्धघोष के पूछने पर उस वणिक ने यह बुद्धदत्त महास्थविर हैं' ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाना और उनकी वन्दना की। बुद्धदत्त, बुद्धघोष को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनका नाम जानकर लंका द्वीप जाने का कारण पूछा। तब बुद्ध घोष ने बतलाया कि मैं सिंहल द्वीप बुद्धशासन को सिंहली भाषा से मागधी भाषा में परिवर्तन करने के लिए जा रहा हूँ। बुद्धदत्त ने कहा कि मैं भी इसी कार्य के लिए गया था लेकिन मैं केवल जिनालंकार, छदन्तधातु, बोधिवंस आदि ग्रन्थों का ही मागधी भाषा में परिवर्तन कर सका हूँ। अट्ठकथा तथा टीका आदि का परिवर्तन नहीं कर पाया हूँ। तुम वहाँ जाकर तीन पिटकों की अट्ठकथाओं का मागधी भाषा में परिवर्तन करो-ऐसा कहकर उन्हें इन्द्र के द्वारा दिया गया हरीतकी और लोहे से युक्त लेखनी तथा एक पत्थर दिया। तदन्तर बुद्धघोष ने उनसे आज्ञा लेकर लंका द्वीप की ओर प्रस्थान किया। इस प्रकार बुद्धघोष के लंकाद्वीप-गमन का वर्णन यहाँ अत्यन्त रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

पंचम परिच्छेद

इस अध्याय में बुद्धघोष का लंका पहुँचना और वहाँ पर दो ब्राह्मणदासियों के झगड़े में साक्षी बनने की चर्चा की गई है। कुछ दिन लंका में निवास के अनन्तर बुद्धघोष ने एक दिन दो ब्राह्मणदासियों को देखा, जो घाट पर पानी लेने आयी थीं और आपस में झगड़ा करने लगी। बुद्धघोष ने उनके विवाद को सुनकर सोचा कि यहाँ अन्य कोई नहीं है। ये दोनों स्त्रियाँ अपने-अपने स्वामी को अवश्य कहेंगी कि वहाँ पर केवल वही स्थविर थे। वे हमसे भी अवश्य पूछेंगे कि इन दोनों में से किसने क्या कहा है अत: इनकी बातों को मुझे लिख लेना चाहिए। ऐसा सोचकर उन्होंने दोनों की बातों को लिख लिया। वे दासियाँ जाकर अपने स्वामी को सारी बातें बतायी। तदनुसार वे सब राजा के यहाँ न्याय के लिए गये। राजा ने कहा कि जिस समय तुम झगड़ा कर रही थी उस समय वहाँ कोई था या नहीं। दासियों ने स्थविर के बारे में कहा कि केवल स्थविर ही वहाँ था। राजा ने स्थविर से पूछने के लिए दूत भेजा जिसे लिखित बयान स्थविर ने सौप दिया। जिसे देखकर राजा ने पूछा कि क्या तुमने ऐसा कहा है जिसे उन लोगों ने स्वीकार किया। तदनन्तर राजा ने जिसका घट नहीं टूटा था उसे दण्ड दिया। राजा ने उस स्थविर को देखने की इच्छा व्यक्त की पर ब्राह्मण ने मिथ्यादृष्टि के कारण कहा कि वह स्थविर वाणिज्य के लिए यहाँ आया है अत: यह आपके अनुरूप नहीं होगा कि उसको देखें और बातचित करें। राजा उस ब्राह्मण की बात सुनकर स्थविर के गुणों से प्रभावित हुआ और दो गाथाओं के माध्यम से स्थविर के गुणों की प्रशंसा की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ परिच्छेद

इस परिच्छेद में आचार्य बुद्धघोष द्वारा सिंहली से मागधी में अट्ठकथाओं के परिवर्तन की कथा वर्णित है।

स्थविर बुद्धघोष लंका द्वीप में संघराज महास्थविर को प्रणाम करने को गये। वहाँ महास्थविर भिक्षुओं को अभिधर्म एवं विनय का अध्यापन कर रहे थे। वहाँ जाकर बुद्धघोष उन स्थविरों के पीछे बैठ गये।

महास्थविर अध्यापन करते हुए अभिधर्म के गण्ठिस्थल को स्पष्ट करने में असफल हो कर महास्थविरों को अध्यापन में लगाकर स्वयं अन्तर्गर्भ में ग्रन्थिस्थल पर विचार करते हुए प्रवेश कर गये। बुद्धघोष ने ऐसा देखकर उस ग्रन्थि स्थल का अर्थ लिखकर वहाँ रख दिया। जब महास्थविर ने उसको देखा तो उन स्थविरों से पूछा 'इसे किसने लिखा है' उन पाठक स्थविरों ने कहा कि आगन्तुक भिक्षु ने इसे लिखा होगा। महास्थविर ने बुद्धघोष को बुलाया। पूछने पर बुद्धघोष ने कहा 'इसे मैंने लिखा हैं।' महास्थविर ने तिपिटक पढ़ने को कहा तो आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि इसे पढ़ने यहाँ नही आया हूँ वरन् बुद्धवचनों को सिंहली से मागधी में परिर्तन करने के लिए आया हूँ। आचार्य बुद्धघोष की बात सुनकर महास्थविर अत्यन्त प्रसन्न हुए और निम्नलिखित गाथा को तीनों पिटकों के अनुसार व्याकरण करने को कहा—

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं
आतापी निपको भिक्खु
सो इमं विजटये जटं ति ।

आचार्य बुद्धघोष ने उपर्युक्त गाथा के व्याकरण स्वरूप विसुद्धिमग्गो नामक महनीय ग्रन्थ की रचना की और महास्थविर को दिखाया। महास्थविर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने बुद्धवचन को मागधी में परिवर्तन करने की आज्ञा प्रदान की। उसी समय से लंका द्वीप में महास्थविर बुद्धघोष के नाम से विख्यात हुए।

सप्तम परिच्छेद

इस परिच्छेद में आचार्य बुद्धघोष द्वारा बुद्धवचनों का सिंहली भाषा से मागधी भाषा में परिवर्तन की कथा वर्णित है। आचार्य बुद्धघोष लंका द्वीप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते हुए अपने अनुरूप वासस्थान के लिए निवेदन किया, जहाँ पर बैठकर बुद्धवचनों को मागधी में परिवर्तन कर लिखा जा सके। महास्थविर ने बुद्धघोष को रहने के लिए लौहप्रासाद में स्थान नियत किया। वह लौहप्रासाद सात तलों से युक्त था। क्रमशः सभी तलों में क्षीणास्रव, धुतङ्गधर, सुत्तन्तधर, विनयधर, अभिधम्मधर, मग्गफल के लिए प्रयत्नशील तथा त्रिलक्षण की भावना करने वाले भिक्षु रहते थे तथा नीचे के तल में जहाँ कोई भिक्षु नहीं रहते थे, वहाँ स्थविर बुद्धघोष निवास करने लगे तथा सम्पूर्ण बुद्धवचनों को सिंहलीभाषा से मागधी भाषा में परिवर्तन का कार्य करने लगे। बुद्धघोष धुताङ्गधर थे और त्रिपिटकधर थे। उन्होंने प्रतिदिन बुद्धवचनों को मागधीभाषा में लिखते थे इस प्रकार के कार्यों से वहाँ रहने वालें भिक्षु अत्यन्त प्रसन्न हुए। आचार्य बुद्धघोष ने तीन महीने में सम्पूर्ण बुद्धवचन को मागधी में परिवर्तित कर दिया। बुद्धवचन को मागधी में परिवर्तित कर महास्थविर को निवेदित किया। महास्थविर अत्यन्त प्रसन्न भाव से साधुकार प्रदान करते हुए कहा—

'सासनं नाम दुल्लभं बुद्धसेट्ठस्स भासितं ।
परिवत्तानुभावेन तं पस्साम यथा सुखं ।।
यथा पि पुरिसो अन्धो समासमं न पस्सति ।
तथा मय्हं न पस्साम सासनं बुद्धभासितं ति ।।

इसके उपरान्त आचार्य बुद्धघोष ने महास्थविर से प्रार्थना की भन्ते मैं जम्बुद्वीप जाना चाहता हूँ। ऐसा निवेदन कर जम्बुद्वीप के लिए नाव से व्यापारी के साथ प्रस्थान कर गये। आने से पूर्व लंकावासियों को अपने संस्कृत प्रतिभा का भी प्रदर्शन किया। सिहलवासियों ने आदर सहित बुद्धघोष को विदा किया।

अष्टम परिच्छेद

इस परिच्छेद में आचार्य बुद्धघोष का भारत प्रत्यागमन का वर्णन किया गया है। अपने उद्देश्य को पूर्ण कर स्थविर बुद्धघोष वणिक मित्र के साथ भारत आने के लिए नावारूढ़ हुए। और कुछ ही दिनों में भारतीय बन्दरगाह पर पंहुचे। अपने वणिक्-मित्र से पूछकर अपना पात्रचीवर लेकर उपाध्याय के निकट गये। त्रिपिटक एवं अट्ठकथा सहित सम्पूर्ण बुद्धवचनों का मागधी में लिखित पुस्तकों को दिखाया। दिखाने के अनन्तर उपाध्याय के दण्ड से मुक्त हो अपने दोष के लिए क्षमा माँगकर उपाध्याय की वन्दना कर माता-पिता के निकट गये।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

माता-पिता अपने पुत्र को देखकर प्रसन्न हुए। तब तक उनकी आयु पूरी हो चुकी थी। उन्होंने मृत्यु क्षण को जान कर बुद्धगुणों को स्मरण करते हुए मर कर देवलोक के कनकविमान में उत्पन्न हुए। महास्थविर ने त्रिरत्न के माहानुभाव को जानकर प्रणाम निवेदन किया। तदनन्तर त्रिपिटक विनय, सुत्त एवं अभिधर्म, नौ अंगो, चौरासी हजार धर्मस्कन्धों को सद्धर्म बताया। चार मार्गस्थ एवं चार फलस्थ भिक्षुसंघ को स्मरण किया। इस प्रकार त्रिरत्न बुद्ध, धर्म एवं संघ के स्वरूप को दिखाते हुए प्रणाम निवेदन करते हुए इस गाथा का उद्‌गीरण किया।

बुद्धे धम्मे च संघो च कतो एको पि अञ्जली ।
पहोमि भवदुक्खग्गिं निब्बापेतुं असेसतो ति ।।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध के शासन के महत्त्व को प्रतिपादित किया। अपनी आयु को पूर्ण समझकर अनापानसति की भावना करते हुए महाबोधि के निकट जाकर बोधिवृक्ष की पूजा की। तदनन्तर मरणमञ्च पर आसीन हो सम्मुतिमरण को प्राप्त हुए और स्वर्ग लोक के कनक विमान में उत्पन्न हुए। संक्षेप में बुद्धघोष के सम्पूर्ण जीवनवृत्त को यहाँ दर्शाया गया है। अन्त में लेखक ने इन तीन गाथाओं के माध्यम से इच्छा व्यक्त की है—

बुद्धघोसस्स निदानं एवं तं रचितं मया ।
निदानस्स रचनेन पञ्ञवा होमि सब्बदा ।।
लभेय्यञ्च अहं तस्स मेत्तेय्य समागमं ।
मेत्तेय्यो नाम सम्बुद्धो तारेति जनतं बहुं ।।
यदा मेत्तेय्यतं पत्तो धारेय्यं पिटकत्तयं ।
तदाहं पञ्ञवा होमि मेत्तेय्य उपसन्तिके ति ।।

रचनाकार एवं काल

बुद्धघोसुप्पत्ति (बुद्धघोषोत्पत्ति) आचार्य बुद्धघोष की जीवनी के रूप में लिखी गई रचना है। इसके रचियता महामंगल नामक सिंहली भिक्षु थे। महावंस के प्रथम परिवर्द्धित अंश (चूलवंश) में बुद्धघोष का जीवन-वृत्त दिया गया है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णन के साथ इसे मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धघोसुप्पत्ति का वर्णन चूलवंस के बाद रचित हुआ। अतः महावंस का प्रथम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवर्द्धन जिसमें बुद्धघोष की जीवनी है, तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में लिखा गया, अत: 'बुद्धघोसुप्पत्ति' को उसके कुछ बाद अर्थात् चौदहवी शताब्दी की रचना मान सकते हैं। इसी शताब्दी में पगान में मंगल नामक भिक्षु हुए, जिन्होंने 'गन्थट्ठि' नामक व्याकरण ग्रन्थ (उपसर्गों पर) लिखा। गायगर ने इस मंगल नामक बर्मी भिक्षु के साथ बुद्धघोसुप्पत्ति के लेखक महामंगल को मिलाने का सन्देहपूर्ण सुझाव दिया है। परन्तु यह विल्कुल भी संभव नहीं है। जैसा रोमन लिपि में बुद्धघोसुप्पत्ति के सम्पादक जेम्स ग्रे ने स्वीकार किया है, महामंगल एक सिंहली भिक्षु थे। अत: उन्हें बर्मी मंगल से नही मिलाया जा सकता। तेरहवीं-चौदहवी शताब्दी में सिंहल में मंगल नामक एक अन्य महास्थविर भी हो गये है, जो विदेह स्थविर के गुरु थे। इनसे इस महामंगल को मिलाया जाय या नहीं, यह भी एक समस्या ही है। अस्तु 'बुद्धघोसुप्पत्ति' में अलौकिक विधान इतना अधिक है कि उसका वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्वांकन नहीं किया जा सकता। बुद्धघोष की बाल्यावस्था और प्रारंम्भिक शिक्षा तथा धर्म-परिवर्तन का वर्णन करते समय ऐसा मालुम होता है मानो 'मिलिन्दपञ्ह' के नागसेन और रोहण तथा 'महावंस' (परि.५) के सिग्गव तथा मोग्गलिपुत्ततिस्स सम्बन्धी प्रकरणों के नामूनों का ही रूपान्तर कर के रख दिया गया है। यद्यपि लेखक ने बुद्धघोष के जन्म, बाल्यावस्था, प्रारम्भिक शिक्षा, धर्मपरिवर्तन ग्रन्थ-रचना आदि सभी का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। बुद्धदत्त कृत विनय विनिच्छय के अनुसार बुद्धदत्त ने बुद्धघोष-कृत विनय और अभिधम्मपिटक सम्बन्धी अट्ठकथाओं को ही क्रमश: अपने 'विनय-विनिच्छय' और अभिधम्मावतार' के रूप में संक्षिप्त रूप दिया था। किन्तु 'बुद्धघोसुप्पति' में बुद्धदत्त का प्रथम लंका-गमन दिखा कर बुद्धघोष को अपना अपूर्ण काम पूरा करने का उन्हें आदेश देते दिखाया गया है। निश्चय ही 'विनयविनिच्छय' का ही प्रमाण यहाँ दृढ़तर माना जा सकता है। 'विद्वानों ने महास्थविर मंगल की इस रचना को चौदहवीं शताब्दी का माना है।

वीरेन्द्र पाण्डेय

२८।४।२०००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

।। नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।।

बुद्धघोसुप्पत्ति

वन्दित्वा रतनत्तयं सब्बपाप पवाहनं ।
बुद्धघोसस्स उप्पत्तिं, वण्णयिस्सं यथाभूतं[१] ।।
भावन्ता साधवो तुम्हे, सप्पुरिसा समागता ।
अञ्ञञ्च कम्मं पहाय तं[२] सुणाथ समाहिता ।
यो च सुत्वान सद्धम्मं वाचेति[३] अपि सिक्खति ।
दिट्ठे धम्मे च पासंसो पच्छा निब्बान पापुणि ।।
तस्मा सुणेय्य सक्कच्चं सम्मासम्बुद्ध वण्णितं ।
बुद्धघोसस्स निदानं सग्गमोक्खसुखावहं ति ।।

पठमो परिच्छेदो

एवं इद्धियादीहि सद्धिं आगन्त्वा पठमं ताव[४] आयस्मा महिन्दथेरो सम्मासम्बुद्धस्स परिनिब्बानतो द्विन्नं वस्ससतानञ्च उपरि छट्ठिंसमे वस्से च इमस्मिं[५] पतिट्ठहति। पतिट्ठहित्वा च[६] यावतायुकं तिट्ठमानो बहूनं वाचेत्वा बहूनं हदये पतिट्ठपेत्वा अनुपादिसेसाय निब्बानधातुया परिनिब्बायि। तस्स अपरभागे बुद्धघोसो नाम थेरो उप्पज्जि। तस्स च उप्पन्नभावो कथं वेदितब्बो। एकस्मिं किर समये घोसो नाम गामो महाबोधितो अविदूरे अहोसि। कस्मा बहूनं गोपालदारकानं बाहुल्लनिवासनठानभूतत्ता[७] गामस्स घोसगामो नाम अहोसि। तस्मिं अञ्ञतरो राजा रज्जं कारेसि। तस्स केसी नाम ब्राह्मणो पुरहितो सेट्ठगरु पि अहोसि पियो मनापो। तस्सेव भरिया केसिनी नाम अहोसि। तेनाहु पोराणा—

---

१. P.S.P. वण्णयिस्सामि; २. S.D.P दं-इदं।
३. S.D.P वाचति, P. वाचाहि।
४. पठमं ताव in the Reading of the B.F.L.Ms of the Mss. have पतिट्ठहन्तो च।
५. इमस्मिं-सीहलदीपे; ६. पन
७. B.F.L. बाहुल्लसन्निपातठानभूतत्ता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केसी च नाम ब्राह्मणो रञ्ञो च वल्लभो पियो ।
वेदत्तयं सिक्खापेति राजानञ्च दिने दिने ।।
तस्सेव केसिनी नाम ब्राह्मणी च विसारदी ।
ब्राह्मणस्स पिया होति गरुट्ठा व[१] अनालसा ति ।।

यदा पन परियत्तिसासनस्सेव सीहलभासाय कथितत्ता अञ्ञे परियत्तिसासनं न विजानन्ति, तदा अञ्ञतरो थेरो इद्धिपत्तो महाखीणासवो तं कारणं जानित्वा चिन्तेसि—"को नाम महाथेरो भगवतो परियत्तिसासनं सीहलभासाय परिवत्तेत्वा मागधभासाय कथेस्सति" ति। चिन्तेत्वा च पन घोसदेवपुत्तं तावतिंसभवने वसन्तं भगवतो परियत्तिसासनं सीहलभासाय परिवत्तेत्वा मागधभासाय कथेतुं समत्थं ति अद्दस।[२] चिन्तनन्तरमेव तावतिंसभवने सक्कस्स देवरञ्ञो पातुरहोसि। सक्को पि तं थेरं वन्दित्वा पुच्छि—"किंकारणा भन्ते आगतोसी" ति। सोपि "दानि महाराजा भगवतो सासनं अञ्ञेहि दुब्बिजानं[३] होति सीहलभासाय कथितत्ता। घोसदेवपुत्तो नाम पन एको देवो तावतिंसभवने सन्तो सो पि तिहेतुकपटिसन्धिपञ्ञो[४] पुब्बबुद्धेसु कतसम्भारो समत्थो भगवतो सासनं सीहलभासाय परिवत्तेत्वा मागधभासाय[५] कथेतुं ति आह।

सक्को पि "तेन हि भन्ते आगमेहि" वत्वा घोसदेवपुत्तस्स सन्तिकं गन्त्वा आलिङ्गेत्वा आह "मारिस देवपुत्त एको महाथेरो त्वं[६] आराधेत्वा मनुस्सलोकं गमितुं इच्छती" ति।

सो 'देवराज अहं उपरिदेवलोकं गमितुं इच्छामि। कस्मा? मनुस्सलोके निवासो नाम बहुदुक्खो बहुपायासो। तेन मनुस्सलोकं न गच्छामि। यदि पन भगवतो सासनं अञ्ञेहि दुब्बिजानं[७] होति अहं पि मनुस्सलोकं गमिस्सामी ति अनुजानि।

सक्को देवराजा तस्स पटिञ्ञं गहेत्वा थेरस्स पटिवेदेसि। सो थेरो देवपुत्तस्स पटिञ्ञं लद्धा पुन आगच्छि।

तदा सो थेरो केसीब्राह्मणसहायो कुलूपको अहोसि। विभाताय रत्तिया पत्तचीवरं आदाय गन्त्वा ब्राह्मणस्स गेहे परिभुञ्जि। भुत्तावसाने ब्राह्मणं आह—

---

१. B.F.L. विसुद्धता for गरुट्ठाव;
२. Three Mss. have अदस्स।
३. B.F.L, S.D.P. दुविजानं;
४. B.F.L. तिहेतुकपटिसन्धि नाम सपञ्ञो।
५. B.F.L. adds मूलभासाय;
६. S.D.P त्वं B.F.L. तं।
७. B.F.L. दुजानं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अज्ज दिवसतो[१] पट्ठाय सत्तमे दिवसे मा पमज्जा; तव पुत्तो भविस्सति महापुञ्ञो" ति वत्वा च पन पक्कमि।

सत्तमे दिवसे घोसदेवपुत्तो अभिट्ठहित्वा कालं कत्वा केसिनीया ब्राह्मणिया कुच्छिम्हि पटिसन्धिं गण्हि। दसमासच्चयेन गब्भतो निक्खमि। निक्खमनकाले च दासकम्मकरादयो ब्राह्मणपरिसा अञ्ञमञ्ञं सुन्दरघोससद्दानि" खादथ पिवथा" ति आदिनि पवत्तयिंसु। तेनस्स घोसकुमारो ति नामं अकंसु।

सो पि सत्तवस्सिको हुत्वा वेदानि च उग्गहेत्वा सत्तवस्सब्भन्तरे येव तिण्णं वेदानं निप्फत्ति पापुणि। एकस्मिं दिवसे घोसब्राह्मणकुमारो बिस्सनुखन्धे निसीदित्वा मासं भुञ्जति[२]। अथ नं घोस कुमारं बिस्सनुखन्धे निसीदित्वा मासं भुञ्जन्तं दिस्वा अञ्ञे ब्राह्मणा, अतिकुद्धा, हरे[३] "घोसकुमार कस्मा त्वं अम्हाकं आचरिया बिस्सनुखन्धे[४] निसीदित्वा मासं भुञ्जासी" ति। "अपि च अत्तनो गरुभावमत्तं न जानाति कथं त्वं तयो वेदे जानिस्सती[५] ति आहंसु। सो बिस्सनुखन्धे निसीदित्वा मासं भुञ्जन्तो येव बिस्सनुकिच्चं पुच्छन्तो गाथमाह—

मासो व बिस्सनु नामको बिस्सनू ति वुच्चति।
उभयेसु च एतेसु कथं जानामि बिस्सनू ति।।

तं सुत्वा ब्राह्मणा अञ्ञमञ्ञं मुखं ओलोकयमाना पटिवचनं दातुं असमत्थो अपटिभाणा व अहेसुं। अथञ्ञे[६] ब्राह्मणा तं केसिब्राह्मणं आरोचेसुं। केसीब्राह्मणो अत्तनो पुत्तं पुच्छि—"किं तात एवं करोसी" ति।

"आम ताता" ति।

केसी ब्राह्मणो ब्राह्मणे[७] पलोभेत्वा "मं पस्सथ, मा कुज्झि; सो तरुणो, किञ्चि न जानासी" ति उय्योजेसि।

एकस्मिं दिवसे केसीब्राह्मणो राजानं वेदं सिक्खापेतुं अत्तनो पुत्तं गहेत्वा सिक्खनत्थाय गतो होति। घोस ब्राह्मणकुमारो गमितुं अजचम्मं आसनं गहेत्वा

---

१. S.D.P. अज्जतो।
२. S.D.P. भुञ्जि;
३. S.D.P. अरे।
४. B.F.L. आचरियो हुत्वा बिसनुखन्धे;
५. S.D.P. and P. न जानासि।
६. S.D.P. अथ;
७. S.D.P. परिजनं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पितरा सद्धिं गतो होति। सो राजानं सिक्खन्तो येव एकस्मिं वेदपदेसे गण्ठिठानं पत्वा अत्थं वा अधिप्पायं वा अजानित्वा कङ्खी हुत्वा राजानं आपुच्छित्वा अत्तगेहं पुनागच्छि।

घोसो अत्तनो पितरं गण्ठिठानं अजाननत्थं ञत्वा अत्तनो पञ्ञाय तं गण्ठिठानं उत्तानं कत्वा पोत्थके लिखित्वा ठपेसि। सो पि केसीब्राह्मणो तं अक्खरं दिस्वा वेदानं अत्थञ्च अधिप्पायञ्च ञत्वा तुट्ठो होति। तस्स ब्राह्मणस्स तं गण्ठिठानं मनसि पाकटं होति। अथ सो केसीब्राह्मणो परिजने[१] पुच्छि—"इदं अक्खरं नाम केन लिखितं" ति।

परिजना आहंसु—"तात तं अक्खरं नाम केन[२] तव पुत्तेन लिखितं" ति।

केसीब्राह्मणो अत्तनो पुत्तं पुच्छि—"तात तं अक्खरं नाम तया लिखितं" ति।

"आम ताता" ति वदति।

सो अतिविय तुट्ठो अत्तनो पुत्तं पसंसन्तो द्वे गाथायो अभासि—

त्वं येव दहरो होति पञ्ञवा ति च पाकटो ।
यस्स त्वं तादिसो पुत्तो सो सेट्ठो व जनुत्तमो ।।
त्वञ्च दानि सुखी होसि अमरो विय सण्ठितो[३] ।
त्वं येव मे पिता होसि, अहं ते पुत्तसन्निभो ति ।।

एवं पि सो अत्तनो पुत्तं पसंसित्वा राजानं आरोचेसि। राजा तं सुत्वा अतिविय तुट्ठो तं आलिङ्गेत्वा अङ्के[४] कत्वा सीसं चुम्बित्वा आह— तात त्वं मम पुत्तो होसि; अहं ते पिता ति वत्वा इमं गाथमाह—

वरपञ्ञो तुवं तात ब्राह्मणेसु च उत्तमो ।
पञ्ञाय ते पमोदामि, दम्मि ते वरगामकं ति ।।

।। इति बुद्धघोसकुमारभूतस्स पठमपरिच्छेदवण्णना समत्ता।।

●

---

१. S.D.P. परिजनं;
२. B.F.L.P. तेन।
३. अत्ततो;
४. S.D.P.-अङ्के। B.F.L.omits अङ्केकत्वा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुतियो परिच्छेदो

ततो पट्ठाय ब्राह्मण घोसकुमारस्स वेदं उग्गण्हन्तस्स दिवसे दिवसे च छसहस्सवेदपदानि[१] वाचुग्गतानि होन्ति। अथेकदिवसे केसीब्राह्मणसहायो महाथेरो अत्तनोपकतिया भोजनत्थाय गेहं गन्त्वा गेहमज्झे तिट्ठति। अथेको माणवो घोसब्राह्मणकुमारस्स आसनं आहरित्वा पञ्ञापेत्वा महाथेरस्स अदासि। महाथेरो उपेक्खकोव हुत्वा घोसब्राह्मणकुमारस्स आसने निसीदि। अथ खो घोसब्राह्मण-कुमारो तं महाथेरं अत्तनो आसने निसिन्नं दिस्वा अतिविय कोधो हुत्वा पहटनङ्गुट्ठ-भुजगो[२] विय अहोसि। सो तं कुज्झित्वा अविसहन्तो महाथेरं अक्कोसि—"अयं मुण्डसमणो अलज्जी अत्तनो पमाणं न जानाति; कस्मा मे पिता भोजनं दापेसि; किन्नु अयं इमं वेदं जानाति उदाहु अञ्ञं मन्तं जानती" ति। परिभासित्वा च पन एवं चिन्तेसि—"अहं भुत्ताविंओणितपत्तपाणिं[३] मुण्डसमणं इमं वेदं पुच्छिस्सामी" ति।

अथ सो महाथेरं भुत्ताविओणितपत्तपाणिं निसिन्नं पुच्छि—"भन्ते मुण्ड त्वं वेदं जानासि उदाहु[४] अञ्ञं मन्तं ति।

महाथेरो तं सुत्वा अतिविय हट्ठतुट्ठो[५] हुत्वा आह—" तात घोस अहं तुम्हाकं वेदं जानामि, अञ्ञं मन्तं पि जानामी" ति। सो आह—"यदि वेदं जानाति त्वं सज्झायं करोही" ति

अथ महाथेरो तयो वेदे सज्झायित्वा तिण्णं वेदानं आदिमज्झन्तं आमसित्वा[६] पण्डितेन विनिवेदं जटसुत्तं गुळमिव वेदं सुसण्ठपेत्वा सज्झायि। सज्झायनावसाने अत्तनो कमण्डलुना[७] उदकेन[८] मुखं विखालेत्वा व निसीदि।

सो तं दिस्वा लज्जी हुत्वा पुनाह—"भन्ते मुण्ड अहं तव मन्तं जानितुं इच्छामि; तव मन्तं सज्झाही" ति।

महाथेरो तं पसादेन्तो अभिधम्ममातिकं सज्झायि-कुसलाधम्मा, अकुसला धम्मा, अब्याकता धम्मा" ति। आदितो व तिण्णं मातिकानं अत्थं विभजन्तो[९] आह—"तात घोस कुसलं नाम अनवज्जिट्ठविपाकलक्खणं अकुसलविद्धंसनरसं

---

१. P. सट्ठि for छ
२. B.F.L. भुजगिंदो।
३. S.D.P. has पो निहत: नीहट for ओणित;
४. S.D.P. adds किं।
५. S.D.P. and P. omit हट।
६. S.D.P. आसस्सित्वा।
७. कमण्डलुनोदकेन; S.D.P.
८. कमण्डलुनोदकेन; S.D.P.
९. B.F.L. and S.D.P. have पिभज्जन्तो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वोदानपच्चुपट्ठानं इट्ठविपाकपदट्ठानं[१] सुगतिसम्पापकं; सावज्जानिट्ठविपाकलक्खणं अकुसलं अवोदानभावरसं अयोनिसोमनसिकारपदट्ठानं दुग्गतिसम्पापकं, तदुभय-विपरीतलक्खणं[२] अब्याकतं अविपाकारहं वा कुसलाकुसलपग्गहेन[३]।

सदा कुसलेन च यं कुसलं चतुभूमकं ।
मुनिना वसिना लपितं लपितं ठपितं मया, ।।
पापापापेसु पापेन यं वुत्तं पापमानसं ।
पापापापपहीनेन तं मया समुदाहटं;[४] ।।
क्रियाक्रियपत्तिविभागदेसको ।
क्रियाक्रियाचित्तमवोच यं जिनो ।
हिताहितानं क्रियाक्रियतो क्रिया ।
क्रियं तं तु मया समीरितं[५] ति ।।

एत्तावता एकवीसतिविधं कुसलं, द्वादसविधं अकुसलं, छत्तिंसविधं विपाकं, वीसतिविधं क्रियाचित्तं ति वत्वा सद्धम्मं देसेसि[६]।

घोसो अभिधम्ममातिकं सुत्वा पि मुय्हित्वा वदति—"भन्ते तुय्हं मन्तो को नामा" ति?

"तात अयं बुद्धमन्तो नामा" ति।

सो आह—बुद्धमन्तो नाम गहट्ठेन[७] मादिसेन सिक्खितब्बो" ति।

---

१. B.F.L. adds योनिसोमनसिकारपदट्ठानं वा।
२. S.D.P. तदुभयं विपरीतलक्खणं अब्याकतं।
३. B.F.L. पकतेन For पग्गहेन।
४. S.D.P. gives these stanzas as follows:–
सदा कुसलेसु कुसलेन च यं कुसलं चतुभुमिगतं ।
मुनिना वसिना लपितं लपितं सकलं पि मया ।।
पापापेसु पापेन यं वुत्तं पापमानसं ।
पापं पापहिनेन तं मया समुदाहटं ।।
५. S.D.P. has–
क्रियाक्रियापत्तिविभागदेसको ।
क्रियाकिरियाचित्तं अवोच यं जिनो ।।
हिताहितानं क्रियाकिरियतो ।
क्रियाकिरियं तन्तु मया समिरितं ।।; ६. P.and B.F.L. देसेति।
७. S.D.P. गहत्थेन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो आह—"बुद्धमन्तो नाम मादिसेन पब्बजितेन सिक्खितब्बो;[१] कस्मा गहट्ठस्स अपरिसुद्धत्ता बहुपलिबोधत्ता चा ति।

अथेकस्मिं दिवसे घोसो तीसु वेदेसु ठानठानं सल्लक्खेत्वा आदिमज्झं पस्सित्वा व नो अन्तं पस्सतीति चिन्तेत्वा उदानं उदानेसि—

बुद्धमन्तो नाम अनग्घो, बुद्धमन्तो मे पि रुच्चति; ।
बुद्धमन्तमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चन्ति ।।

चिन्तेत्वा च पन मातपितरो वन्दित्वा पब्बज्जं याचि। सो[२] तेहि पटिक्खित्तो च पुनप्पुनं याचित्वा पुन आह—"तात अहं महाथेरस्स सन्तिके पब्बजित्वा बुद्धमन्तं परियापुणित्वा मनसि वाचुग्गतं कत्वा विब्भमित्वा पुनागतोम्ही"[३] ति।

अथ मातपितरो सह पूजाय तं[४] गहेत्वा महाथेरस्स उपस्सयं नेत्वा पटिवेदेसुं—"भन्ते अयं ते नेत्ता, तव सन्तिके पब्बजितुकामो तं पब्बाजेथा[५]" ति।

तदा सो तस्स केसमस्सुं ओहारेत्वा अल्लचन्दनचुण्णेहि गिहिगन्धं झापेत्वा सेतवत्थं निवासेत्वा तचकम्मट्ठानं दत्वा पब्बाजेसि।

"भन्ते तच्चकम्मट्ठानं नाम कतमं" ति।

"केसा लोमा नखा दन्ता तचो" ति आह। "अपि च तचकम्मट्ठान[६] नाम सब्बबुद्धेहि अविजहितं; सब्बबुद्धाहि नाम बोधिपल्लङ्के निसिन्ना व तचकम्मट्ठानं नाम निस्साय तिलक्खणेन ञाणं ओतारेत्वा अरहत्तफलं सच्छाकंसु; तेनाह भगवा—

तच्चकम्मट्ठानं नाम[७] सम्मासम्बुद्धदेसितं ।
तचकम्मञ्च आगम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ।।
तस्मा करेय्य भावनं पवरं साधुसम्मतं[८] ।
तचकम्मञ्च भावेन्तो[९] निब्बानं अधिगच्छती' ति ।।

---

१. B.F.L. adds न तुम्हादिसेन।
२. S.D.P. सो घोसो। B.F.L. has सो ते असम्पटिच्छन्ता मातपितरो पुनप्पुनं.....।
३. B.F.L. पुनरागमी।
४. सह पुजाय तं B.F.L. reads सपथे हदेय्यधम्मेन।
५. B.F.L and S.D.P. पब्बजेहि।
६. B.F.L. तचपञ्चककम्मट्ठानं।
७. S.D.P. makes the forst पाद 'तचकम्मं नाम वरं'।
८. S.D.P. and B.F.L. सारसम्मतं, in the former साधु beiing corrected to सार।
९. B.F.L. करोन्तो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो पि तं सुत्वा तचकम्मट्ठानं भावेन्तो तीसु सरणेसु पतिट्ठाय दससीलानि[१] समादियित्वा पञ्चसु कम्मट्ठानेसु तिलक्खणं उप्पादेत्वा[२] बुद्धसासने अचलपसादो हुत्वा बुद्धसासनं सद्दहित्वा तञ्च थेरं आह—"भन्ते बुद्धसासनं नाम संसारस्स अन्तकरणं सब्बभवेसु वट्टदुक्खविनासकारणञ्च मय्हं ञातं, मय्हं वेदा नाम असारा तुच्छा अधुवा; बुद्धादीहि अरियेहि छड्डितब्बा" ति।

सो च पब्बज्जं लभि। ततो पट्ठाय सो दिवसे दिवसे च सट्ठिपदसहस्सानि वाचुग्गतानि कत्वा एकमासेनेव तीणि पिटकानि परियापुणित्वा निट्ठपेसि,सो च तीणि पिटकानि निट्ठपेत्वा परिपुण्णवस्सो व लद्धुपसम्पदो हुत्वा चतूसु पटिसम्भिदासु अविहतञाणो होति। सो च सकलजम्बुदीपे बुद्धघोसो ति नामेन पाकटो होति। सो च देवमनुस्सानं पियो होति मनापो। तेनाहु पोराणा—

महाबोधिसमीपम्हि जातो ब्राह्मणकुलेसु ।
बुद्धघोसो ति नामेन बुद्धो विय महीतले ।
पूजितो नरदेवेहि ब्राह्मणेहि पि पूजितो ।
पूजितो भिक्खुसंघेहि निच्चं लभति पूजितं ति ।।

।। इति बुद्धघोसनामथेरस्स पब्बजितस्स आचरियुपज्झायेहि लद्धुपसम्पदस्स दुतियपरिच्छेदवण्णाना समत्ता।।

●

१. S.D.P. दससीलं।
२. S.D.P. उपट्ठपेत्वा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततियो परिच्छेदो

अथेकदिवसे रहोगतस्स पटिसल्लीनस्स चेतोपरिवितक्को उदपादि—'मय्हं पञ्ञा बुद्धवचनेन अधिकतरो उदाहु उपज्झायस्स अधिकतरो'' ति। तदा सो उपज्झायो महाखीणासवो चेतसा चेतोपरिवितक्कमञ्ञाय—''एतरहि बुद्धघोस तव तक्को मय्हं न रुच्चति; यदि त्वं वितक्केसि समणसारुप्पो नाम न होति; खमापेहि मे खिप्पं'' ति आह।

सो पि उपज्झायस्स वचनं सुत्वा भीतचित्तो संवेगपत्तो तञ्च अभियाचित्वा—''अयं मम सावज्जो, खमथ मे भन्ते'' ति आह।

उपज्झायो—''यदि त्वं खमसि मय्हं त्वं लङ्कादीपं गन्त्वा बुद्धवचनं सीहलभासतो अपनेत्वा मागधभासाय करोहि; तदाहं तया खमितो भविस्सामी'' ति वत्वा तुण्ही अहोसि।

सो आह—''यदि त्वं इच्छसि, मय्हं लङ्कादीपं गन्तुं इच्छामि, भन्ते याव पितरं मिच्छादिट्ठितो मोचेस्सामि ताव अधिवासेही'' ति; वत्वा च पन उपज्झायं आपुच्छित्वा अत्तनो गेहं गतो।

केसीब्राह्मणो अत्तनो पुत्तं दिस्वा चिन्तेसि—''इदानि मम पुत्तो गिहि भविस्ससि; मय्हं पुत्तस्स मुखञ्च पसीदती'' ति। तुट्ठो तं पुच्छि—''इदानि विब्भमित्वा गिहि भविस्सती'' ति।

सो तं सुत्वा तुण्ही अहोसि। सो अत्तनो वसनट्ठानं गन्त्वा द्वे गब्भकुटियो कारेत्वा उपरि इट्ठकाहि छदनं कत्वा[१] मत्तिकाहि लिम्पापेत्वा व बदरेन सङ्घारेत्वा[२] एकस्मिं गब्भे अन्तो च बहि च द्वे अग्गलानि योजेत्वा अग्गिकपालतण्डुलोदक-खीरदधिसप्पिआदीनि[३] च ठपेत्वा यन्तं योजेत्वा अत्तनो पितरं अन्तोगब्भं पविसापेत्वा यन्तयुत्तेन द्वारं पिदहापेसि।

केसीब्राह्मणो पुच्छि—''तात अहं ते पिता, कस्मा एवं करोसी'' ति।

सो आह—''सच्चं मे त्वं पिता असि, अपि च त्वं मिच्छादिट्ठिको बुद्धसासने अपसन्नो असद्धकोसि[४], तस्मा एवं दण्डं अकासिं'' ति।

---

१. P. and B.F.L. भित्तीसु।
२. B.F.L. has 'आसनं पत्थरित्वा' For 'व बदरेन सङ्घरेत्वा'।
३. S.D.P. has कप्पल for B.F.L. adds सक्कर before खीर।
४. B.F.L. असद्धो अहोसि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो—"नाहं मिच्छादिट्ठिकम्मं करोमि; द्वारं में विवराही" ति आह।

"यदि त्वं मिच्छाकम्मं न करोसि, 'इति पि सो भगवात्यादिबुद्धगुणं अभासी' ति वत्वा अहं द्वारं ते विवरिस्सामी" ति आह; तात मिच्छादिट्ठिकम्मं अपहाय कालङ्कते अवीचिम्हि निप्पत्तिस्ससी' ति वत्वा निरयभयेन पितरं तज्जेसि। पुन च पितरं मिच्छादिट्ठिकम्मेन गरहन्तो इमायो गाथायो अभासि—

अदस्सने मोरस्स[५] सिक्खिनो मञ्जुभाणिनो ।
काकं तत्थ अपूजेय्युं[१] मंसेन च फलेन च ।।

यदा च रससम्पन्नो मोरो व मेरुमागमा ।
अथ लाभो च सक्कारो वायसस्स अहायथ ।।

याव नुप्पज्जति बुद्धो धम्मराजा पभङ्करो ।
तत्थ अञ्ञे अपूजेय्युं[१] पुथु समणब्राह्मणे ।।

यदा च रससम्पन्नो बुद्धो धम्ममदेसयि ।
अथ लाभो च सक्कारो तित्थियानं अहायथ ।।

यथा पि खज्जोपनका[२] कालपक्खम्हि रत्तिया ।
दस्सयन्ति च ओभासं एतेसं[३] विय सोभतो[४] ।।

यदा च रस्मिसम्पन्नो अब्भुदेति[५] पभङ्करो ।
अथ खज्जोपनकानं[६] पभा अन्तरधायति ।।

एवं खज्जुपसदिसा[७] तित्थिया पि बहू इध[८] ।
कालपक्खुपमा लोके दीपयन्ति सकं गुणं ।।

यदा च बुद्धो लोकम्हि[९] उदेति अमितप्पभा ।
निप्पभा तित्थिया होन्ति सूरियो खज्जुपमो[१०] यथा ति ।।

---

१. S.D.P. and P. अपूजेय्युं;
२. सो in all three mss.
३. B.F.L. दस्सयति च ओभासो;
४. B.F.L. एतेसु विय सोभियो।
५. P. and S.D.P. अम्भरेति;
६. P. and S.D.P. खज्जुपमसंघानं।
७. B.F.L. खज्जोपनसमो;
८. B.F.L. पुथू।
९. B.F.L. and S.D.P. लोकस्मिं;
१०. S.D.P. खज्जुपमा; B.F.L. खज्जुपभा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो पि तीणि दिवसानि अधिवासेत्वा चतुत्थदिवसे अत्तनो पुत्तेन वुत्तं बुद्धगुणं अनुस्सरित्वा 'इति पि सो भगवात्यादीनि वाचेत्वा तीसु सरणेसु अनवज्जपसादो हुत्वा—"अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतोम्ही" ति वत्वा आह—"अयं तात भगवा में सत्था, अहं उपासको"[१] ति। सोपि बुद्धगुणं निस्साय अत्तनो दिट्ठिं निब्बिन्दमानो सोतापत्तिफले पतिट्ठाति[२]"।

बुद्धघोसो च द्वारं विवरापेत्वा अत्तनो पितरं गन्धोदकेन न्हापेत्वा गन्धमालादीहि तं पूजेत्वा अत्तनो दोसं खमापेसि।

सोपि सोतापन्नतो[३] पट्ठाय सम्मासम्बुद्धं पसंसन्तो इमा गाथायो अभासि—

सेट्ठभग्गेहि युत्तो यो अरहन्तो पदक्खिणं[४] ।
सब्बधम्मेसु सम्बुद्धो सो मे सत्था दिजुत्तमो ।।

विज्जाचरणसम्पन्नो सब्बधम्मस्स सुगतो ।
सब्बलोकेसु जानन्तो सो मे सत्था दिजुत्तमो ।।

अनुत्तरो यो भगवा पुरिसानञ्च दम्मको ।
अस्सानं सारथि विय सो मे सत्था दिजुत्तमो[५] ति ।।

सो पन अत्तनो पितुवचनं सुत्वा सोमनस्सचित्तो हुत्वा "साधु साधू" ति पितरं अनुमोदि।

।। इति बुद्धघोसेन कतस्स मिच्छादिट्ठिया पितुमोचनुपायस्स
ततियपरिच्छेदवण्णना समत्ता ।।

●

१. Three mss. उपासकोसि।

२. S.D.P. पतिट्ठहि।

३. S.D.P. सोतापन्नकालतो।

४. S.D.P. अरहो पन दक्खिणं।

५. B.F.L. omits this stanza.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुत्थो परिच्छेदो

सो च तं अत्तनो पितरं सोतापत्तिफले पतिट्ठपेत्वा अत्तनो दोसं खमापेत्वा तञ्च आपुच्छित्वा उपज्झायस्स सन्तिकं पुनागमि। सो उपज्झायेन पेसितो यथाभिरन्तं वसित्वा लंकादीपगमनत्थाय तञ्च आपुच्छित्वा महावाणिजेहि सद्धिं तित्थं गन्त्वा नावं आरुहित्वा पक्कमि। तस्स च निक्खमनदिवसे येव बुद्धदत्तमहाथेरो पि लंका दीपतो निक्खमन्तो 'पुन जम्बुदीपं आगमामा' ति चिन्तेत्वा सह वाणिजेहि नावं आरुहित्वा आगतो व होति।

बुद्धघोसो पि तीणि दिवसानि महासमुद्दे नावाय पक्कन्तो येव होति। बुद्धदत्तो पि तीणि दिवसानि महासमुद्दे नावाय पुनागमि येव। सक्कादीनं देवानं आनुभावेन द्विन्नं थेरानं द्वे नावा एकतो संघट्टिता व हुत्वा अट्ठंसु।

अथ वाणिजा नं दिस्वा भीतचित्ता व अञ्ञमञ्ञं पस्सिंसु। द्वीसु थेरेसु बुद्धघोसो बहि निक्खमन्तो येव अत्तनो सहायवाणिजे भीतचित्ते दिस्वा अपरे वाणिजे पुच्छि—"भोन्तो तुम्हाकं नावाय को नु पब्बजितो आगतो अत्थी" ति।

बुद्धदत्तस्स पन सहायवणिजा पि "बुद्धदत्तो अत्थी" ति वदिंसु।[१]

तं सुत्वा बुद्धदत्तो बहि निक्खमित्वा थेरं पस्सित्वा अतिविय तुट्ठो पुच्छि—'तुवं आवुसो किन्नामोसी" ति।

सो आह "बुद्धघोसो" ति। कहं गतोसी" "ति लङ्कादीपं" अहं गतोम्हि भन्ते" ति। किमत्थाय गतोसी ति"?

"बुद्धसासनं सीहलभासाय ठपितं; तं परिवत्तेत्वा मागधभासाय ठपेतुं[२] गतोम्ही' ति।

सो आह "बुद्धसासनं परिवत्तेत्वा मागधभासाय लिखित्वा आगमनत्थाय पेसितो[३] अहञ्च जिनालंकारदन्तधातुबोधिवंसगन्थे[४] येव बन्धामि, न अट्ठकथाटीकायो,[५] यदि भवं सासनं सीहलभासाय परिवत्तेत्वा मागधभासाय करोसि

---

१. B.F.L. omits this sentence, which in somewhat inaccurately expresseb in the two other Mss. both leaving out Buddhabatto before atthe ti.

२. S.D.P. कथेतुं।

३. B.F.L. लिक्खितुं पेसितो for लिखित्वा आगमनत्थाय पेसितो।

४. S.D.P. गन्थं; ५. B.F.L omits टीका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिण्णं पिटकानं अट्ठकथाटीकायो करोही'' ति बुद्धघोसं आराधेत्वा सक्केन देवानं इन्देन अत्तनो दिन्नं हरितकिं[१] अयमयं दण्डलेखनञ्च सीलञ्च तस्स दत्वा[२] अनुमोदि। सो च—''यदा ते चक्खुरोगो वा पिट्ठिरुज्जनं वा उप्पज्जति तदा इदं हरितकिं सिलायं पिसेत्वा रुज्जनट्ठाने लिम्पेत्वा तुय्हं रोगो वूपसमती ''ति तस्स आनुभावं दसेत्वा तस्स अदासि। सो जिनालंकारे ताव आदिम्हि—

सुखञ्च दुक्खं समातायुपेक्खं ।
नेविच्छि यो काममकामनीतं ।
असंखातं संखातसम्भवंभवं ।
हित्वा गतो तं सुगतं नमामी' ति ।।

नमकारगाथं सुत्वा आह—''भन्ते तव गन्थो अतिविय विलासेन[३] रचितो; पच्छा कुलपुत्तेहि न सक्का अत्थं जानितुं, बालपुरिसेहि दुब्बिञ्ञेयो[४] ति।

''आवुसो बुद्धघोस अहं तया पुब्बे लङ्कादीपे भगवतो सासनं कातुं[५] आगतोम्ही'' ति वत्वा ''अहं अप्पायुको, न चिरं जीवामि; तस्मा न सक्कोमि सासनं कातुं; त्वं येव साधु करोहि'' ति आह।

एवं परियत्तिसासने द्विन्नं थेरानं वचनपरियोसाने वाणिजानं द्वे नावा सयमेव मुञ्चित्वा गता। तासु बुद्धघोसस्स नावा लंकादीपाभिमुखा हुत्वा गता होति, बुद्धदत्तस्स पन नावा जम्बुदीपाभिमुखा हुत्वा गता। अथ बुद्धदत्तो सह वाणिजेहि जम्बुदीपं पत्तो। कतिपाहं वसित्वा समणधम्मं पूरेत्वा कालं कत्वा तुसितपुरे[६] निब्बत्ति। वाणिजा पन थेरस्स चतुपच्चयनिस्सन्देन कालं कत्वा तावतिंसभवने निब्बतिंसु। बुद्धघोसो पि वाणिजेहि सद्धिं लंकादीपं पत्तो। द्विजठानतित्थस्स समीपे नावं ठपेत्वा वसि।

।। इति बुद्धघोसस्स लङ्कादीपं संपत्तगमनचतुत्थपरिच्छेदवण्णना समत्ता ।।

●

---

१. P. and B.F.L हरीतकं; २. B.F.L omits अनुमोदि, सो च।

३. P. अतिविय लाभेन; B.F.L. अतिविसालेन।

४. S.D.P. दुविञ्ञेय्यो। B.F.L. has गणिका विय अलङ्कारहि छादेति instead of बालपुरिसेहि दुब्बिञ्ञेय्यो।

५. S.D.P. करितुं; ६. S.D.P. तूस्सितपूरे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचमो परिच्छेदो

तस्मिं कतिपाहं वसन्ते येव अन्तो-लंकादीपे ब्राह्मणानं द्वे दासियो घटं आदाय उदकं ओसिञ्चितुं गता[१]। द्वीसु[२] एकब्राह्मणदासी पुरतो तित्थगतोदकं ओसिञ्चित्वा आरोहति। तस्सा पि आरोहनकाले येव एका ब्राह्मणदासी तुरिततुरिता व पच्छतो तस्मिं तित्थे गता येव। तस्सा घटेन ओरोहनब्राह्मणदासिया घटो पटिहञ्ञमानो व भिज्जि।

सा घटभिन्ना ब्राह्मणदासी तं कुज्झित्वा परिभासित्वा—'दासीपुत्तोसि, गणिकाय पुत्तोसि गोणो विय न जानासी "ति अतिरेकतरस्स अक्कोसनवत्थूहि[३] तं अक्कोसि।

इतरा पि अत्तनो परिभासं सुत्वा व कुद्धा हुत्वा तथेव परिभासि तं अक्कोच्छि[४]। मुहुत्तं येव सा पि अक्कोसनपरिभासनकथा द्वीहि दासीहि कथित्वा अतिविय अङ्गतरा[५] भाणवारमतं[६] व अहोसि।

बुद्धघोसो तं सुत्वा चिन्तेसि—"इध अञ्ञो कोचि नत्थि; इमायो दासियो अञ्ञमञ्ञं परिभासित्वा मं सक्खिं कत्वा अत्तनो सामिकानं आरोचेस्सन्ति; अथ मं पुच्छिस्सन्ति; पुच्छन काले दस्सामी' ति द्विन्नं परिभासन वचनं अत्तनो पोत्थके लिखित्वा ठपेसि—"तासु एका ईदिसं नाम परिभासं करोति; अपरा ईदिसं नाम परिभासन्ति"।

ता पि चीरतरं अञ्ञमञ्ञं अतिपरिभासनेन किलन्तमुखा गेहं गन्त्वा अत्तनो सामिकानं आरोचेसुं।

सो पन घटभिन्नाय दासिया सामिको असन्तुट्ठो इतराय सामिकेन कलहं कत्वा रञ्ञो विनिच्छयठानं[७] गन्त्वा तं आचिक्खि।

राजा विनिच्छित्वा अट्टं छिन्दितुं असमत्थो को नाम तुम्हाकं सक्खि' ति पुच्छि।

द्वीसु एका—एको देव आगन्तुको संघदण्डको तित्थे अत्थि; सो मय्हं सक्खी, ति राजानं सञ्ञापेसि।

---

१. S.D.P. घटाय उदकं ओसिञ्चित्वा गता। B.F.L. घटे आदाय उदकत्थाय आगता।
२. B.F.L. तासु।
३. B.F.L. अतिरेकतरं दसहि अक्कोसवत्थूहि।
४. B.F.L. परिभासति, अक्कोसति।
५. B.F.L. सिङ्गतरा, P. असङ्गतरा; S.D.P. अङ्गतरा।
६. B.F.L. भाणवारमत्ता।
७. S.D.P. and P, विनिच्छयतब्बट्ठानं; P विनिच्छयितब्बठानं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतरा पि[१] तमेव थेरं उद्दिसित्वा तथेव राजानं सञ्ञापेसि।

अथ राजा तं सुत्वा थेरं पुच्छापेतुं दूतं[२] पेसेसि।।

बुद्धघोसो पि "द्विन्नं ब्राह्मणित्थीनं[३] परिभासनकथा मया एकन्तेन सुता; अपि च मयं पब्बजिता नाम न सल्लक्खेमा;[४] ति अवत्वा[५] अत्तना लिखितपरिभासनलञ्छनपोत्थकं दूतस्स हत्थे दत्वा 'तात इदमेव लञ्छनपोत्थकं रञ्ञो दस्सेही' ति आह।

दूतो तं गहेत्वा रञ्ञो दस्सेसि। राजा तं वाचापेत्वा द्वे दासियो पुच्छि— "अरे भोतियो ईदिसा नाम परिभासना तुम्हेहि सच्चं कथिता; ति।[६] ता पि[७] "सच्चं देवा" ति आहंसु।

राजा आह 'गरुभारधारिको नाम अगरुभारधारिकेन वज्जेतब्बो' ति; वत्वा च पन अभिन्नघटाय ब्राह्मणदासिया दण्डं दापेसि।

अथ सो राजा तं थेरं दट्ठुकामो ब्राह्मणे पुच्छि 'सो तादिसो जवनपञ्ञो कहं वसती' ति। ब्राह्मणा मिच्छादिट्ठिका थेरस्स गुणं मच्छरिनो 'देव अयं संघदण्डको वाणिज्जत्थाय आगतो' तुम्हेहि दट्ठुं अननुरूपो' ति आहंसु।

राजा तं सुत्वा थेरस्स गुणे पसीदित्वा पसंसन्तो द्वे गाथायो अभासि—

समणेसु च सब्बेसु लंकादीपे बहूसु पि।
तादिसो समणो नाम न दिट्ठपुब्बो यो इध।।
तादिसं सीलसम्पन्नं जवञाणं[८] महातपं।
यो च पूजेति मानेति सग्गं सो उपगच्छती'[९] ति।।

एवं द्वीहि गाथाहि बुद्धघोसस्स गुणं वत्वा राजा तुण्ही अहोसि।

इति बुद्धघोसेन कथितस्स अत्तनो पञ्ञाय द्विन्नं ब्राह्मणदासीनं।

।। सक्खिभावस्स पञ्चमपरिच्छेदवण्णना समत्ता।।

●

---

१. S.D.P. and P एका पन।
२. S.D.P. दूते;
३. B.F.L. ब्राह्मणिदासीनं।
४. B.F.L. सक्खिम्हा;
५. B.F.L. वत्वा।
६. P. 'ईदिसं नाम परिभासनं तुम्हेहि कथितं सच्चं कथितं' ति।
७. S.D.P. and P. द्वे दासियों instead of ता पि।
८. S.D.P. जवञ्ञाणं;
९. S.D.P. सग्गं सो च उपज्झगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छट्ठमो परिच्छेदो

ततो पट्ठाय थेरो लंकादीपवासिसंघराजमहाथेरस्स वन्दनत्थाय गतो। सो च तं वन्दित्वा संघराजमहाथेरस्स सन्तिके अभिधम्मविनये सिक्खन्तानं भिक्खूनं पच्छतो एकमन्तं निसीदि।

अथेकस्मिं दिवसे संङ्घराजा भिक्खूनं सिक्खन्तो अभिधम्मे गण्ठिपदं पत्वा तस्स च गण्ठिपदस्स अधिप्पायं अपस्सित्वा अजानित्वा मूल्हो हुत्वा भिक्खू उय्योजेन्तो अन्तोगब्भं पविसित्वा तं गण्ठिपदं विचारेत्वा निसीदि।

तस्स पन पविसनकाले येव बुद्धघोसो अभिधम्मे गण्ठिपदं अजानन्तं महाथेरं ञत्वा उट्ठायासना उपस्सेय्यफलके गण्ठिपदस्स अत्थञ्च अधिप्पायञ्च लिखित्वा ठपेत्वा व अत्तनो नावं गतो।

तस्स पन गण्ठिपदस्स अत्थं पुनप्पुनं चिन्तेन्तस्स अत्थञ्च अधिप्पायञ्च अजानित्वा गब्भतो निक्खमन्तस्स निसिन्नकाले[२] येव तं अक्खरं पाकटं अहोसि। दिस्वा च पन तापसे पुच्छि—"इदं अक्खरं नाम केन लिखितं" ति। तापसा आहंसु—'भन्ते आगन्तुकेन भिक्खुना तं लिखितं भविस्सती ति'।

'सो कुहिं गतो ति' वत्वा "तुम्हे परियेसित्वा तं गहेत्वा मय्हं दस्सेथा" ति तापसे आणापेसि।

तापसा परियेसमाना पस्सित्वा तं आराधेत्वा संघराजस्स दस्सेसुं।

सो पि संघराजा "इदं किर अक्खरं नाम तया लिखितं' ति पुच्छित्वा 'आम भन्ते' ति वुत्ते 'तेन हि तया तीहि पिटकेहि भिक्खुसंघो सिक्खितब्बो' ति भिक्खुसंघस्स पटिनिय्यादेति।[१]

बुद्धघोसो पि तं पटिक्खिपि—" नाहं भन्ते भिक्खुसंघे सिक्खनत्थाय जम्बुदीपतो लङ्कादीपं आगतो बुद्धसासनं पन सीहलभासाय परिवत्तेत्वा मागधभासाय लिक्खनत्थाय आगतो" ति अत्तनो आगतकारणं तस्स आरोचेसि[२]।

---

१. the reading of this sentence in P. and S.D.P. is as folliws— " सो पि सङ्घराजा पुट्ठो' इदं किर अक्खरं नाम तया लिखितं ति; 'आम भन्ते' ति आह; सो पुट्ठो तेन पुट्ठस्मिं 'पकतिया तीहि पिटकेहि भिक्खुसङ्घा सिक्खितब्बा' ति वत्वा भिक्खुसङ्घे तस्स पटिवेदेसि।'

२. This sentences appears as follows in P. and S.D.P.— बुद्धघोसो पि तं पटिक्खिपि- 'नाहं भन्ते भिक्खुसङ्घे सिक्खितुं इच्छामि; लङ्कादीपं आगतोम्हि' ति आह; 'कस्मा, अहं पन जम्बुदीपवासि; तथागत बुद्धसासनं सीहलभासतो परिवत्तित्वा मागधभासाय लिखिस्सामि मन्ता गतो'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो तं सुत्वा अतिविय तुट्ठो 'यदि सासनं मागधभासाय लिक्खिस्सामी' ति वत्वा आगतोसि।

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो ।
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं ।
आतापी निपको भिक्खु ।
सो इमं विजटये जटं ति ।।

भगवता वुत्तगाथाय तीणि पिटकानि योजेत्वा अम्हाकं दस्सेही' ति आह।

सो साधू' ति सम्पटिच्छित्वा अत्तनो वसनट्ठानं गतो।

तस्मिं दिवसे सुनक्खत्तेन वड्ढमानच्छायाय

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो ।
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं ।
अतापी निपको भिक्खु ।
सो इमं विजटये जटं ति ।।

आदिं कत्वा विसुद्धिमग्गपकरणं अतिलहुकेन लिखि। निट्ठपेत्वा च पन 'ठपेस्सामी' ति निद्दूपगतो होति।

अथ सक्को देवराजा थेरेन ठपितलिखितं विसुद्धिमग्गं थेनेत्वा गतो। थेरो च पबुज्झित्वा अत्तनो पकरणं अदिस्वा पुन च परं विसुद्धिमग्गपकरणं अतिविय तुरिततुरितो दीपालोकेन लिखि। तं पि निट्ठपेत्वा अत्तनो सीसे ठपेत्वा पुन निद्दूपगतो। सक्को च देवराजा पुन तं थेनेत्वा गतो होति। थेरो किञ्चि सुपित्वा पुन पबुज्झित्वा तं न पस्सि। मज्झिमयामे सम्पत्ते येव किर सक्को देवराजा दुतियवारे दुविधं पकरणं थेनेत्वा गतो।

थेरो पबुज्झित्वा तं अदिस्वा तुरिततुरितो पुन च परं विसुद्धिमग्गपकरणं दीपालोकेन लिखि। लिखितावसाने चीवरेन बन्धित्वा व सुपति[1]। सक्को देवराजा पुरिमगहिते द्वे पकरणे थेरस्स सीसे थपेत्वा गतो। विभाताय रत्तिया पबुज्झित्वा व अत्तना लिखिते पकरणे देवराजेन अत्तनो उस्सीसके[2] ठपिते दिस्वा सोमनस्सो

---

१. S.D.P. सुपि। २. S.D.P. उसिसक्के; P. and B.F.L. उसिसग्गे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुत्वा सरीरवलञ्जनकिच्चं कत्वा द्वे गन्थानि आदाय अत्तनो बन्धितगन्थेन सद्धिं लंङ्कादीपवासिसंघराजथेरस्स दस्सेति[१]।

तीसु गन्थेसु किर तिसतसहस्सनवनहुतद्वेसहस्साधिकानि दससहस्सानि अक्खरानि येव होन्ति। सो पि तीणि दिस्वा अच्छिरियभूतो 'कस्मा तीणि पकरणानी' ति पुच्छित्वा 'इमिना कारणेना' ति वुत्ते विम्हयमानो तीणि गन्थानि वाचापेति। तीसु यस्मिं पदेसे ये निपातोपसग्गा[२] सद्दा थेरेन लिखिता तस्स तस्मिं पदेसे ते समसमा अ-वि-सदिसा लिखिता विय तिट्ठन्ति। तेन समसमे अ-वि-सदिससदिसे दिस्वा अतिविय सोमनस्सो व 'तस्स भगवतो सासनं मागधभासाय करोही' ति अनुजानि। अनुजानित्वा च पनस्स पञ्ञाय गुणं पसंसन्तो द्वे गथा अभासि—

यो पस्सतीदिसं पञ्ञं अभिन्नपटिसम्भिदं[३]।
सब्बधम्मेसु कोसल्लं बुद्धं सो विय पस्सति।।
त्वञ्चेव[४] ञाणसम्पन्नो अम्हाकञ्चेव[५] सेट्ठङ्गो।
त्वञ्चेव सासनन्तस्स करस्सु मुनिनो सदा ति।।

ततो पट्ठाय सो तस्मिं दीपे बुद्धघोसो ति नामेन लङ्कादीपे मनुस्सानं पाकटो होति। तेनाहु पोराणा—

बुद्धघोसो ति नामेन पाकटो सब्बदीपके।
मनुस्सानं सदा सेट्ठो बुद्धो विय महीतले ति।।

।। इति लङ्कादीपवासिमहात्थेरेन अजनुजानितसासनस्स बुद्धघोसस्स छट्ठमपरिच्छेदवण्णना समत्ता।।

●

---

१. S.D.P. दस्सेसि।
२. S.D.P. निपातोपसग्गादयो;
३. B.F.P. पभिन्नं।
४. S.D.P. त्वं येव;
५. S.D.P. अम्हाकञ्चेव।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

सत्तमो परिच्छेदो

सो यथाभिरन्तं वसित्वा[१] अत्तनो सारुप्पसेनासनं[२] संघं याचि मुनिन्दसासनस्स लेखनत्थाय। महाथेरो थेरस्स वसितुं लोहपासादं दापेसि। सो किर लोहपासादो सत्तभूमिको अहोसि।[३] तासु छ भूमियो छहि महाथेरेहि वसिता होन्ति। कतमे छ? एको चतुपारिसुद्धिसीलधरो दुतिये वसति; एको धुतङ्गधरो ततिये वसति; एको सुत्तन्तधरो चतुत्थे वसति; एको अभिधम्मधरो पञ्चमे वसति; एको विनयधरो छट्ठे वसति; एको मग्गफलत्थाय तिलक्खणभावनायुत्तझानधरो[४] सत्तमे भूमितले वसति। पासादस्स हेट्ठिमभूमितला सुञ्ञा अभिक्खुका होति।

बुद्धघोसो पनस्स हेट्ठिमतले सुञ्ञे पटिवसति। सो किर धुतङ्गधरो होति, सब्बपरियत्तिधरो च होति। वसन्तो च पन भगवतो सासनं दीपभासतो परिवत्तेत्वा मागधभासाय दिवसे दिवसे लिखि।

पुन दिवसे सो पातो व पिण्डाय चरन्तो सयंपतिततालपण्णं दिस्वा आदाय गोचरगामतो पटिक्कमि। इदमेव चस्स वत्तं ति वेदितब्बं।[५]

अथेकस्मिं दिवसे[१] तालारुळहकपुरिसो पण्डितो ब्यत्तो कुसलत्तिको तस्स किरियं दिस्वा अच्छिद्दं अखण्डकं तालपण्णं तस्स पिण्डपातठाने विकिरित्वा निलियि। थेरो पिण्डपातावसाने तं आदाय गतो।

सो तस्स अनुगन्त्वा थेरस्स लिखनकिच्चं दिस्वा पसन्नचित्तो हुत्वा[६] एकदिवसे[७] भत्तपच्छिं आदाय थेरस्स पूजेसि। थेरो तञ्च भो उपासक मय्हं उपरिमतले ठितो सेट्ठतरो; तस्स तव भोजनं ददाही' ति वदति।[८]

सो थेरेन अनुञ्ञातो पच्छिं आदाय उपरिमतले ठितस्स महाथेरस्स अदासि।

एतेनेव मुखेन एकभत्तपच्छि याव सत्तम भूमितले ठितस्स अय्यस्स सम्पापुणि।

---

१. B.F.L. विहरित्वा;
२. B.F.L. अनुरूपस्स।
३. B.F.L. होति।
४. S.D.P. तिलक्खणभावनाय युत्तो झानघरो।
५. P. and S.D.P. इदमेव चस्स वत्तं;
६. P. and S.D.P. होति।
७. P. and S.D.P. एकदिवसम्हि सो।
८. S.D.P. has 'सो' तञ्च भो उपासक उपरितले ठितस्स अय्यस्स ददाही वदति; कस्मा च पन वदाम उपरिठितो मय्हं सेट्ठतरो च होति।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो च उपरिमतले ठितो तं आह—"हेट्ठिमतले बुद्धघोसो अम्हेहि गुणविसिट्ठो; दिवसे दिवसे बुद्धसासनं लिखि; तस्सेव ददाही[१] ति"।

सो तं सुत्वा भत्तपच्छिं आदाय सत्तभूमितला ओरुय्ह बुद्धघोसस्स पुन अदासि।

सो "साधु साधू" ति सम्पटिच्छि; सम्पटिच्छित्वा च पन सत्तकोट्ठासेन भाजापेत्वा छ कोट्ठासे छन्नं थेरानं दापेसि। इदमेव तस्स वत्तं। सो बुद्धघोसो सासनं लिक्खन्तो येव तयो मासे खेपेत्वा निट्ठं गतो। वुट्ठवस्सो ततो पट्ठाय पवारेत्वा अत्तना लिखितसासनं संघराजस्स[२] पटिवेदेसि।

सो 'साधु साधू' ति अनुमोदित्वा च पन तस्स गुणं पकासेन्तो[३] द्वे गथायो अभासि—

सासनं नाम दुल्लभं बुद्धसेट्ठस्स भासितं।
परिवत्तानुभावेन तं पस्साम यथासुखं।।
यथा पि पुरिसो अन्धो समासमं न पस्सति।
तथा मयं न पस्साम सासनं बुद्धभासितं ति।।

ततो पट्ठाय सो पि महिन्दथेरेन लिखापितानि गन्थानि रासिं कारापेत्वा महाचेतियस्स समीपे परिसुद्धठाने झापेसि। सीहळभासाय किर महिन्दथेरेन लिखापितानि सब्बगन्थानि[४] रासिकतानि उब्बेधेन सत्तमज्झिमहत्थिपिट्ठिपमाणानि होन्ती ति पुब्बाचरिया वदन्ती ति अम्हेहि सुतं।

सीहलभासाय कतानं[५] सब्बेसं गन्थानं झापनकालतो पट्ठाय सो च अत्तनो मातापितूनं दस्सनत्थाय संङ्घं आपुच्छि—'अहं भन्ते जम्बुदीपं गमितुं इच्छामी' ति वत्वा वाणिजेहि सद्धिं नावं आरोहितुं आरब्भि। तस्स अत्तनो नावाभिरूहनक्खणे[६]

---

१. P. and S.D.P. सो च उपरितले ठितो तं आह—'हेट्ठिमतलस्स बुद्धघोसस्स अम्हेहि गुणविसिट्ठस्स दिवसे दिवसे बुद्धसासनं लिखन्तस्सेव ददाही।'

२. S.D.P. सङ्घस्सेव;

३. P. and S.D.P. पकासन्तो।

४. S.D.P. सब्बानि गन्थानि;

५. P. and S.D.P. कथितानं।

६. P. and S.D.P. नावं गतक्खणे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

येव सीहळवासिनो भिक्खू सक्कटगन्थे पगुणतं अवमञ्ञन्ति—'अयं थेरो धि नु[१] तेपिटकं बुद्धसासनं जानाति मञ्ञे न सक्कटगन्थं' ति।

तेसं अवमञ्ञवचनं सुत्वा थेरस्स सहायवाणिजा तस्स आरोचेसुं।

थेरो तं सुत्वा 'साधु साधू' ति वत्वा लङ्कादीपवासिनो संघराजमहाथेरस्स पटिवेदेसि—'भन्ते स्वे उपोसथदिवसे पुण्णमियं अहं पि सक्कटगन्थं भासिस्सामि; चतुपरिसा महाचेतियङ्गणे[२] सन्निपातेतू' ति। सो पातो व परिसाय मज्झे सक्कटगन्थं दस्सेन्तो धम्मासनं[३] आरुय्ह ठत्वा सक्कटगन्थेन[४] इमा गाथायो अभासि—

चत्तारो किर अच्छरिया अब्भुतधम्मा बुद्धघोसे सन्ति[५]। कतमे चत्तारो? सचे भिक्खुपरिसा बुद्धघोसदस्सनाय उपसङ्कमति दस्सनेनस्स अत्तमना होति[६]। तत्र च बुद्धघोसो धम्मं भासति भासितेन पिस्स अत्तमना होति। अतित्ता च भिक्खुपरिसा होति अथ खो बुद्धघोसो तुण्ही होति। सचे भिक्खुणीपरिसा उपासकपरिसा उपासिकापरिसा बुद्धघोसदस्सनाय उपसङ्कमति दस्सनेन पिस्स अत्तमना होति; तत्र चे बुद्धघोसो धम्मं भासति भासितेन पिस्स अत्तमना होति। अतित्ता व होति अथ खो बुद्धघोस तुण्ही होती ति। एवं चत्तारो अच्छरिया अब्भुतधम्मा बुद्धघोसे सन्ति[७] आयस्मन्ते आनन्दे विय, तस्मा बुद्धघोसस्स देसनाकाले येव चतस्सो परिसा अत्तनो अत्तनो वत्थचेलकमुत्ताहारवलयादीनि मुञ्चित्वा धम्मपूजाय[८] थेरस्स पादमूले विकरिंसु। वत्थादीनि पन पूजाभण्डानि किर सत्तहत्थमज्झिमहत्थिपिट्ठिपमाणानि[९] होन्ति।

---

१. B.F.L. किन्नु For धि नु;

२. S.D.P. महाचेतियस्स सन्तिके।

३. P and S.D.P. कथितानं;

४. Two texts गन्थे।

५. B.F.L. उप्पज्जन्ति।

६. B.F.L. uses the pural verb with परिसा in this and the following sentences, and तत्थ for तत्र।

७. P. and S.D.P. have the following construction after सन्ति-चत्तारो अच्छरिया अब्भुतधम्मा विय अयस्मन्ते आनन्दे सन्ती ति तस्मा, Sc.

८. B.F.L. पूजेन्तो।

९. P. and S.D.P. omit पिट्ठि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो पन[१] तानि अनपेक्खो व हुत्वा धम्मासनतो[२] ओरुय्ह संघं वन्दित्वा महल्लकं महाथेरं आपुच्छित्वा वाणिजेहि सद्धिं नावं आरुय्ह जम्बुदीपाभिमुखो पायासि। तस्स च गतकाले येव याचकवणिब्बकसमणब्राह्मणादयो मनुस्सा तानि थेरस्स धम्मपूजभण्डानि[३] यथारुचिं येव गहेत्वा पक्कमिंसु।

।। इति बुद्धघोसनामथेरेन अत्तना पगुणसक्कटगन्थेन कथितधम्मदेसनाय सत्तमपरिच्छेदवण्णना समत्ता ।।

●

१. P. and S.D.P. पि;
२. P. and S.D.P. धम्मदेसनट्ठानतो।
३. P. and S.D.P. पूजानि भण्डानि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अट्ठमो परिच्छेदो

थेरो सक्कटगन्थे अत्तनो पटुभावं पकासेत्वा जम्बुदीपाभिमुखो व हुत्वा समुद्दमज्झे आगच्छन्तो येव वाणिजे अनुसासन्तो द्वे गाथायो अभासि—

यथा मयुपनिस्साय नावं गच्छाम अण्णवे ।
नावा च अम्हे निस्साय तित्थपत्ता भविस्सति ।
सग्गतित्थं पतिट्ठाय पञ्ञानावुपनिस्साय ।
पुञ्ञनावुपनिस्साम अम्हे सग्गे सुखावहा ति ।।

सो तित्थप्पत्तो अत्तनो सहायवाणिजे आपुच्छित्वा अत्तनो पत्तचीवरं आदाय उपज्झायस्स सन्तिकं गतो। परियत्तिसंखातस्स बुद्धसासनस्स अत्तना लिखितकम्मं आचिक्खि; आचिक्खित्वा च पन उपज्झायदण्डकम्मं मोचेत्वा अत्तनो दोसं खमापेत्वा तं वन्दित्वा आपुच्छित्वा व मातापितूनं सन्तिकं गतो होति।

मातापितरो पिस्स अत्तनो पुत्तं दिस्वा वन्दित्वा पणीतेन आहारेन तं परिविसित्वा तस्स दोसं खमापेत्वा अत्तनो कालभावं ञत्वा मरणासन्नकाले बुद्धगुणं अनुस्सरित्वा तुसीतपुरे निब्बत्तित्वा कनकविमाने पटिवसन्ति[१]। तेसं पि दासकम्मकरादीनं ब्राह्मणानं केचि थेरस्स ओवादे ठत्वा कालं कत्वा देवलोके निब्बत्तिंसु; केचि यथाकम्मं गति[२] अहेसुं।[३]

थेरो पन[४] तिण्णं रतनानं अत्तनो पणामवचनं दस्सेत्वा तेसु साधुजनानं पामोज्जनत्थाय 'एवं पि तिण्णं रतनानं ईदिसो नाम पणामो तुम्हेहि कातब्बो[५] ति' वुच्चमानो विय[६] रतनत्तयस्स[७] सरूपं दस्सन्तो आह—

---

१. मातपितरो पिस्स अत्तनो पुत्तं दिस्वा वन्दित्वा पणीतेन आहारेन परविसिसुं। ते अत्तनो निस्साय मिच्छादिट्ठिं पजहित्वा सम्मादिट्ठिं दानादिपुञ्ञं कत्वा आयुतपरियोसाने कालं कत्वा तुसीतपुरे निब्बत्तिंसु।

२. सो in P. and S.D.P.

३. Toe following reading occurs in B.F.L.-तेसं पि दासकम्मकरादयो थेरस्स ओवादे ठत्वा कालं कत्वा येभूय्येन देवलोके निब्बत्तिंसु।

४. P. and S.D.P. सो च;

५. P. and S.D.P. कतो।

६. P. and S.D.P. only वत्वा for वुच्चमानो विय;

७. S.D.P. रतनत्तयानं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यो भगवा विसुद्धखन्धसन्तानो[१] ।
यो व सो बुद्धो ति नियमागतो ।
धम्मो नाम भगवता देसितो ।
नवविधो लोकुत्तरधम्मो ।।

पिटकतो ताणि पिटकानि—विनपिटकं, सुत्तन्तपिटकं, अभिधम्मपिटिकं ति; निकायतो पञ्चनिकायानि—दीघनिकायो, मज्झिमनिकायो, संयुत्तनिकायो, अंगुत्तरनिकायो, खुद्दकनिकायो ति; अङ्गतो नव अङ्गानि सुत्त, गेय्यं, गाथा, वेय्याकरणं, उदानं, इतिवुत्तकं, जातकं, अब्भुतधम्मं, वेदल्लं ति; धम्मक्खन्धतो चतुरासीति धम्मक्खन्धसहस्सानि; अभिधम्मे चत्तारिदससहस्सानि द्विसहस्स-धम्मक्खन्धा; विनये द्वादससहस्सानि एकसहस्सधम्मक्खन्ध च; सुत्तन्ते द्वादससहस्सानि एकसहस्सधम्मखन्धा चा ति; संघो चत्तारो मग्गट्ठा चत्तारो फलट्ठा चा ति अट्ठन्नं अरियानं समूहो।[२]

इति रतनत्तयस्स सरूपं दस्सेत्वा अत्तनो पणामञ्च पकासेन्तो इमं गाथं आह—

बुद्धे धम्मे च संघे च कतो एको पि अञ्जली ।
पहोमि भवदुक्खग्गिं निब्बापेतुं असेसतो ति ।।

सो च रतनत्तयस्स पणामावसाने भगवतो सासनस्स दूसनत्थाय[३] कतकिच्चानं दुस्सीलानं सीलरक्खने असिक्खितचित्तानं[४] जीवितत्थाय कतकुहकानं कम्मञ्च पकासेन्तो इमा गथायो अभासि—

यथा पि हि मिगिन्दस्स सीहस्स मिगराजिनो ।
तस्स मंसं न खादन्ति सिंगाला सुनखाधमा ।
सरीरे समुपन्ना व किमियो मंसभोजना ।
सीहमंसानि खादन्ति न अञ्ञे सापदा मिगा ।
तथेव सक्यसीहस्स निब्बुतस्स पि सासने ।
न दूसयन्ति सद्धम्मं इद्धिपत्ता पि तित्थिया ।
इमे व पापभिक्खू ये मुण्डा संघाटिपारुता ।
ते दूसयन्ति सद्धम्मं सम्मासम्बुद्धदेसितं ति ।।

---

१. P and S.D.P. विसुद्धिरवं।

२. This last sentences सङ्गव्हो-समूहो in omitted in P. and S.D.P.

३. B.F.L. दस्सनत्थाय; ४. B.F.L. सुसिक्खितं; S.D.P. has असिक्खितसिक्खानं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति भगवतो सासनस्स दूसनत्थाय कतकिच्चानं पापभिक्खूनं येव कम्मं[१] पकासनावसाने पन पि सब्बेसञ्च सत्तानं रत्तिदिवेसु पवत्तआनापानानि[२] दस्सन्तो इमं गाथं आह—

दिवा सतसहस्सानि अट्ठसताधिकानि च ।
रत्तिञ्चेव तथा एव आनापानं पवत्तती' ति ।।

दस्सेत्वा च पन अत्तनो मरणमञ्चे निसिन्नो आयुसंङ्खारं विचारेन्तो[३] अप्पायुकभावं[४] ञत्वा उपज्झायं वन्दित्वा तञ्च आपुच्छित्वा महाबोधिं[५] गन्त्वा महाबोधिरुक्खे सब्बवत्तादीनि पूजुपकारणानि कत्वा महाबोधिरुक्खं पसंसन्तो द्वे गाथा अभासि—

बोधिं निस्साय सम्बुद्धो सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो ।
बोधिपत्तो च सो होति मारसेनपमद्दना ।
यो बोधिं आदरं कत्वा पूजाय अभिपूजयि ।
सो च बुद्धं विय पूजेति सब्बदुक्खा पमुञ्चसो[६] ति ।।

इति पसंसित्वा सो च एकन्तेन अत्तनो कालं ञत्वा 'मरणं नाम तिविधं— समुच्छेदमरणं, खणिकमरणं, समुतिमरणं ति, तत्थ समुच्छेदमरणं नाम खीणासवस्स कालं, खणिकमरणं नाम अनन्तरुप्पज्जननिरुद्धानं भवङ्गादिवीथि-चित्तानं कालं: समुतिमरणं नाम सब्बेसं सत्तानं कालं' ति ञत्वा 'तेसु मय्हं समुतिमरणेन भवितब्बं' ति चिन्तेसि। चिन्तेत्वा च पन मरणदिवसे बुद्धगुणेन सद्धिं अत्तनो सीलं अनुस्सरमानो कालं कत्वा तुसीतपुरे निब्बत्तित्वा द्वादसयोजनिके कनकविमाने देवच्छरसहस्सपरिवारा सद्धिं पटिवसति।

यदा मेत्तेय्यो बोधिसत्तो इध मनुस्सलोके सब्बञ्ञुतपत्तो हेस्सति तदा सो च तस्स सावको भविस्सति अग्गो च सेट्ठो च मेत्तेय्यस्स भगवतो सब्बधम्मेसु अप्पटिहतेन अत्तनो ञाणवसेन। सो च सत्तक्खत्तुं मेत्तेय्येन भगवता एतदग्गे ठपितो भविस्सति—'मम सावकानं धम्मविनयधरानं बहुस्सुतानं ञाणगतीनं ञाणधरानं यदिदं बुद्धघोसो' ति।

---

१. P. and S.D.P. कम्मस्स।
२. पवत्त does not occur in P. and S.D.P;
३. P. and S.D.P. विचारेत्वा।
४. P. and S.D.P. अत्तनो कालं;
५. P. and S.D.P. महाबोधिसन्तिकं।
६. The reading of this in B.F.L. is- सो च बुद्धञ्च पूजेति सब्बदुक्खा पमुच्चये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मिं बुद्धघोसे पन थेरे कालंकते येवस्स कलेवरझापनत्थाय समण-ब्राह्मणादयो सब्बे देवमनुस्सा चन्दनरुक्खेहि चितकं कारापेत्वा रतनचित्तकानि अग्घियानि उस्सापेत्वा तस्स कलेवरं चन्दनरुक्खचितके सह सुवण्णमञ्चेन[१] पक्खिपित्वा सादरेन झापयिंसु। तस्स कलेवरझापितावसाने ब्राह्मणादयो मनुस्सा धातुयो गहेत्वा महाबोधिसमीपे येव सुद्धेसु भूमिपदेसेसु निदहित्वा[२] थूपं कारयिंसु। ते पि सब्बे थेरस्स गुणे पसादेत्वा इमिना[३] पूजानिस्सन्देन कालङ्कत्वा देवलोकेसु उप्पज्जित्वा यथाकम्मं दिब्बसम्पत्तियो अनुभवन्ती[४] ति। एतस्सेव तुसीतपुरे वसन्तस्स थेरस्स पन कालतो पट्ठाय[५] पुब्बाचरिया दुप्पञ्ञे पुग्गले अत्तानं पसंसन्ते 'पञ्ञवन्तम्हा' ति मञ्ञन्ते गरहन्ता तिस्सो गाथायो आहंसु—

कालङ्कते बुद्धघोसे[६] कविम्हा ति बहूतरा ।
दुपञ्ञा बालजना पि चिन्तयिंसु पुनप्पुनं ।।
बुद्धघोसे पतिट्ठन्ते पञ्ञवन्ता पि ये जना ।
तेसं पञ्ञपभा नत्थि राहुमुखे व चन्दिमा ।।
तस्मा जहेय्य मेधावी पञ्ञवा ति पसंसनं ।[७]
अत्तानं संयमं कत्वा सो सुखं[८] न विहायती' ति।।

।। इति एत्तावता महामङ्गलनामेन एकेन थेरेन पुब्बाचरियानं सन्तिका यथापरियत्तिं पञ्ञाय रचितस्स जवनहासतिक्खनिब्बेधिकपञ्ञासम्पन्नस्स बुद्धघोसस्सेव नाम महात्थेरस्स निदानस्स अट्ठमपरिच्छेदवण्णना समत्ता।।

●

---

१. P. सुवण्णमञ्चवसेन; S.D.P. मञ्चसेन।
२. P. and S.D.P. निदहिंसु, omitting धूपं कारयिंसु।
३. P. and S.D.P. थेरस्स।
४. P. and S.D.P दिब्बसम्पत्तिं अभिभवन्ति।
५. B.F.L. has एवं थेरस्स अनन्तरतो पट्ठाय।
६. P. and S.D.P. have सङ्घते बुद्धघोसे पि।
७. P. and S.D.P. पसंसने।
८. All Mss. सुखा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचनाकारस्स कामना

बुद्धघोसस्स निदानं एवं तं रचितं मया।
निदानस्स रचनेन पञ्ञवा होमि सब्बदा।।

लभेय्यञ्च अहं तस्स मेत्तेय्यसमागमं।
मेत्तेय्यो नाम सम्बुद्धो तारेति जनतं बहुं।।

यदा मेत्तेय्यतं पत्तो धारेय्यं पिटकत्तयं।
तदाहं पञ्ञवा होमि मेत्तेय्य उपसन्तिके ति।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियासंग्रहः

सम्पादकः

प्रो. रामशङ्करत्रिपाठी

अध्यक्षचरः, श्रमण-विद्या-संकायस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्ववाक्

भारतीय विद्वत्परम्परा ने बाह्य भौतिक विकास की उपेक्षा नहीं की, फिर भी आध्यात्मिक विकास के मार्ग की निरन्तर खोज की। उसकी इस विकास यात्रा के अनेक पक्ष हैं। तन्त्रविद्या उसकी यात्रा का उत्कर्ष-बिन्दु है। तन्त्रविद्या का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं गम्भीर है। इसमें दर्शन, विज्ञान, कला, साधना आदि सभी मानवीय पक्ष समाविष्ट हैं। यह एक परिपूर्ण सम्यग्दृष्टि है। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास का यह उत्तम साधन हैं। इसमें सभी वर्ण और लिङ्ग के लोगों का प्रवेश अनुमत है। बुद्धत्व की प्राप्ति इसका चरम उद्देश्य है।

शाक्यमुनि भगवान् बुद्ध ने करुणावश सर्वप्रथम बोधिचित्त का उत्पाद कर पारमिताओं की साधना द्वारा पुण्य एवं ज्ञान सम्भार का अर्जन किया। तदनन्तर उसके द्वारा क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का प्रहाण कर बुद्धत्व प्राप्त किया। उसके बाद विभिन्न आशय, धातु एवं बुद्धिक्षमता वाले विनेय जनों के अनुसार अनेक प्रकार की धर्म देशनाएं कीं। श्रीपर्वत पर धान्यकटक में भगवान् बुद्ध ने तन्त्रविषयक धर्मचक्र का प्रवर्तन किया।

जब विपुलगिरि में सामान्य सूत्रों का संगायन हो रहा था, उसी समय विमलसम्भवगिरि पर समन्तभद्र, मञ्जुश्री, गुह्यकाधिपति वज्रपाणि, मैत्रेयनाथ आदि बोधिसत्त्वों द्वारा महायान सूत्रों का संगायन हो रहा था और उसी समय समस्त तन्त्रों का संगायन भी वज्रपाणि द्वारा किया गया। इस तरह तन्त्रनय महायान के अन्तर्गत परिगणित है और विशुद्ध बुद्धवचन है। महायान के दो नय हैं, यथा—तन्त्रनय और पारमितानय।

तन्त्रों की बुद्धवचनता के बारे में आधुनिक विद्वानों को अनेकविध सन्देह एवं विप्रत्तिपत्तियाँ हैं। बौद्ध तन्त्रों की अविच्छिन्न लम्बी परम्परा में विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक एवं मनीषी उत्पन्न हुए हैं, जिनकी निष्पक्षता के बारे में आज के विद्वानों को भी कोई विप्रत्तिपत्ति नहीं है। परम्परा के विद्वानों में इस प्रकार का सन्देह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ, जैसा आधुनिक विद्वानों को हो रहा है। ऐसी स्थिति में परम्परागत मान्यताओं से असहमत होने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। फलतः तन्त्रों की बुद्धवचनता असन्दिग्ध है।

आधुनिक काल और मध्य काल के अनेक पण्डितों ने तन्त्रों पर मिथ्याचार, आडम्बर एवं दुराचरण के पोषण का आरोप किया है। किन्तु गुरु-परम्परा से जिन्हें तन्त्रमार्गों की सही जानकारी है, ऐसे विद्वानों की दृष्टि में उपर्युक्त आरोप सर्वथा निराधार है और आरोप करने वाले लोगों के तन्त्रविषयक अज्ञान के परिचायक हैं। तन्त्र मार्ग के अपने विशिष्ट शील, समय और संवर होते हैं, जिनका उन्हें अनिवार्य रूप से पालन करना होता है तथा उनसे च्युत होने पर भयंकर नरकों में पतन अवश्यम्भावी होता है। इतना अवश्य है कि प्रत्येक साधना परम्परा में कुछ अनधिकारी प्रवेश पा जाते हैं, किन्तु ऐसे लोगों की वजह से पूरी तन्त्रपरम्परा की अवहेलना और उपेक्षा उचित नहीं है।

तन्त्र के भेद

क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तर तन्त्र—ये तन्त्र के चार भेद अत्यधिक प्रचलित हैं। जिस तन्त्र में देवयोग की साधना करते समय बाह्य कर्मों (स्नान, आसन आदि) पर अत्यधिक जोर दिया जाता है तथा आन्तरिक समाधि और बाह्य क्रिया में बाह्य क्रिया ही प्रधान होती है, वह 'क्रियातन्त्र' कहलाता है। जिस तन्त्र में बाह्य विधिविधान और आन्तरिक समाधि इन दोनों को समान महत्त्व दिया जाता है, किन्तु बाह्य कर्मों पर कुछ विशेष निर्भर रहा जाता है, वह 'चर्यातन्त्र' कहा जाता है। जिस तन्त्र में बाह्य विधानों और आन्तरिक समाधि इन दोनों में आन्तरिक समाधि पर अधिक बल दिया जाता है, फिर भी सीमित बाह्य कर्म अपेक्षित होते हैं, उसे 'योगतन्त्र' कहते हैं। जिस तन्त्र में बाह्य विधानों के लिए बिल्कुल स्थान नहीं होता, बल्कि आन्तरिक समाधि के अनुत्तर योग को अधिक महत्त्व दिया जाता है, उसे 'अनुत्तर तन्त्र' कहते हैं।

क्रियातन्त्र के प्रमुख ग्रन्थ

गुह्यसामान्य तन्त्र, सुसिद्धिकरमहातन्त्र, सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र, ध्यानोत्तर-तन्त्र आदि क्रियातन्त्र की सम्पूर्ण मार्गफलव्यवस्था को दर्शाने वाले प्रमुख तन्त्र ग्रन्थ हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत ग्रन्थ

यह ग्रन्थ 'क्रियासंग्रह' क्रियातन्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसके एक अंश 'देवतायोग' का ही यहाँ प्रकाशन किया गया है। इस तरह यह अपूर्ण रूप में प्रकाशित है। श्री हितोशी इनोई ने इसका सम्पादन किया था और रोमन अक्षरों में इसका जापान से प्रकाशन हुआ था। भारतीय जिज्ञासुओं के हित की दृष्टि से इसका यहाँ देवनागरी में लिप्यन्तरण प्रकाशित किया गया है। आशा है इससे तन्त्रसम्बन्धी जानकारी में अभिवृद्धि होगी।

सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियासंग्रहः

तदनु समाधित्रयभावनार्थं देवतायोगो विधेयः ।

ओं स्वभावशुद्धाः सर्वधर्माः स्वभावशुद्धोऽहम् ।।

नैरात्म्याधिमोक्षं आध्यात्मिकस्नानं कृत्वा हूंकारवज्रपरिणामेनात्मानं वज्रज्वालानलार्क्कं भावयेत्। नीलवर्णमष्टभुजं चतुर्मुखं मूलभुजद्वये वज्रवज्रघण्टा प्रज्ञालिङ्गनाभिनया, अपरभुजद्वयेन खड्गतर्जनीपाशं, अपरभुजद्वयेन चक्रखट्वाङ्गं, अपरभुजद्वयेन शरचापधरं, मूलमुखं कृष्णं दक्षिणे शितं वामे रक्तं पृष्ठे पीतं प्रतिमुखं त्रिनेत्रं, सर्पाभरणभूषितं प्रत्यालीढेन नारायणलक्ष्मीमाक्रान्तं क्रोधरूपं सर्वालङ्कारविभूषितं ध्यायात्।

ततः ह्रीःकारेण कण्ठेऽष्टदलपद्मं जिह्वापद्मदले हूंकारेण शुक्लपञ्चसूचिकवज्रं निष्पाद्यानेनाधितिष्ठेत्। वज्रजिह्वः। करद्वये अकारेण चन्द्रमण्डलद्वयं, तयो उपरि हूंकाराभ्यां पञ्चसूचिकवज्रद्वयं विचिन्त्य करशाखाश्चैव सूच्यो विघ्नघातादिकं कुर्यात्।

ओं वज्रज्वालनलार्क्क हूं वं। क्रोधतेरेत्तरीम् बध्नीयात्। ओं गृह्ण वज्रसमय हूं वं। वज्रबन्धन् तले कृत्वाच्छादयेत् क्रुद्धमानसः। गाढमगुष्ठवज्रेण क्रोधतेरेत्तरी स्मृता। ततो मालाभिषेकं गृह्णीयात्। ओं वज्रज्वालानलार्क्क हूं अभिषिञ्च मां।

वज्रबन्धेऽङ्गुष्ठद्वयं सहितोत्थितं शिरसि ललाटोपरि दक्षिणकर्णोपरि पृष्ठे वामकर्णोपरि धारयेत्। वज्रतेरेत्तरी। ओं टुं। द्व्यक्षरकवचेन कवचयेत्। वज्रमुष्टिद्वयेन हृदये ग्रन्थ्याभिनयं कुर्यात्। तथा ग्रीवापृष्ठे पुनरपि हृदये स्तनान्तरे पुनरपि हृदये ग्रीवापृष्ठे च। ललाटे ग्रन्थ्याभिनयं कृत्वा शिरसि पट्टाभिषेकयोगेनान्ते समतालया तोषयेत्। वज्रतुष्य होः। ओं वज्रज्वालानलार्क्क हूं। वामवज्रमुष्टिं हृदि विन्यस्य दक्षिणकरेण वज्रमुल्लालयन् सर्वविघ्नान् हन्यात्। ततो वज्रानलाहंकारेण विघ्नदहनादिकं कुर्यात्। ओं वज्रानल हन दह पच मथ भञ्ज रण हूं फट्। अभ्यन्तरवज्रबन्धेऽङ्गुष्ठवज्रमुत्थिताङ्गुलिज्वालागर्भे इयम् वज्रानलसमयमुद्रा। तदनु ओं वज्रेनेत्री बन्ध सर्वविघ्नान्। वज्रबन्धं बध्वा अङ्गुष्ठद्वयं प्रसार्य वामेतरचक्षुर्द्वयेषु न्यसेत्। वज्रनेत्रीसमयमुद्रा। ततो वज्ररक्षाहंकारेण वज्रमयीमधितिष्ठेत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओं वज्र दृढो मे भव रक्ष सर्वान् स्वाहा। प्रसारितवज्रबन्धं भूमौ प्रतिष्ठाप्य, वज्ररक्षसमयमुद्रा। तदनु वज्रभैरवाहंकारेणोर्ध्वं बन्धयेत्। ओं हुलु हुलु हूं फट्। वज्रमुष्टिद्वयं बध्वा अलातचक्रवद् भ्रामयेत् शिरसि तर्ज्जन्यङ्कुशाकारेण धारयेत्। वज्रभैरवनेत्रमुद्रा। तथैवोर्ध्वं बन्धयेद् वज्रयक्षाहंकारेण। ओं वज्रयक्ष हूं। वज्राञ्जल्यङ्गुष्ठद्वयप्रसारिततर्ज्जनीद्वयदंष्ट्रा वज्रयक्षसमयमुद्रा। तत उष्णीषचक्रवर्त्य-हंकारेण पूर्वां दिशं बन्धयेत्। ओं द्रूं बन्ध हूं। द्रूमिति वा। वज्रमुष्टिद्वयं कन्यसाशृङ्खलाबन्धेन तर्ज्जनीद्वयसूचीमुखं परिवर्त्योष्णीषे स्थापयेद् वज्रोष्णीष-समयमुद्रा। तदनु वज्रपाशाहङ्कारेण सर्वविघ्नान् बन्धयेत्। ओं वज्रपाश ह्रीः। वज्रमुष्टिद्वयप्रसारितेन बाहुग्रन्थिं कृत्वा च वज्रपाशमुद्रा। ततो वज्रयष्ट्यहंकारेण पश्चिमां दिशं बन्धयेत्। ओं वज्रपताके पतंगी नि रट्। वज्रबन्धेनाङ्गुष्ठद्वयपर्यङ्क-सूचीकृताग्रासमानामान्त्यविदारिता पटाग्री वज्रपताकस्य समयमुद्रा। ततो वज्रकाल्य-हंकारेण विघ्नभक्षणं कुर्यात्। उत्तरां दिशं बन्धयेत्। ह्रीः वज्रकाली रट् मट्। वज्रयक्षमुद्रैव मुखे दृढीकृत्य वज्रकालीसमयमुद्रा। वज्रशिखराहंकारेण दक्षिणां दिशं बन्धयेत्। ओं वज्रशिखर रट् मट्। वज्रमुष्टिद्वयेन पर्वतोत्कर्षणाभिनयङ्कृत्वा दक्षिणदिशि विघ्नान् हन्यात्। वज्रशिखरमुद्रा। ततो वज्रकर्माहंकारेण वज्रप्राकारान् दद्यात्। ओं वज्रकर्म। वज्रमुष्टिद्वयं बध्वान्योन्यपृष्ठसंलग्नकनिष्ठाद्वयशृङ्खलीतर्ज्ज-नीमध्यमोत्थायाङ्गुष्ठद्वयानामिकेन गोपयेत्। वज्रकर्मणः प्राकारमुद्रा। तदनु वज्रंहूंकारयोगेनाभ्यन्तरप्राकारं दद्यात्। ओं वज्रहूंकारेण हूं। वज्रकर्ममुद्रया मध्यमा-द्वयमाकुञ्चेत् त्रैलोक्यविजयमुद्रा। ततो वज्रसन्ध्यहंकारेण वज्रपञ्जरं दद्यात्। ओं वज्रबन्ध वं। वज्रबन्धेनोर्ध्वसलीलां प्रसार्य पञ्जरमुद्रा। पुनर्वज्रानलाहंकारेण तन्मुद्रायुक्तेन पूजाङ्गानि शोधयेत्। ओं वज्रानल हन दह पच मथ भञ्ज रण हूं फट्। ततो वज्रयक्षमुद्रया शङ्खाधिष्ठानम्। ओं वज्ररक्ष हूं। पुनरपि वज्ररक्षमुद्रया शङ्खाधिष्ठानम्। ओं वज्ररक्ष अः। पुनरपि वज्रशिखरमुद्रया शङ्खाधिष्ठानम्। ओं वज्रशिखर रुट् मट्। इति शङ्खत्रयम्। पुनः शङ्खत्रयं वज्रसत्त्वसमयमुद्रया वैरोचनसमयमुद्रया चाधिष्ठाय ओं वज्रसत्त्व हूं। ओं वज्रधातु हूं। तच्छंखोदकेन सर्वपूजाङ्गानि प्रोक्षयेत्। ओं वज्ररक्ष हूं इति मन्त्रेण।

ओं वज्रपुष्पे हूं। पुष्पं। ओं वज्रधूपे हूं। धूपं। ओं वज्रालोके हूं। दीपं। ओं वज्रगन्धे हूं। गन्धं। ओं वज्रनैवेद्ये हूं। नैवेद्यं। स्वस्वमुद्रया युक्तेनाधिष्ठाय। ओं अकारो मुखं सर्वधर्माणामाद्यनुत्पन्नत्वात् ओं आः हूं। खड्गमुद्रया बलिं। वज्रबन्धे खड्गोत्कर्षणं खड्गाभिनयम्। अपरपूजाङ्गानि वज्रसत्त्वमुद्रयाधितिष्ठेत्। ओं वज्रसत्त्व हूं। ओं वज्रासनि हूं। आसनम्। इति रक्षाचक्रम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदनन्तरं वज्रहेतुकर्ममुद्रया पुरतो वज्रधातुमहामण्डलन्निष्पादयेत्। ओं वज्रचक्रे हूं। वज्रमुष्टिद्वयं बद्ध्वा द्व्यग्रान्त्या वज्रबन्धना। वज्रचक्रेति विख्याता सर्वमण्डलसाधिका। अनया सर्वदिक्षु प्रदक्षिणं भ्रामितया सर्वमण्डलनिर्माणं भवति। इमामेव मुद्रां मुखे निरीक्ष्याष्टौ वारं पठेत्। सर्वमण्डलप्रविष्टो भवति। तत्र प्रत्यक्षमिव मण्डलं दृष्ट्वा वज्राङ्कुशादिभिराकृष्य प्रवेश्य बध्वा वशीकृत्यार्घादिकं कुर्यात्। ओं वज्राङ्कुश जः। ओं वज्रपाश हूं। ओं वज्रस्फोट वं। ओं वज्रावेश होः। ततोऽर्घमुद्रयार्घं दद्यात्। ओं वज्रधातुप्रवरसत्कारायार्घं प्रतीच्छ स्वाहा। त्रिधा। ओं वज्रधातुप्रवरसत्काराय पाद्यं प्रतीच्छ स्वाहा। पाद्यप्रक्षालनं। ओं वज्रधातुप्रवरसत्काराय आचमनं प्रतीच्छ स्वाहा। आचमनं। ओं वज्ररक्ष हूं। प्रोक्षणं। ततो मण्डले पुष्पन्यासं कुर्यात्। ओं वज्रधातु हूं। मध्ये। ओं वज्रसत्त्व हूं। पूर्वे। ओं वज्ररत्न त्रां। दक्षिणे। ओं धर्मवज्र ह्रीः। पश्चिमे। ओं कर्मवज्र अः। उत्तरे। ओं वज्रसत्त्व हूं। अक्षोभ्यस्याग्रे। ओं वज्रराज जः। अक्षोभ्यस्य दक्षिणे। ओं वज्रराग होः। अक्षोभ्यस्य वामे। ओं वज्रसाधु सः। अक्षोभ्यस्य पृष्ठे। ओं वज्ररत्न ओं। ओं रज्रतेज आं। ओं वज्रकेतु त्रां। ओं वज्रहास हां। अक्षोभ्यवद् रत्नसम्भवस्य। ओं वज्रधर्म ह्रीः। ओं वज्रतीक्ष्ण धं। ओं वज्रहेतु मं। ओं वज्रभास रं। पूर्ववद् अमिताभस्य। ओं वज्रकर्म कं। ओं वज्ररक्ष हूं। ओं वज्रयक्ष हूं। ओं वज्रसन्धि वं। पूर्ववद अमोघसिद्धेः। इत्येतान् गर्भपुटे। ओं वज्रलास्ये हूं। ओं वज्रमाले त्रां। ओं वज्रगीते ह्रीः। ओं वज्रनृत्ये अः। बहिराग्नेयादिमण्डलकोणचतुष्टयेषु। बाह्यमण्डलकोणचतुष्टयेषु। धूपादयः। ओं वज्रधूपे हूं। ओं वज्रपुष्पे त्रां। ओं वज्रालोके ह्रीः। ओं वज्रगन्धे अः। ततः पूर्वा-दिद्वार—द्विपार्श्वयोः। ओं मैत्रेयहरणाय स्वाहा। ओं अमोघदर्शिने हूं। ओं सर्वापायञ्जहसर्वापायविशोधनि हूं। ओं सर्वशोकतमोनिर्घातनमति हूं। पूर्वे। ओं गन्धहस्तिने हूं। ओं शूरङ्गमे हूं। ओं गगने गमनलोचने हूं। ओं ज्ञानकेतु ज्ञानवति हूं। दक्षिणे। ओं अमृतप्रभे अमृतवति हूं। ओं चन्द्रे चन्द्रस्थे चन्द्रव्यवलोकनि स्वाहा। ओं भद्रवति भद्रपाले हूं। ओं ज्वालिनि महाज्वलिनि हूं। पश्चिमे। ओं वज्रगर्भे हूं। ओं अक्षये हूं अक्षयकर्मावरणविशोधनि स्वाहा। ओं प्रतिभानकूटे स्वाहा। ओं समन्तभद्रे हूं। उत्तरे। ओं वज्राङ्कुश जः। ओं वज्रापाश हूं। ओं वज्रस्फोट वं। ओं वज्रावेश होः। पूर्वादिद्वारे। पुनरपि वैरोचनस्याग्रे। ओं सत्त्ववज्री हूं। दक्षिणे। ओं रत्नवज्री त्रां। पश्चिमे। ओं धर्मवज्री ह्रीः। उत्तरे। ओं कर्मवज्री अः। इति पुष्पन्यासो यथाक्रमम्। ततः पुष्पादिभिः सम्पूज्य। ओं आः वज्रपुष्पे हूं। ओं आः वज्रधूपे हूं। ओं आः वज्रालोके हूं। ओं आः वज्रगन्धे हूं। ओं आः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वज्रनैवेद्ये हूं। ततोऽष्टौ लास्यादिमुद्रा बध्नीयात्। ओं सर्वतथागतमहावज्रोद्भवदानपारमितापूज्ये हूं। ओं सर्वतथागतोद्भवशीलपारमितापूज्ये त्रां। ओं सर्वतथागतोद्भवक्षान्तिपारमितापूज्ये ह्रीः। ओं सर्वतथागतोद्भवमहावीर्यपारमितापूज्ये अः। ओं सर्वतथागतोद्भवसर्वदुर्गतिविशोधनि पुष्पावलोकिनि प्रज्ञापारमितापूज्ये हूं हूं फट्। ओं सर्वतथागतोद्भवसर्वापायविशोधनि धम धम धूपय-धूपय ध्यानपारमितापूज्ये त्रां हूं फट्। ओं सर्वतथागतसर्वापायविशोधनि ज्ञानालोककारिप्रणिधिपारमितापूज्ये ह्रीः हूँ फट्। एते अनन्तरोक्तकर्ममुद्रया सम्पूज्य। ततो घण्टां वादयेत्। [असमाचलासमितसारधर्मिणः। करुणात्मिकाः जगति दुःखहारिणः। असमन्तसर्वगुणसिद्धिदायिनः। असमाचलासमवराग्रधर्मिणः। गगनसमोपमकृता न विद्यते। गुणलेशरेणुकणिकेऽप्यसीमिके। सदसत्त्वधातुवरसिद्धिदायिके। विगतोपमेषु असमन्तसिद्धिषु। सततामला करुणवेगतोत्थिता। प्रणिधानसिद्धिरनिरोधधर्मता। जगतोऽर्थसाधनपरा समन्तिनी। सततं विरोचति महाकृपात्मनाम्। नहि रोधता करुणचारिकाचला। व्रजते त्रिलोकवरसिद्धिदायिका। अमितामितेषु सुसमाप्तितां गता। सुगतिं गतेष्वपि अहो सुधर्मता। त्रिसमयाग्रसिद्धिवरदा ददन्तु मे। वरदानताऽग्रतां गता गतिं सदा। सकलात्रिलोकवरसिद्धिदायिकाः। नाथास्त्रियध्वगतिका अनावृताः।] इति स्तोत्रोपहारेण स्तुनुयात्।

ततः पञ्चमण्डलकेन प्रणमेत्। पूर्वस्यां दिशि कायेन वज्राञ्जलिसहितेन। ओं सर्वतथागतकायवाक्-चित्तप्रणामेन वज्रवन्दनाङ्करोमि। ओं सर्वतथागतपूजोपस्थानायात्मानन्निर्यातयामि। ओं सर्वतथागतवज्रसत्त्व अधितिष्ठस्व माम्। दक्षिणे वज्राञ्जलिं हृदये धारयेत् ललाटेन भूमिं स्पृशन् ओं सर्वतथागतपूजाभिषेकायात्मानं निर्यातयामि ओं सर्वतथागतवज्ररत्नाभिषिञ्च मां। वज्राञ्जलिं शिरसि सन्धार्य मुखेन भूमिं स्पृशन् पश्चिमे। ओं सर्वतथागतपूजाप्रवर्त्तनायात्मानन्निर्यातयामि ओं सर्वतथागतवज्रधर्म प्रवर्त्तय मां। उत्तरे शिरसि प्रणामाञ्जलिमवतीर्य हृदये सन्धार्य भूमिं स्पृशन्। ओं सर्वतथागतपूजाकर्मणे आत्मानन्निर्यातयामि। ओं सर्वतथागतवज्रकर्म कुरुष्व माम्। ततो जानुमण्डलं पृथिव्यां प्रतिस्थाप्य हृद्यञ्जलिं कृत्वा पापं प्रतिदेशयेत्।

समन्वाहरन्तु मां दशसु दिक्षु सर्वबुद्धबोधिसत्त्वाः सर्वतथागतवज्ररत्नपद्मकर्मकुलावस्थिताश्च सर्वमुद्रामन्त्रविद्यादेवता अहम् अमुकनामा दशसु दिक्षु सर्वबुद्धबोधिसत्त्वानां पुरतः सर्वतथागतवज्ररत्नपद्मकर्मकुलावस्थितसर्वमुद्रामन्त्रविद्यादेवतानाञ्च पुरतः सर्वपापं प्रतिदेशयामि। विस्तरेण दशसु दिक्षु अतीतानागतप्रत्युत्पन्नानां सर्वबुद्धबोधिसत्त्वानां। प्रत्येकबुद्धार्यश्रावकमार्गतःसम्यक्प्रतिपन्नानां

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

सर्वसत्त्वनिकायानां सर्वपुण्यमनुमोदयामि। दशसु दिक्षु सर्वबुद्धा भगवन्तोऽप्रवर्त्तित-धर्मचक्रान् अध्येष्ये धर्मचक्रप्रवर्त्तनाय। दशसु दिक्षु सर्वबुद्धानां भगवतः परिनिर्वातुकामानां याचेऽपरिनिर्वाणाय। इति पापदेशनादि। ततो विंशतिपूजाङ्कुर्यान्मन्त्रमुद्रायुक्तेन। ततः पुष्पसमयमुद्रां बध्वैवं वदेत्। ओं सर्वतथागतपुष्प-पूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। धूपसमयमुद्रां बध्वैवं वदेत्। ओं सर्वतथागतधूप-पूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। दीपसमयमुद्रां बध्वैवं वदेत्। ओं सर्वतथागतालोक-पूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। एवङ्गन्धसमयमुद्रया। ओं सर्वतथागतगन्धपूजा-मेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। प्रणामाञ्जलिरत्नालंकारं बध्वैवं वदेत्। ओं सर्वतथा-गतबोध्यङ्गरत्नालङ्कारपूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। हास्याभिनयं बध्वैवं वदेत्। ओं सर्वतथागतहास्यलास्यरतिक्रीडासौख्यानुत्तरपूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। वस्त्रप्रदान-मुद्रां बध्वैवं वदेत्। ओं सर्वतथागतबोध्यङ्गवस्त्रालङ्कारपूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। वज्रसत्त्वकर्ममुद्रां बध्वैवं वदेत्। ओं सर्वतथागतवज्रपूजामेघसमुद्रास्फरणसमये हूं। लास्यकर्ममुद्रां बध्वैवं वदेत्। ओं सर्वतथागतमहावज्रोद्भवदानपारमिता-पूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। मालाकर्ममुद्रया वदेत्। ओं सर्वतथागतानुत्तरबोध्या-हारकशीलपारिमतापूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। गीतकर्ममुद्रया। ओं सर्वतथागता-नुत्तरधर्मावबोधक्षान्तिपारमितापूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। नृत्यकर्ममुद्रया। ओं सर्वतथागतसंसारापरित्यागानुत्तरवीर्यपारमितापूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। धूपकर्म-मुद्रया। ओं सर्वतथागतानुत्तरसौख्यविहारध्यानपारमितापूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। पुष्पकर्ममुद्रया। ओं सर्वतथागतानुत्तरक्लेशच्छेदनिमहाप्रज्ञापारमितापूजामेघसमुद्र-स्फरणसमये हूं। दीपकर्ममुद्रया। ओं सर्वतथागतमहाप्रणिधिपारिमतापूजामेघ-समुद्रस्फरणसमये हूं। गन्धकर्ममुद्रया। ओं सर्वतथागतापायगन्धनाशनिवज्रगन्धो-पायपारमितापूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। शिरसि प्रणामाञ्जलिं बध्वैवं वदेत्। ओं सर्वतथागतकायनिर्यातनपूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। मुखे वज्राञ्जलिम् ईषद्वि-कास्यैवं वदेत्। ओं सर्वतथागतवाग्निर्यातनपूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। हृदि सम्पुटाञ्जलिं बध्वैवं वदेत्। ओं सर्वतथागतचित्तनिर्यातनपूजा-मेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। ओं सर्वतथागतगुह्यनिर्यातनपूजामेघसमुद्रस्फरणसमये हूं। आलिङ्गनाभिनयेन। एवं विंशतिप्रकारपूजाभिः सर्वतथागतान् सम्पूज्यात्मानं निर्यातयेत्। आत्मानं सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यो निर्यातयामि सर्वदा सर्वकालं प्रतिगृहणन्तु मां महाकारुणिक-नाथा महासमयसिद्धिञ्च मे प्रयच्छन्तु। तच्च कुशलमूलं सर्वसत्त्वसाधारणं कर्त्तव्यम्। अनेन कुशलमूलेन सर्वसत्त्वाः सर्वलौकिकलोकोत्तरविपत्तिविगता भवन्तु सर्व-लौकिकलोकोत्तरसम्पत्तिसमन्विताश्च सहैव सुखेन सहैव सौमनस्येन बुद्धा भवन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरोत्तमाः। अनेन चाहं कुशलेन कर्मणा भवेयं बुद्धो न चिरेण लोके। देशेय धर्मं जगतो हिताय मोचेय सत्त्वान् बहुदुःखपीडितान् इत्यनुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ परिणामयेत्। इति बोधिचित्तोत्पादः।

उत्पादयामि परमं बोधिचित्तमनुत्तरम् ।
यथा त्रैयध्विका नाथाः सम्बोधौ कृतनिश्चयाः ।।
त्रिविधां शीलशिक्षाञ्च कुशलधर्मसङ्ग्रहम् ।
सत्त्वार्थक्रियाशीलञ्च प्रतिगृह्णाम्यहं दृढम् ।।
बुद्धं धर्मञ्च संघञ्च त्रिरत्नाग्रमनुत्तरम् ।
अद्याग्रेण गृहीष्यामि संवरं बुद्धयोगजम् ।।
वज्रं घण्टाञ्च मुद्राञ्च प्रतिगृहणामि तत्त्वतः ।
आचार्यञ्च गृहीष्यामि महावज्रकुलोच्चये ।।
चतुर्दानं प्रदास्यामि षट्कृत्वा तु दिने दिने ।
महारत्नकुले योगे समये च मनोरमे ।।
सद्धर्मं प्रतिगृहणामि बाह्यङ्गुह्यं त्रियानिकम् ।
महापद्मकुले शुद्धे महाबोधिसमुद्भवे ।।
संवरं सर्वसंयुक्तं प्रतिगृहणामि तत्त्वतः ।।
पूजाकर्म यथाशक्त्या महाकर्मकुलोच्चये ।।
उत्पादयामि परमं बोधिचित्तमनुत्तरम् ।
गृहीतं सम्वरं कृत्स्नं सर्वसत्त्वार्थकारणात् ।।
अतीर्णान् तारयिष्यामि अमुक्तान् मोचयाम्यहम् ।
अनाश्वस्तान् आश्वास्यामि सत्त्वान् स्थापयिष्यामि निवृतौ ।।

।। इति संवरग्रहणम्। इत्यनादिसंसिद्धियोगः।।

तदनन्तरे प्रतिबिम्बादियोगतो मुद्राबन्धपूर्वकं सर्वमधितिष्ठेत्। कमलावर्त्तपूर्वकं कृत्वा। ओं अन्योन्यानुगताः सर्वधर्माः सम्पुटाञ्जलिम्। ओं परस्परानुप्रविष्टाः सर्वधर्माः वज्राञ्जलिम्। ओं अत्यन्तानुप्रविष्टाः सर्वधर्माः वज्रबन्ध वं। ओं वज्रबन्ध त्रट्। त्रिधा वज्रबन्धं हृदि स्फोटयेत्। वज्रबन्धमोक्षः। वज्रावेशसमयसमुद्राम् बध्वा। हृदये अकारेणाद्यवज्रम् पश्येत्। ओं तिष्ठ वज्र दृढो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मे भव शाश्वतो मे भव हृदयं मे अधितिष्ठ सर्वसिद्धिश्च मे प्रयच्छ हूं ह ह ह ह होः। ओं वज्रावेश अः। ओं परस्परानुगताः सर्वधर्माः ओं वज्रमुष्टि वं। पृथक् पृथक् हृदये वज्रमुष्टिं धारयेत्। तदनु—

वज्रबन्धं बध्वा वज्रमुद्राद्विकान्तरात् ।
समुत्थितः क्षिपेत् क्षणाद् ऊर्ध्वापतितो क्षेपणं परम् ।।

ओं सर्वपापाकर्षणविशोधनवज्रसमय हूं फट् ।।पापाकर्षणं।। ओं वज्रपाणि विस्फोटय सर्वापायबन्धनानि प्रमोक्षय सर्वापायगतिभ्यः सर्वसत्त्वान् सर्वतथागतवज्रसमय हूं त्रट्। इत्युदीरयन् पापं स्फोटयेत् त्रिधा।

वज्रबन्धं दृढीकृत्य मध्यमा मुखसन्धिता ।
चतुरन्त्यमुखासक्ता पापं स्फोटयति क्षणात् ।।

वैरोचनसमयमुद्रां बध्वा मन्त्रं त्रिरुच्चारयेत् ।

ओं वज्र मुः। पापविसर्ज्जनम् ।।

एवं सर्वमुद्राक्षेपकृतो भवति। अनेन च त्रिकल्पासंख्येयं निर्यातं बोधिसत्त्वसदृशो भवति योगी।

ततः स्वहृदयगतवज्रमध्ये वज्रसत्त्वेति। मनसोदीरयन् सर्वधर्मनैरात्म्यं भावयेत्। अनेन च षोडशस्वरसहितेन चन्द्रमण्डलं। पुनः ककारादिव्यञ्जनेन द्वितीयं चन्द्रमण्डलं। तस्योपरि हृदयसहितेन पञ्चसूचिकं शुक्लवज्रं सरश्मिकं चिह्नं पश्येत्। अन्येषान्तु वज्रोद्भवस्वस्वमुद्रामन्त्रचिह्नमध्ये न्यस्य मुद्राहङ्कारं भावयेत्। वज्रसत्त्वमहामुद्रां बध्वैवं वदेत्।

वज्रोऽहं। वज्रोऽहं। रत्नोऽहं। पद्मोऽहं। विश्ववज्रोऽहं। वज्रोऽहं। अंकुशोऽहं। शरोऽहं। तुष्टिरहं। रत्नोऽहं। सूर्योऽहं। केतुरहं। समितिरहं। पद्मोऽहं। खड्गोऽहं। चक्रोऽहं। जिह्वोऽहं। कर्माहं। वर्म्माहं। दंष्ट्रोऽहं। मुष्टिरहं। वज्रद्वयमहं। रत्नमालाहं। वीणाहं। नृत्यकरपल्लवाहं। धूपोऽहं। पुष्पोऽहं। दीपोऽहं। गन्धोऽहं। अङ्कुशोऽहं। पाशोऽहं। घण्टोऽहं। स्वस्वहृदयञ्जपन् सर्वतथागतकायवाक्चित्तवज्रधातुषु प्रवेश्य स्वस्वमुद्राञ्चिन्तयेत्। तत्रेयं मुद्रा। वज्रधातुरहं। वज्रसत्त्वोऽहं। रत्नवज्रोऽहं। पद्मवज्रोऽहं। विश्ववज्रोऽहं। वज्रसत्त्वोऽहं। वज्रराजोऽहं। वज्ररागोऽहं। वज्रसाधुरहं। वज्रगर्भोऽहं। वज्रप्रभोऽहं। वज्रयष्टिरहं। वज्रप्रीतिरहं। वज्रनेत्रोऽहं। वज्रबुद्धिरहं। वज्रमण्डोऽहं। वज्रवाचोऽहं। वज्रकर्माहं। वज्रवीर्योऽहं। वज्रचण्डोऽहं। वज्रमुष्टिरहं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वज्रलास्याहं। वज्रमालाहं। वज्रगीताहं। वज्रनृत्याहं। वज्रधूपाहं। वज्रपुष्पाहं। वज्रदीपाहं। वज्रगन्धाहं। वज्राङ्कुशोऽहं। वज्रपाशोऽहं। वज्रस्फोटोऽहं। वज्रावेशोऽहं।

इत्युक्त्वा स्वहृदये स्वस्वदेवतारूपञ्चिन्तयेत्। इति कृत्वा स्वहृदये वज्रधातुमण्डलं सम्पूर्णं भावयेत्।

आत्मानं वज्रसत्त्वरूपं विभाव्य वज्रसत्त्वसमयमुद्रां बध्वैवं वदेत्। समयोऽहं। समयमहं समयसत्त्वोऽहं। तयैव मुद्रया हृदूर्ण्णाकण्ठमूर्ध्वस्वधितिष्ठेत्। समयसत्त्वम् अधितिष्ठस्व मां। ओं वज्रसत्त्व हूं। इत्युच्चार्य वज्रम् उल्लालयेत्।

पुनः स्वहृदि चन्द्रे वज्ररश्मिं संस्फार्य वज्रहेतुकर्ममुद्रया वज्रधातुमण्डलम् आकाशे निर्माय पश्येत्। वज्रसत्त्वसममुद्रया समयस्त्वं। समयमहं। वज्रावेशसमयमुद्रां बध्वैवं पूर्ववत् तिष्ठ वज्रेत्यादि पठेत् त्रिधा।

मण्डलद्वयम् एकीभूतं पश्येत्। आत्मानम् आकाशे सूक्ष्मरूपं कृत्वा। सत्त्ववज्रीं बध्वा पुष्पमालां गृहीत्वा मण्डले प्रवेशयेत्।

इत्ययं मण्डले रम्ये मया शिष्यः प्रवेशितः ।

यथा पुण्यन्तथैवास्तु देवतानां कुलक्रमः ।।

यादृक् सिद्धिर्भवेत् तस्य गोत्रे यस्मिंश्च भाजनः ।

यादृक् पुण्यानुभावश्च तादृग् अस्यास्तु मण्डले ।

प्रतीच्छ वज्र होः। पुष्पपातनम् ।

ततो मालाभिषेकं गृह्णीयात्। ओं प्रतिगृह्ण त्वं इमं वत्स महाबलः। पुष्पाभिषेकः।

सत्त्ववज्रीं बद्धवा चक्षुरुद्घाटयेत्। ओं वज्रसत्त्वः स्वयं तेऽद्य चक्षुरुद्घाटनतत्परः।। उद्घाटयति वज्राक्षो वज्रचक्षुरनुत्तरम्।। हेवज्र पश्य चक्षुरुद्घाटनम्।।

ततो मण्डलं दर्शयेत्। वज्राङ्कुशाद् आरभ्य भगवन्तं वैरोचनं पर्यन्तम्। ततः शिरसि वज्रं धारयति सत्त्ववज्रादिगृहीतकलशोदकेनाभिषिच्य। ओं वज्राभिषिञ्च मां। उदकाभिषेकः। ततः पञ्चबुद्धमुकुटपट्टाभिषेकं गृह्णीयात्। ओं वज्रधात्वीश्वरि हूं वज्रिणि अभिषिञ्च मां। उष्णीषे। वैरोचनं सितवर्णं बोध्यग्रीमुद्रयावस्थितं चिन्तयेत्। वज्राञ्जलिं बद्धवा अङ्गुष्ठद्वयपर्यङ्कं कुञ्चिताग्रविग्रहं सममध्यमोत्तमाङ्गा च वज्रधात्वीश्वरी स्मृता। ओं वज्रवज्रिणि हूं अभिषिञ्च मां। ललाटोपरि अक्षोभ्यं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूस्पर्शमुद्रं नीलवर्णम्। सा एव मध्यमवज्रा तु वज्रवज्रिणी स्मृता। ओं रत्नवज्रिणि हूं अभिषिञ्च मां। दक्षिणकर्णस्योपरि रत्नसम्भवं पीतं वरदमुद्रम्। मध्यमाभ्यां मणीञ्च कृत्वा रत्नवज्री स्मृता। ओं धर्मवज्रिणि हूं अभिषिञ्च मां। मस्तकपृष्ठेष्वमिताभं रक्तं समाधिमुद्रम्। मध्यमा नामान्त्यपद्मा चानया धर्मवज्री स्मृता। ओं कर्मवज्रिणि हूं अभिषिञ्च मां वामकर्णस्योपरि अमोघसिद्धिः श्यामोऽभयमुद्रः। प्रसारितकराङ्गुली कर्मवज्री स्मृता। इति मुकुटाभिषेकः।

तदनु पूर्ववत् कवचयेत्! समतालञ्च कुर्यात्। ततो वज्राभिषेकङ्गह्णीयात्। हृदये वज्रं सन्धार्य। अद्याभिषिक्तस्त्वं असि बुद्धैर्वज्राभिषेकतः। इदन्तत् सर्वबुद्धत्वं गृह्ण वज्रं सुसिद्धये। इति वज्राभिषेकः।

वज्रवज्रघण्टां शिरसि धारयेत्। ओं वज्रसत्त्व त्वाम् अभिषिञ्चामि वज्रनामाभिषेकतः। हे श्री शाश्वत वज्रनाम तथागत भूभुर्वः स्वः। इति नामाभिषेकः।

ततो वज्रम् आदाय वज्रवज्रघण्टां धारयन् वज्रसत्त्वमहामुद्रां बद्धवा।

इदन्तत् सर्वबुद्धत्वं वज्रसत्त्वकरे स्थितं।

त्वयापि हि सदा धार्यं वज्रपाणि दृढव्रतम्।।

इति वज्रव्रतम्।

ओं सर्वतथागतसिद्धिवज्रसमय तिष्ठ एष त्वां धारयामि इति घण्टासमयः!

एवं स्वाधिष्ठानं कृत्वा साधयेत्।

(अपूर्णः)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदार्शनिक - अनन्तवीर्याचार्य - विरचितः

षड्दर्शनेषु प्रमाणप्रमेयसमुच्चयः

सम्पादक

कुमार अनेकान्त जैन

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। इसी चिन्तनशीलता के कारण उसने ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में विकास के नये-नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं। फिर भी उसकी विकास-यात्रा बिना थके अविराम चल रही है। इस विकास की आधारशिला हमारे गौरवशाली अतीत पर आधारित है। हमारे देश की प्राचीन संस्कृति, कला, साहित्य, धर्म-दर्शन और ज्ञान-विज्ञान की गौरवगाथा सदा से ही विश्वविख्यात रही है। हमारा देश का समग्र भारतीय दर्शन एक प्रमुख प्रतिष्ठापूर्ण पूँजी है, जिसके कारण भारत को विश्वगुरू के रूप में मान्यता प्राप्त थी। यही समग्र भारतीय दर्शन विविधताओं में एकता और तादात्म्य भाव समेटे हुए है। क्योंकि यह भाव ही एक धागे में गुंथी हुए उस मणिमाला के समान है, जो इस देश में जन्मी या यहाँ पली-बढ़ी विभिन्न चिन्तनधाराओं को एक सूत्र में पिरोये हुए सुशोभित हैं। हमारी इस एकता की यह विशेषता रही है कि लम्बे इतिहास में अनेक उतार-चढाव एवं परिवर्तनों के बाद भी उसे कोई मिटा नहीं सका। यही कारण भी है कि हमारे देश की धर्म-दर्शन विषयक चिन्तनधारायें और संस्कृति आज भी ज्यों त्यों जीवन्त हैं।

भारतीय दर्शन की एक विशेषता सदा से यह भी रही है कि भले ही वे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में एक दूसरे का खण्डन-मण्डन अपने-अपने शास्त्रों और शास्त्रार्थों में करते रहे हों, किन्तु सभी परस्पर एक-दूसरे के दर्शनों का आदरपूर्वक अध्ययन, मनन और लेखन भी करते रहे हैं। इसके प्रमाण-स्वरूप हम माधवाचार्य कृत सर्वदर्शनसंग्रह, आचार्य हरिभद्रसूरीकृत 'षड्दर्शन समुच्चय आदि प्रमुख ग्रन्थों के नाम रेखाङ्कित कर सकते हैं, जिनमें बिना किसी पूर्वाग्रह के सभी दर्शनों की मूलभूत मान्यताओं का अच्छा विवेचन किया गया है। इसी तरह के और भी अनेक ग्रन्थ हैं, जिनके अध्ययन से सभी दर्शनों को समझने और जानने में काफी सहायता मिलती है।

यह हम सभी जानते हैं कि यदि 'दर्शन' के प्रति रुचि और आकर्षण न हो तो यह विषय सामान्य लोगों को 'नीरस' सा प्रतीत होता है। इसीलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी दर्शनों में प्रवेश हेतु, उनके प्रति आकर्षण हेतु अनेक आचार्यों ने ऐसे सरलभाषा में संक्षिप्त ग्रन्थों की रचना की है, जिनके अध्ययन से सभी दर्शनों के मूलभूत सिद्धान्तों आदि का ज्ञान हो सके। इसी क्रम में प्रस्तुत लघुग्रन्थ का सम्पादन एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जो अब तक शास्त्रभण्डार में अपने उद्धार की प्रतीक्षा में था। मुझे राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत, मध्यप्रदेश तथा दिल्ली आदि प्रदेशों के अनेक जैन शास्त्र-भण्डारों को देखने का अवसर मिला है, जिनमें अभी भी ऐसे बहुमूल्य सहस्रों अप्रकाशित शास्त्र हैं, जिनका समय रहते उद्धार नहीं हुआ तो वे नष्ट हो जायेंगे। अतः इनके सम्पादन एवं प्रकाशन के कार्यों को प्राथमिकता के आधार पर हाथ में लेना हम सभी का प्रमुख उत्तरदायित्व है।

प्रस्तुत ग्रन्थ, ग्रन्थकार और सम्पादन कार्य

पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर कई बार मुझे अजमेर (राजस्थान) के श्री दिगम्बर जैन महापूत चैत्यालय (सेठजी की कोठी के पास, उन्हीं द्वारा निर्मित जैन मंदिर) के शास्त्रभण्डार को देखने का अवसर मिला। वहाँ जैनधर्म एवं जैनेतर धर्मों के विविध विषयों से संबंधित शताधिक ऐसे ग्रन्थ हैं, जो अभी तक अप्रकाशित हैं। मुझे वहाँ के प्रमुख श्रीमान् सेठ सा. निर्मलचंद जी सोनी जी के सौजन्य से कुछ अप्रकाशित शास्त्रों की जीराक्स प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं, उनमें प्रस्तुत 'षड्दर्शनेषु प्रमाणप्रमेय-समुच्चयः' नामक लघुग्रन्थ, जो कि अनंतवीर्याचार्य नामक जैनाचार्य द्वारा लिखा गया था, को सम्पादित एवं प्रकाशित कर अतीव प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में लिखा हैं— 'इति सर्वमत समुच्चयमिदमद्भुत वाक्यनिबद्धं शिष्य-प्रशिष्याणं विकासार्थमतन्तवीर्याचार्यश्चक्रे सिद्धान्तप्रवेशकं श्री अनन्तवीर्याचार्यस्पक्षाति सर्वमतं समाप्तम्।' इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि इसके कर्त्ता अनन्तवीर्याचार्य है। इस नाम के दिगम्बर परम्परा में दो आचार्यों का उल्लेख मिलता है। एक आचार्य अकलंकदेवकृत सिद्धिविनिश्चय के टीकाकार आचार्य अनंतवीर्य हैं। दूसरे आ. माणिक्यनंदि कृत परीक्षामुखसूत्र पर सरल भाषा में 'प्रमेयरत्नमाला' नामक टीका के कर्ता आचार्य अनंतवीर्य, जिन्हें विद्वानों ने 'लघु अनन्तवीर्य' के नाम से सम्बोधित किया है। इन लघु अनन्तवीर्य का समय विद्वानों ने बारहवीं सदी का पूर्वार्द्ध माना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत 'प्रमाण प्रमेय समुच्चयः' नामक लघुग्रन्थ के अध्ययन से भी स्पष्ट है कि इसकी तथा प्रमेयरत्नमाला की प्रतिपादन की भाषा और शैली दोनों में बहुत साम्य है, अतः निश्चित रूप से दोनों के कर्ता १२ वी. शती के आचार्य लघु अनन्तवीर्य हैं। जिनका दिगम्बर जैन परम्परा के जैन दार्शनिक ग्रन्थों के लेखकों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अनन्तवीर्याचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में अतिसंक्षेप शैली का उपयोग करके न्याय, वैशेषिक, जैन, सांख्य, बौद्ध, मीमांसक और लोकायत (चार्वाक)-इन दर्शनों में प्रतिपादित मात्र 'प्रमाण-प्रमेय' विषय का बहुत ही सरल और सहज भाषा में प्रतिपादन किया है। विद्वान् लेखक ने तद्-तद् दर्शनों के प्रतिनिधि ग्रन्थों के सूत्रों को भी उद्धृत किया है। इसमें प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता भी सिद्ध होती है। विषय की दृष्टि से न्यायशास्त्र के चार अंग हैं—१. प्रमाण—साधन, २. प्रमेय—वस्तु, ३. प्रमिति—फल, ४. प्रमाता—परीक्षक। इनमें से प्रमुख दर्शनों में प्रतिपदित प्रमाण और प्रमेय—इन दो अंगों का अतिसंक्षेप में ग्रन्थकार ने विवेचन प्रस्तुत किया है। दार्शनिक क्षेत्र में इन विषयों का तुलनात्मक और समन्वयात्मक अध्ययन की दृष्टि से इस लघुग्रन्थ की महत्ता और उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। मेरे शोध का विषय भी दार्शनिक समन्वय की दृष्टिः जैन नयवाद' है, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन कार्य मेरे लिए विशेष महत्त्व रखता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में सभी दर्शनों का सारभूत समन्वय-भी प्रस्तुत किया है।

हस्तलिखित पाण्डुलिपि का परिचय

जैसा कि पूर्व में यह सूचित किया गया है कि अजमेर से प्राप्त इस ग्रन्थ की हस्तलिखित पाण्डुलिपि की जीराक्स प्रति के आधार पर इसका सम्पादन-कार्य किया गया है। ग्रन्थ चाहे छोटा हो या बड़ा, सावधानी पूर्वक पाठ संशोधन, प्रतिलिपि आदि कार्य काफी श्रमसाध्य होते हैं। प्रस्तुत पाण्डुलिपि पन्द्रह पत्रों अर्थात् (अट्ठाईस पृष्ठों) में दोनों ओर कुछ-कुछ स्पष्ट और अस्पष्ट अक्षरों में लिखित है। ९×६ इंच के प्रत्येक पत्र में आठ पंक्तियाँ हैं। मुझे प्रसन्नता है कि श्रमणविद्या संकाय की इस गौरव पूर्ण 'श्रमणविद्या' नामक पत्रिका के माध्यम एवं आ. गुरूवर्य प्रो. दयानन्द भार्गव तथा प्रो. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा एवं पूज्य पिताश्री डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी की प्रेरणा से ग्रन्थ के सम्पादन और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्धार कार्य का सौभाग्य मुझे मिला। अल्पज्ञतावश इसमें जो भी त्रुटियाँ रह गयी हों, विद्वद्गण से अनुरोध है कि मुझे जरूर सूचित करने की कृपा करें ताकि आगे उनका परिमार्जन हो सके। प्रस्तुत लघुग्रन्थ सभी दर्शनों के प्रमाण-प्रमेय को सरल भाषा में समझने में उपयोगी सिद्ध हो, इसी कामना से इस ग्रन्थ का मूलपाठ प्रस्तुत है।

– कुमार अनेकान्त जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनन्तवीर्याचार्यविरचितः

षड्दर्शनेषु प्रमाण-प्रमेय-समुच्चयः

मंगलाचरणम्

सर्वभावप्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरम् ।
वक्ष्ये सर्ववि (नि) गमेषु यदिष्टं तत्त्वलक्षणम् ।।

ॐ नमो अर्हभ्याम्। षड्दर्शनेषु प्रमाणप्रमेयसमुच्चय प्रदर्शनायेदमुपदिश्यते—

नैयायिकदर्शनम्

तत्र नैयायिकदर्शने तावत्- 'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टांत-सिद्धान्ताऽवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः।'[१]

अथ प्रमाणम्—

अस्य व्याख्या— प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। तस्य च सामान्य लक्षणम्- अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्। उपलब्धिश्च हानादिबुद्धिः। तच्चतुर्धा, तद्यथा-'प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।'[२]

(१) तत्र प्रत्यक्षम्—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।[३] अस्य गमनिका—इन्द्रियाणि घ्राणादीनि, अर्था घटादयो गन्धादयश्च, तेषां सन्निकर्षः सम्बन्धः, तस्मात् सन्निकर्षादुत्पन्नम्, नाऽभिव्यक्तम्, ततश्च सांख्यमतव्यवच्छेदः। ज्ञानग्रहणात् सुखादिव्यवच्छेदः। तच्च शब्देन व्यपदिश्यमानं शाब्दं प्रसज्यते, तेनोच्यते अव्यपदेश्यमिति। तथा तदेव ज्ञानं व्यभिचार्यपि संभवति, तेनेह 'अव्यभिचारि' इति। व्यवसायात्मकम् निश्चय-स्वभावम्, ततश्च संशय-ज्ञानव्यवच्छेदः। 'प्रत्यक्षम्' इति लक्ष्यनिर्देशः।

---

१. न्यायसूत्र १।१।१; २. वही १।१।३; ३. न्यायसूत्र-१.१.४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) अथानुमानम् — 'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्— पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतो दृष्टं च' इति।[१] तत्पूर्वकमिति प्रत्यक्षपूर्वकम्। त्रिविधमिति लिङ्गविभागः। पूर्ववदिति कारणात् कार्यानुमानम्, यथा मेघोन्नतिदर्शनाद् भविष्यति वृष्टिरिति। शेषवदिति कार्यात् कारणानुमानम्। यथा विशिष्ट-नदीपूरदर्शनात् 'उपरि वृष्टो देवः' इति गम्यते। सामान्यतो दृष्टं नाम यथा देवदत्तादौ गतिपूर्विकां देशांतरप्राप्तिमुपलभ्य आदित्येऽपि समधिगम्यते अनुमानम्।

(३) अथोपमानम्— 'प्रसिद्धेन साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।'[२] प्रसिद्धो गौः, तेन सह साधर्म्यं सामान्यं ककुद-खुर विषाणादिमत्त्वम्, तस्मात् साधर्म्यात् साध्यस्य गवयोऽयमिति संज्ञासंज्ञि संबंधः प्रमायाः साधनमुपमानम्, यथा गौः तथा गवय' इति। किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते? संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः।

(४) अथ कः शब्दः?— 'आप्तोपदेशः शब्दः'[३]। आप्तः खलु साक्षात् कृतधर्मा, तेन य उपदेशः क्रियते स आप्तोपदेशः। सर्वागमः शब्दाख्यं प्रमाणमित्युच्यते।

२. अथ प्रमेयम्

किं पुनरनेन प्रमाणेनार्थजातं मुमुक्षुणा प्रमेयम्? तदुच्यते — 'आत्म-शरीरेन्द्रियार्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।'[४]

३. अथ संशयः–

किंचिदित्यनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः। तद्यथा- मन्दायमानप्रकाशे स्थाणुःपुरुषोवेति।

४. अथ प्रयोजनम्–

येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्।

५. अथ दृष्टांतः–

संप्रतिपत्तिविषयापन्नोऽर्थो दृष्टांतः। यथा-अनित्याद्यर्थ विवरणे घटा-काशादिरिति।

६. अथ सिद्धान्तः–

स च चतुर्विधः तद्यथा- (१) सर्वतन्त्रसिद्धान्तः (२) प्रतितन्त्रसिद्धान्तः (३) अधिकरणसिद्धान्तः (४) अभ्युपगमसिद्धांतश्चेति।

---

१. न्यायसूत्र १।१।५: २. न्यायसूत्र १।१।६।
३. वही १।१।७: ४. न्यायसूत्र-१।१।९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. अथ-अवयवाः–

'प्रतिज्ञा हेतु-उदाहरणोपनयनिगमनानि-अवयवाः'।[१] तत्र 'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञा। 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्-इति हेतुः। 'घटवत्' — इत्युदाहरणम्। तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्द इत्युपनयः।

तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति निगमनम्। वैधर्म्योदाहरणेऽपि इह यदनित्यं न भवति तदुत्पत्तिधर्मकमपि न भवति, यथा आकाशम्, न च तथाऽनुत्पत्तिधर्मकः शब्द इति, तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति निगमनम्।

८. अथ तर्कः–

संशयपूर्वको भवितव्यता-प्रत्ययस्तर्कः, यथा भवितव्यमत्र वाह्यालीप्रदेशे पुरुषेणेति।

९. अथ निर्णयः–

संशय तर्काभ्यामूर्द्धवं निश्चितप्रत्ययो निर्णयः। यथा लाटयवायम्।

१०. अथ वादः–

त्रिस्रः कथाः— वादो जल्पो वितण्डा। तत्र शिष्याऽऽचार्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण निर्णयावसानो वादः।

११. अथ जल्पः–

विजिगीषुणा सार्द्धः 'छल-जाति-निग्रहत्स्थान-साधनोपालम्भो जल्पः[२]'।

१२. अथ वितण्डा–

सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।

१३. अथ हेत्वाभासः–

अनैकान्तिकादयो हेत्वाभासाः।

१४. अथ छलम्–

नवकम्बलो देवदत्त इत्यादिच्छलम्

१५. अथ जातिः–

दूषणाभासास्तु जातयः।

---

१. न्यायसूत्र १।१।३२: २. न्यायसूत्र १।२।२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. अथ निग्रहस्थानानि

निग्रहस्थानानि पराजयवस्तूनि। तद्यथा— 'प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरम् प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम् अपार्थकम्, अप्राप्तकालम्, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम् अननुभाषणम्, अप्रतिज्ञानम्, अप्रतिभा, कथाविक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः हेत्वाभासाश्चेति निग्रहस्थानानि।[१]

नैयायिक मतं समाप्तम्

अथ वैशेषिकदर्शनम्

अथ वैशेषिक-तन्त्रसमासप्रतिपादनायाह—

द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।

तत्र तावत् नवद्रव्याणि—

'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति नवद्रव्याणि।[२]

तत्र पृथिवीत्वयोगात् पृथिवी। सा च द्विविधा—नित्या-अनित्या च। तत्र परमाणुलक्षणा नित्या। कार्यलक्षणा त्वनित्या। सा च चतुर्दश लक्षणोपेता तद्यथा—रूप-रस-गंध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-नैमित्तिक[३] द्रवत्व-वेगैः।

अप्त्वाभिसम्बन्धादापः[४]। ताश्च रूप-रस-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-गुरुत्व-स्वाभाविकद्रवत्व-स्नेह-वेगवत्यः। तासु च रूपं शुक्लमेव, रसो मधुर एव, स्पर्शः शीत एव।

तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् तेजः'[५] तच्च रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-नैमित्तिक-द्रवत्व-वेगैःएकादशभिः गुणैः गुणवत्। तत्र रूपं शुक्लं भास्वरं च, स्पर्श उष्ण एवेति। नैमित्तिकं द्रवत्वं च।

वायुत्वाभिसम्बन्धाद् वायुः[६] इति। स च अनुष्णाशीतस्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-वेगैर्नवभिः गुणैर्गुणवान् धृति कंपादिलिङ्गः शब्दलिङ्गो गन्धादिवियुक्तोऽनुष्णशीतस्पर्शलिङ्गश्चेति।

---

१. न्यायसूत्र ५।२।१:　　२. वैशेषिक सूत्र १।१।५।
३. गुरुत्वः　　४. प्रशस्तपादभाष्य पृ.१४।
५. वही पृ.१५:　　६. वही पृ.१६।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

'आकाशमिति' पारिभाषिकीयमिति संज्ञा, एकत्वात् तस्य संख्या परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागा-शब्दैः षड्भिः गुणैः गुणवत् शब्दलिङ्गंचेति।

'कालः परापरव्यतिकर-यौगपद्यायौगपद्य-चिर-क्षिप्र-प्रत्ययलिङ्गम्,[१]' स संख्या-परिमाण-पृथत्तत्व-संयोग-विभागैः पञ्चभिः गुणैः गुणवान्।

'इत इदम्' पूर्वमित्यादिप्रत्ययो यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम्।[२]

तद्यथा — इदमस्मात् पूर्वेण इदमुत्तरेणेति।

संख्या-परिमाण-पृथत्तत्व-संयोग-विभागैः पञ्चभिः-गुणैः-गुणवती एवेति संज्ञा च पारिभाषिकी चेति।

'आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा'[३]-स च चतुर्दशभिः गुणैः गुणवान्। बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नलिंग धर्माऽधर्म-संस्कार-सङ्ख्या-परिमाण-पृथत्तत्व-संयोग-विभागः चतुर्दशगुणाः।

मनस्त्वाभिसम्बन्धाद् मनः। तच्च क्रमज्ञानोत्पत्तिलिङ्गं सङ्ख्या-परिमाण-पृथत्तत्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-वेगैरष्टभिर्गुणैर्गुणवत्। इति **द्रव्यपदार्थः**।

अथ गुणाः—

रूप-रस-गंध-स्पर्शा विशेषगुणाः, संख्यापरिमाणानि पृथत्तत्वं संयोग-विभागौ परत्वा-ऽपरत्वे इत्येते सामान्यगुणाः,

बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न धर्मा ऽधर्म-संस्कारा आत्मगुणाः, गुरुत्वं पृथिव्युदकयोः द्रवत्वं पृथिव्युदकाग्निषु, स्नेहोऽम्भस्येव, वेगाख्यः संस्कारो मूर्तद्रव्येष्वेव, आकाशगुणः शब्द इति। गुणत्वयोगाच्च गुणा इति। तथा चापान्तरालसामान्यानि रूपत्वयोगाद् रूपम्, रसत्वादियोगाद् रसादयः। इति **गुणपदार्थः**।

अथ कर्मपदार्थः–

'उत्क्षेपणमपक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि[४]। कर्मत्व योगात् कर्म। गमन-ग्रहणाच्च भ्रमण-स्यन्दन-नमनोन्नमनाद्यवरोधः। इति **कर्मपदार्थः**।

---

१. प्रशस्तपादभाष्य पृ. २६;
२. वैशेषिक सूत्र २।२।१०।
३. प्रशस्तपादभाष्य- पृ.३०;
४. वै. सू. १।१।७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ सामान्यपदार्थः—

सामान्यं द्विविधम्— परमपरं च।[१] तत्र परं सत्ता द्रव्य-गुण-कर्मसु 'सत् सत्' इत्यनुवृत्तिप्रत्ययकारणत्वात् सामान्यमेव। यत् उक्तम्—'सदिति यतो द्रव्य-गुण-कर्मसु सा सत्ता'[२]। तथा अपरं द्रव्यत्व-गुणत्व कर्मत्वादि। तत्र द्रव्यत्वं द्रव्येष्वेव। गुणत्वं गुणेष्वेव कर्मत्वं कर्मस्वेव। इति **सामान्यपदार्थः**।

अथ विशेषपदार्थः—

'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः'

नित्यद्रव्याण्याकाशकालदिगात्ममनांसि चतुर्विध परमाणवश्च। ते च अत्यंतव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वात् विशेषा एव। इति विशेषपदार्थः।

अथ समवायपदार्थः—अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहेति प्रत्ययहेतुः स समवायः[३]। इति समवायपदार्थः।

प्रमाणम्—वैशेषिकसिद्धान्ते प्रमाणं वक्तव्यमिति चेत्, तदुच्यते-लैङ्गिक-प्रत्यक्षे द्वे एव प्रमाणे, शेषप्रमाणानामत्रैवान्तर्भावात्।

तत्र लैङ्गिकं प्रमाणं दर्शयन्नाह— अस्येदं कार्यम्, अस्येदं कारणं सम्बन्धि एकार्थसमवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्।

अस्येदं कार्यम्, यथा विशिष्टो नदीपूरो वृष्टेः। अस्येदं कारणम्, यथा मेघोन्नतिर्वृष्टेरेव।

सम्बन्धि द्विविधम्—

संयोगि समवायि चेति। तत्र संयोगि, यथा धूमोऽग्नेः। समवायि यथा-विषाणं गोः। एकार्थसमवायि द्विविधम्-कार्यं कार्यान्तरस्य, कारणं कारणान्तरस्य चेति।

तत्र कार्यं कार्यान्तरस्य यथा— रूपं स्पर्शस्य। कारणं कारणान्तरस्य यथा-पाणिः पादस्य। विरोधि चतुर्विधम्—अभूतं भूतस्य, भूतमभूतस्य, अभूतमभूतस्य, भूतं भूतस्येति। तत्राभूतं वर्षकर्म भूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य लिंगम्। तथा भूतं वर्षकर्म अभूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य लिंगम्।

---

१. प्रशस्तपादभाष्य- पृ.१६४; २. वैशेषिकसूत्र- १।२।७; ३. प्रशस्तपादभाष्य. ६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभूतमभूतस्य यथा—अभूता श्यामता अभूतस्य घटाग्निसंयोगस्य लिंगम्। भूतं भूतस्य यथा-स्यन्दनकर्म सेतुभंगस्य। तथाऽपरमपि लिंगमुत्प्रेक्ष्यमनया दिशा, यथा—जलप्रसादोऽगस्त्युदयस्य, तथा चन्द्रोदय, समुद्रवृद्धेः कुमुदविकाशस्य चेत्यादि। तच्च 'अस्येदम्' इत्यादिना सूचितम्, यतो लिंगोपलक्षणायेदं सूत्रम्, न नियमप्रतिपादनायेति।

आह—प्रत्यक्षलक्षणं किम्? इति चेत्, तदाह-आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद् सुखदुःखे यन्निष्पद्यते तत्प्रत्यक्षम्, तदन्यत्[1]। अस्य व्याख्या- आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति। ततश्चतुष्टयसन्निकर्षाद् घट-रूपादिज्ञानम्, त्रयसन्नि-कर्षाच्छब्दे, द्वय सन्निकर्षात् सुखादिषु। एवं प्रत्यक्षमपि निर्दिष्टम्।

'इति वैशेषिकमतसमाप्तम्।'

जैनदर्शनम्

अथ जैनसिद्धान्तानुसारेण प्रमाण-प्रमेय-स्वरूपावधारणायेदमुपदिश्यते। आहयद्येवम्, ब्रूहि किं तत् प्रमाणं प्रमेयं च? इति।

अथ प्रमेयम्—

तत्र प्रमेयं जीवाऽजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।[2] तत्र सुखदुःख-ज्ञानादि-परिणामलक्षणो जीवः। विपरीतस्त्वजीवः। मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा-बन्ध-हेतवः। काय-वाङ्मनः कर्मयोगः। स आश्रवः। शुभःपुण्यस्य[3] विपरीतः पापस्य। आश्रवकार्यं बन्धः। आश्रवविपरीतः संवरः, संवरफलं निर्जरा। निर्जरा फलं मोक्ष-इत्येते सप्तपदार्थाः।

अथ प्रमाणं—

प्रत्यक्षं परोक्षं च। तत्र प्रत्यक्षं द्विविधं—मुख्यं सांव्यवहारिकं च। तत्र मुख्यमवधिमनःपर्ययकेवलभेदात् त्रिविधं। सांव्यवहारिकं तु मतिज्ञानमवग्रहेहावाय-धारणात्मकं तस्य लक्षणं साक्षात्कारित्वम्। परोक्षं—मतिस्मृति-संज्ञा-चिंताभिनि-बोधलक्षणम्। श्रुतं—अक्षरश्रुतज्ञानमनक्षरश्रुतज्ञानं चेति। तस्य लक्षणमसाक्षात् कारित्वम्।

समाप्तं सकलं जैनंसर्वमिदमिति

---

१. वै. सू.३।१।१३।

२. तत्त्वार्थसूत्र-१/४; ३. तत्त्वार्थसूत्र ८।१,६।१,६।२,६।३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांख्यदर्शनम्

अथ सांख्यमतप्रदर्शनायेदमारभ्यते—

'तत्र हि प्रकृतिः पुरुषः तत्संयोगश्च। प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थानं प्रकृतिः। तस्या एव वैषम्यावस्था परिणामः। यथा—तस्याः प्रकृतेः महानुत्पद्यते, महतोऽहंकारः, ततश्चाहंकारादेकादशेन्द्रियाणि—पंच बुद्धींद्रियाणि, पंचकर्मेन्द्रियाणि च, अपरं मनः, तत एवाहंकारात् तमोबहुलात् पञ्च तन्मात्राणि, तद्यथा-शब्द-तन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रूपतन्मात्रम्, रसतन्मात्रम्, गंधतन्मात्रमिति। एतेभ्यश्च यथाक्रमेण भूतानि आकाशवाय्वग्न्युदकभूमयः भूतसमुदायश्च शरीर-वृक्षादयः।

सत्त्वादिलक्षणं वक्तव्यमिति चेत्; तदुच्यते—प्रसाद-लाघव-प्रसवाऽभिष्वङ्गत्-वर्ष प्रीतयः कार्यं सत्त्वस्य, शोष-ताप-भेद-स्तम्भोद्वेगप्रद्वेषाः कार्यं रजसः, आवरण-सादन-वीभत्स-दैन्य-गौरवाणि तमसः कार्यम्।

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।।[१]

एवं तावत् प्रकृतिः स्थूल-सूक्ष्मरूपेण व्याख्याता।।

अथ पुरुषः किं रूपः? चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्। प्रकृति पुरुषयोश्चोपभोगार्थः सम्बन्धः संयोगः पङ्गवन्धयोरिव। उपभोगश्च शब्दाद्युपलम्भो गुणपुरुषान्तरोपलम्भश्च। आह— किमेकः पुरुषोऽनेको वा? आत्मा अनेक इत्याह। का पुनरत्र युक्तिः?

जन्ममरणकरणानां नियमदर्शनाद् धर्मादिषु च प्रवृत्तिः नानात्वाच्चानेकः पुरुषः, स आत्मोच्यते इति।

अथ प्रमाणं वक्तव्यम्—

तदुच्यते प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति। तत्र प्रत्यक्षम् 'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्।' श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-र्जिह्वा-घ्राणानां मनसाधिष्ठितानां शब्दादिविषयग्रहणे वर्तमानानां वृत्तिः विषयाकारः परिणामः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति उच्यते।

अथ अनुमानं— 'सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्। सम्बन्धा-दविनाभावलक्षणेन सम्बन्धेन लिंगात्, यथा धूमादग्निरत्रेति।

---

१. सांख्यकारिका-१३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप्तोपदेशः शब्दः। आह पुरुषो योः यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टः स तत्राप्तः। तेन उपदेशः क्रियते तद्यथा—स्वर्गेऽप्सरसः उत्तरकुरुषु भोगभूमयः' स आप्तोपदेशः। एवमेतानि प्रमाणानि शेषप्रमाणानामत्रैवान्तर्भावात्।

इति सांख्यमतं समाप्तम्

बौद्धदर्शनम्

अथ बौद्धमतप्रदर्शनायेदमाह—

तत्र हि पदार्थाः द्वादशायतनानि। तद्यथा—चक्षुरायतनं एवं रसनायतनादीनि यावत् मन-आयतनं तथा रसायतनं, रूपायतनं, गंधायतनं, स्पर्शायतनं, शब्दायतनं। धर्मायतनं अधर्मायतनं। च सुखदुःखादयः।

आह—किं पुनस्तेषां परिच्छेदहेतुः? प्रमाणमिति। तच्च द्विविधं—प्रत्यक्षमनुमानं च। तत्र 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्'[१]। कल्पना नाम-जात्यादियोजना। तत्र नामकल्पना डित्थ इति। जातिकल्पना गौरिति। गुणकल्पना शुक्ल इति। क्रिया-कल्पना पाचकः इति। द्रव्यकल्पना दण्डी छत्री विषाणीति। अनया कल्पनया रहितं प्रत्यक्षं प्रमाणमिति।

अथानुमानम्—त्रिरूपाल्लिङ्गलिङ्गिनि-ज्ञानमनुमानम्। रूपत्रयं च पक्षधर्मत्वं, सपक्षे सत्त्वं, विपक्षे चासत्त्वमेवेति। एतस्मात् त्रिविधाल्लिङ्गात् निश्चितात् लिङ्गिनि साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि ज्ञानमनुमानम्। इत्येवं द्वे एव प्रमाणे, शेष प्रमाणानामत्रैवान्तर्भावात्।

इति बौद्धमतं समाप्तम्

मीमांसकदर्शनम्

अथ मीमांसकसिद्धान्ते वेदपाठानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या।

यतश्चैवं ततस्तस्य निमित्तपरीक्षा। निमित्तं च चोदना। यतश्चोक्तम्—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।[२] चोदना च क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः। यथा—अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इत्यादि। तेन धर्म-उपलक्ष्यते, न पुनः प्रत्यक्षादिना।

आह—कथं प्रत्यक्षाद्यनिमित्तं? यतस्तदेवंविधम्-सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भकत्वात्,[३] तथा अनुमानमप्य-

---

१. न्यायबिन्दु १।३-६; २. जैमिनि सूत्र१।१।२; ३. जैमिनि सूत्र-१।१।४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निमित्तम्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् तस्येति। तथा उपमानमप्यनिमित्तमेव। यतस्तस्य गो गवयसादृश्यग्रहणे सति गौरेव प्रमेयः। तस्योपमानोपमेय प्रत्यक्षं च सति प्रवृत्तेः। तथार्थापत्तिरपि सा च द्विधा—श्रवणाद् दर्शनाच्चेति। श्रवणाद् यथा—पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते, अर्थादापन्नम्-रात्रौ भुंक्ते। अस्याश्च रात्रिभोजनवाक्यमेव प्रमेयमिति। दर्शनाद् यथा— भस्मादिविकारमुपलभ्य दाहशक्तिः वह्नेः प्रमीयते। तथा अपराण्यपि उदाहरणानि शास्त्रादुत्प्रेक्ष्य वक्तव्यानि। अभावोऽप्यनिमित्तम्, अविद्यमान (अभाव)-विषयत्वात्। तस्माच्चोदनालक्षण एव धर्मो नान्यलक्षण इति स्थितम्। तथा वर्णानामेव वाचकत्वम्— अर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वम्। तच्च बाह्य एवार्थे, नान्यत्र। यत उक्तम्— गकारौकारविसर्जनीया-इति भगवानुपवर्षः[१] वायोश्च वक्त्रा प्रेरितस्य श्रोतुः श्रोत्र-देशं प्राप्तस्य ये संयोगविभागास्तेऽभिव्यञ्जका गकारादिवर्णानाम्। ते चाभिव्यक्ता एव वाचकाः, नान्यथा अर्थानां बाधकानां नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। न च मीमांसकानां वर्णव्यतिरिक्ते पद-वाक्ये स्तः, तेष्वेव पदवाक्योपचारात्।

इति मीमांसक-मत-दिग्दर्शनमिति

बृहस्पति-(लोकायतिक) मतम्

अथ बृहस्पतिमतानुसारि प्रमाणप्रमेय स्वरूपनिरूपणाय समासेनेदमाह—

तत्र च प्रमेयनिरूपणायाह—पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि[२]। आह तत्त्वान्तरमप्यस्ति शरीरेन्द्रियाणि। न तत्त्वान्तरम्, यतः 'तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय-विषय-संज्ञा'। शरीरं भूतसमुदायः तथेन्द्रियाणी विषयाश्चेति। तस्माच्चत्वार्येव भूतानि। ज्ञानं तत्त्वान्तरमीति चेत्, तदपि न, यत् आह—'तेभ्यश्चैतन्यम्' तद्धर्मणा एवेत्यर्थः, मद्याङ्गानां मदशक्तिवत्। ननु चात्मा तत्त्वान्तरम्, तदप्यसम्बद्धमेव, यत आह सूत्रकारः—जल बुद्बुद्वज्जीवाः। तथा चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः इति। ननु च पुरुषार्थः कश्चित् तत्त्वान्तरं भविष्यति। तन्निवृत्त्यर्थमाह— 'प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्या प्रीतिः पुरुषार्थः। स च 'काम एव' नान्यो मोक्षादिः। ननु चान्य एव नान्यो मोक्षादिः। ननु चान्य एव कश्चिद् बुद्ध्याधारः पुरुषो भविष्यति। दृष्टहान्यदृष्टकल्पना-सम्भवान्नान्यः। तस्मात् स्थितमेतत्-'चत्वार्येव तत्त्वानि।'

---

१. शाबरभाष्य १.१।५पृ.१४; २. बृहस्पतिसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ प्रमाणम्—

तस्य सामान्यलक्षणम्— अनधिगतार्थपरिच्छित्तिः प्रमाणम्। उपायो वा सन्निकर्षेन्द्रियार्थादि। 'सन्निहिततदर्थे यथार्थविज्ञानं प्रत्यक्षम्'। प्रत्यक्षस्येदं लक्षणम्। तन्मते प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्।

ननु चोक्तम्—'असन्निहितार्थमनुमानम्'। तच्च परमतानुसारेण न स्वमतापेक्षयेति स्थितमिति लोकायतानां संक्षेपतः प्रमाणप्रमेयस्वरूपमिति।

इति लोकायतिकमतम्

।। इति सर्वमतसमुच्चयमिममद्भुतवाक्यनिबद्धं शिष्य प्रशिष्याणां विकाशार्थमनंतवीर्याचार्यश्चक्रे सिद्धांतप्रवेशकं [श्रीअनन्तवीर्याचार्यस्पत्ताः] इति सर्वमतं समाप्तम्।।

●

सन्दर्भग्रन्थ सूचिः

१. जैमिनिसूत्र — ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदरा
२. तत्त्वार्थसूत्र — आचार्य उमास्वामी श्री गणेशवर्णी दि. जैन संस्थान नरिया, वाराणसी।
३. न्यायबिन्दु — धर्मकीर्ति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
४. न्यायसूत्रम् — गौतम, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
५. प्रमेयरत्नमाला — लघुअनन्तवीर्याचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
६. प्रशस्तपादभाष्य — चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
७. वैशेषिकसूत्र — कणाद निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
८. बृहस्पति सूत्र (चार्वाक दर्शन)
९. शावरभाष्य — आनन्दाश्रम, पूना।
१०. सर्वदर्शन संग्रह — माधवाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वराणसी।
११. सांख्य कारिका — चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वारासी।
१२. सिद्धिविनिश्चय-आ. अकलंक, — टीका –अनंतवीर्य, भारतीयज्ञानपीठ, काशी।
१३. षड्दर्शन समुच्चय — आ. हरिभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्टम्

नमः सर्वज्ञाय

सर्वान् प्रत्यर्हत्-आप्तत्वसिद्धिः।

अनेकांतसिद्धिः। स्मृतिर्कयोः प्रामाण्यम् योगमीमांसकसांख्यचार्वाकान् प्रति ज्ञानप्रामाण्यसिद्धिः।

शौद्धोदनिशिष्यान् उदिश्य सविकल्पकसिद्धिः।

स्वसंवेदनेन्द्रियमनोयोगिभेदाच्चतुर्विधप्रत्यक्षक्षेपः। सुगताप्तनिराकृतिः।

क्षणभंगः। निरवयववस्तुन्यपोहः, अवयविसिद्धिः। तथा शून्य-विभ्रम-विज्ञानाद्वैतनिराकरणानि।

प्रतीत्यसमुत्पादविच्छेदः।

अहेतुकाभावाः असत्समुत्पत्तिविप्रतिपत्तिस्वापादौवेदनसद्भवः।

अनभिलाषभाषा प्रतिष्ठा। वाचां वस्तुविषयत्वं पौद्गलिकावरणसिद्धिः।

रागादीनां दोषत्वं, प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयनिवारणं, प्रत्यभिज्ञा-प्रामाण्यम्। अपोहव्यपोहः।

सम्बन्धद्वयवैधुर्यम्, हेतुत्रयत्रासनं, चरमक्षणक्षयः, प्रदीपनिर्वाणनिवारणम्।

अर्थस्य ज्ञानकारणत्व विधरणा ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः।

सर्वज्ञस्य वक्तृत्वसिद्धिः। प्रमेयद्वित्वात् प्रमाणद्वित्वनिवृत्तिः।

तथा मीमांसकताथागतयोः सर्वसर्वज्ञतासिद्धिः।

मीमांसकानाशंक्य आत्मनः प्रत्यक्षत्वम्। करणज्ञानस्य वेदस्य पौरुषेयत्वं स्वतः प्रामाण्य-भंगः। एकनित्यसर्वगतामूर्त्तवस्त्वन्यनिराकरणम्।

तथाविधसामान्यवस्तु च। हिंसायाः श्रेयःसाधनत्वप्रतिषेधः।

भट्टमते प्रमाणषट्कस्य निराकरणम्। प्रभाकराभिप्रायप्रमाणपंचकस्य च।

वेदांतवादिषु सत्ताद्वैतनिराकरणम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविद्याविच्छेदः, विज्ञानाद्वैतविभ्रमैकांतशून्यतैकांततत्त्वोपप्लवः ब्रह्माद्वैत-शब्दाद्वैतवादिनः प्रति सामान्येन प्रमाणसाधनम्।

चार्वाकं प्रति अनुमानस्य प्रामाण्यम्।

सौगतवैशेषिकौ प्रत्यागमस्य सांख्यं प्रत्युपमानस्य, नैयायिकं प्रत्यर्थापत्तेः प्रभाकरं प्रत्यभावस्य च प्रत्यभिज्ञारूपतया सौगत-सांख्य-यौग-मीमांसकान् प्रति आत्मनः स्वदेहप्रमितिसिद्धिः।

मीमांसकयोगयोः शब्दस्यापौद्गलिकत्वसिद्धिः। योगे शब्दस्य द्रव्यत्वसिद्धिः।

ज्ञानस्य वक्तुं ज्ञानान्तरवेद्यता निराकृतिः।

जगतो बुद्ध्यविकरणकारणतानिराकरणम्।

ईश्वरस्य नित्यप्रयत्नज्ञानसिसृक्षाक्षतिः।

इन्द्रियजज्ञानपक्षे सर्वज्ञत्वक्षतिः। गुणगुण्यादिभेदनिराकरणं, धर्माधर्मा-योरात्मगुणत्वव्युदासः। समवायनिराकरणं व्यक्तिसर्वगतसामान्यनिषेधः। स्पर्शन-रसन-घ्राणचक्षुषां प्रत्येकमनिलसलिलेलानलारंभस्तंभः।

श्रोत्रस्य नाभसत्त्वनिषेधः। तमोद्रव्यव्यवस्थितिः। चक्षुषः प्राप्यकारित्व-प्रतिक्षेपः। चेतनासमवायादात्मनश्चैतन्यप्रच्युतिः। विशेषगुणनिवृत्तिलक्षण-मोक्षविक्षेपः। निरूपाभावाभावः। चार्वाकान् प्रति आत्मनो अनादिनवतत्त्वसिद्धिः।

पृथिव्याद्यारब्धत्ववैधुर्यं च, पुण्यपापसिद्धिः, ब्रह्माद्वैतवादिनश्च प्रति, सांख्यं प्रति प्रकृतिनिराकरणं प्रकृतिपुरुषपरिज्ञानमात्रान्मोक्षक्षतिः।

सृष्टिसंहारप्रक्रियानिवृत्तिः, आत्मनो ज्ञातृत्वकर्तृत्वगुणत्वसिद्धिः मुक्तौ ज्ञानादिसद्भावः - अभावसिद्धिः। भावैकान्तनिराकरणं, उत्पत्तिकार्यत्वसिद्धिः इन्द्रियाणां विषयाकारधारित्वव्यपोहः। योगान् प्रति कथात्रयभंगः, षोडशपदार्थ-प्रतिषेधः, षट्पदार्थप्रतिषेधः। छलादिनिग्रहस्थाननिल्लोंठनम् तथा कांश्चित् प्रति स्त्रीनिर्वाण केवलिभुक्तिनिराकरणे।

एवं स्थूलवादा लिखिताः सूक्ष्मास्तु भूयांसः संति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिरि धम्मराजा क्यच्वा विरचितो

सद्दबिन्दु

अभिनवटीका सहिता

सम्पादको

डॉ. सुरेन्द्र कुमार

उपाचार्य एवं अध्यक्ष

पालि-अनुभाग, के.उ.ति.शि.सं., सारनाथ, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो शब्द

पालि व्याकरण परम्परा में मोग्गल्लानव्याकरण, कच्चायन-व्याकरण और सद्दनीति, इन तीन ग्रन्थ-रत्नों का नाम सबसे पहले लिया जाता है। बाद के आचार्यों ने साहित्य को समृद्ध करने एवं सूत्रों को बोधगम्य बनाने के लिए टीका ग्रन्थ आदि की रचना की। सींहल, बर्मा, स्याम आदि बौद्ध देशों में आचार्यों ने अनेक टीकायें, अनुटीकायें लिखीं। ये ग्रन्थ विद्वानों के साथ-साथ सामान्य जनों के लिए भी अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुए। आज भी इनका महत्त्व सर्वविदित है।

भारतवर्ष में इस परम्परा का निर्वहन नहीं हुआ। नई रचना तो क्या होती, उन बौद्ध देशों की लिपियों में उपलब्ध ग्रन्थों का देवनागरी संस्करण भी अभी तक नही हो पाया है। इस प्रकार की उदासीनता से बौद्ध विद्या का विशेष कर पालि साहित्य का कितना उत्कर्ष होगा, यह विद्वाद्जन समझ सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'सद्दबिन्दु' में बीस कारिकायें हैं। जिसके अर्न्तगत, सन्धि, नाम, कारक, समास, तद्धित, आख्यात एवं कित प्रकरण की चर्चा उपलब्ध है। इसे 'पेगन' (वर्मा) के राजा 'क्य-चवा' ने बारह सौ पचास ईस्वी[१] के आस-पास राजमहल के स्त्रियों के प्रयोग हेतु बनाया था। 'गन्धवंस'[२] नामक ग्रन्थ से भी ऐसी ही सूचना प्राप्त होती है। पुनः पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में स्याम देश के बौद्ध विद्वान सद्धम्मकीर्ति महाफुस्सदेव द्वारा उक्त 'ग्रन्थसारो नाम सद्दबिन्दु विनिच्छयो' नाम से इस ग्रन्थ पर एक अनुटीका की रचना की गई। ये टीका एवं अनुटीका ग्रन्थ कच्चायन व्याकरण पर आधारित हैं।

प्रस्तुत संस्करण का आधार ग्रन्थ जर्नल आफ पालि टेक्स्ट सोसाइटी लन्दन है। ग्रन्थ का पाठ यत्र-तत्र बहुत ही अस्पष्ट एवं भ्रष्ट है। इतना है कि

---

१. 'कच्चायन व्याकरण' की भूमिका में प्रो. तिवारी जी ने इसे १५ वीं शताब्दी के मध्य का ग्रन्थ बताया है।

२. 'क्यच्वा-रञ्ञो सद्दबिन्दु नाम पकरणं..... अकासि। गन्धवंश पृ.६४-४। तथा सद्दबिन्दु पकरणं.....अत्तनों मतिया क्यच्वा नाम रञ्ञा कता-पृ.६३-२८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह ग्रन्थ जिज्ञासु पाठकों को देवनागरी लिपि में प्राप्त हो सकें। सम्पादन के क्रम में प्रयोग किए गये अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ ग्रन्थ-गत सूत्रों का निर्देश करने में प्रो.लक्ष्मी नारायण तिवारी जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ कच्चायन व्याकरण का बहुत सहयोग प्राप्त हुआ है। जितना सन्दर्भ उपलब्ध हो सका उसके आधार पर ग्रन्थ को सुस्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। शेष का पाठ यथावत है। प्रो. ब्रह्मदेव नाराण शर्मा जी की प्रेरणा से यह कार्य सम्पादित हो सका है। मैं सभी आदरणीय विद्वानों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

सुरेन्द्र कुमार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स

सद्दबिन्दु

यस्स ञेय्येसु धम्मेसु नाणुमत्तं प्यवेदितं ।
नत्वा सधम्मसंघं तं सद्दबिन्दुं समारभे ।।१।।

सन्धियो

कादीरिता नव संख्या कमेन तादि यादि च ।
पादयो पञ्च संख्या ति सुञ्ञा नाम सरञ्ञना ।।२
सरे हेव सरा पुब्बा लुत्ता वाची[१] परा[२] रमा[३] ।
ब्यञ्जना चागमा वाची दीघरस्सादिसम्भवा ।।३।।
काकसेन आगतोसि[४] केनिद्धिं अतिदिस्सति ।
अराजाख्वग्गि मेसिनं सोतुक मेघयित्थियो ।।४।।

नामं

बुद्धो पुमा युवा सन्तो राजा ब्रह्मा सखा च सा ।
यतादि देहि जन्तु च सत्थु पिता भिभू विदू ।।५।।
कञ्ञा-म्मा-रत्ति-त्थि-पोक्खरणी नध्यरू[५] मातु-भू ।
नपुंसके तियन्ता व पद-कम्म-दधायुतो ।।६।।
गहिताग्गहणेनेत्थ सुद्धे स्याध्यन्तका पुमे ।।
विमला[६] होन्ति छन्तेहि थ्यँ[७] पञ्चन्तेहि दाधिका[८]
नपुंसके पयोगा तु जनका होन्ति त्यन्ततो ।।७।।

---

१. चतुसट्ठि (टी.);
२. सरा (टी)
३. द्विपञ्ञास (टी);
४. असि (टी)
५. उजु (सद्दनिस्सय) सो (टी);
६. तिसतचतुपञ्ञास
७. थियं (न्य);
८ .अट्ठनवसतं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पधानानुगता सब्ब नाम-समास-तद्धिता
अतिलिङ्गा निपातादि ततो लुत्ता व स्यादयो
सुत्तानुरूपतो सिद्धा गो त्वन्तो थ पनादयो ।।८।।

कारकं

छ कारके[१] च सामिस्मिं समासो होन्ति सम्भवा ।
तद्धितो कत्तु कम्म सम्पदानोकास सामीसु ।।९।।
तिसाधनम्हि[२] आख्यातो कितको सत्त साधने ।
सब्बत्थ पठमा वुत्ते अवुत्ते दुतियादयो ।।१०।।
मनसा मुनिनो वुत्या वने बुद्धेन वण्णिते ।
वट्टाभीतो विवट्टत्थं भिक्खु भावेति भावनं ।।११।।

समासो

रासि[३] द्विप्पदका[४] द्वन्दा लिङ्गेन वचनेन च ।
लुत्ता तुल्याधिकरणे[५] बहुब्बीहि तु खेपयु ।।१२।।
तप्पुरिसा च खेपोयादया[६] च कम्मधारया ।
दिगवो चाब्यनाहारा[७] एते सब्बावहारिता ।।१३।।

तद्धितं

कच्चादितो पि एकम्हा सद्दतो नियमं विना ।
नेकत्थे सति होन्तेव सब्बे तद्धित पच्चया ।।१४।।

आख्यातं

कत्तरि नाञ्ञथा कम्मे तथा भावे तु मेरया ।
सब्बे ते पञ्चधातुम्हि संखेपेन मरूमयं[९] ।।१५।।

---

१. छ कारकेसु (टी);
२. स्मिं (टी)
३. द्वासत्तति;
४. द्विपदिका (टी)
५. ०आ(टी);
६. खेमयु (टी) द्वादससतं।
७. द्वेकूनवीसति;
८. अट्ठवीसति;
९. मरु०(टी)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गमुम्हि[१] तिगुणा एत्तो सम्भवा अञ्ञधातुसु ।
अनन्ता व पयोगा ते आदेसपच्चयादिहि[२] ।।१६।।

कितकं

कितादिपच्चया सब्बे एकम्हा अपि धातुतो ।
सियुं नुरूपतो सत्त साधने सति पायतो ।।१७।।
इमिना किञ्चि लेसेन सक्का ञातुं जिनागमे ।
पयोगा ञाणिना सिन्धु[३] रसो वे केन बिन्दुना ।।१८।।
रम्मं सीधं पवेसाय पुरं पिटकसञ्ञितं[४] ।
मग्गोजुमग्गतं मग्गं सद्दारञ्ञे विसोधितो ।।१९।।
धम्मेन सोब्भिपतिना[५] परुत्थनिको तेनेव[६] ।
किञ्चि जलितो पदीपो कच्चायनुत्तरतने
चित्तगब्भकोने[७] धम्म-राजा[८] गुरुनामकेन ।।२०।।

सद्दबिन्दु पकरणं समत्तं ।

●

---

१. गेमुमि (टी);
२. पच्चया पि हि (टी)
३. सिन्दु (टी);
४. सो (टी). °संखातुं (पी)
५. सोब्बि-(पी) (टी) नत्थि;
६. परत्थनिपकेन व-(न्य)
७. °गम्भ (पी) (टी) नत्थि;
८. नत्थि (टी) राज-(पी)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स

सद्दबिन्दु अभिनव टीका
गन्थसारो नाम सद्दबिन्दु विनिच्छयो

पणाम गाथा

नमिस्सित्वान सम्बुद्धं तिलोकं पि महादयं[१]
धम्मञ्च विमलं संघं पञ्ञक्खेत्तं अनुत्तरं
सद्दत्थं इच्छन्तेन तिक्खपञ्ञविसारदा[२]
भिक्खुना ञाणकित्तेन परिसुद्ध गुणेसिना
याचितो हं करिस्सामि सद्दबिन्दु विनिच्छयं।
पोराणेहि कतानेका सन्ति या पन वण्णना
न ताहि सक्का सुबुद्धं अतिसंखेप-अत्थतो
तस्मा नं वण्णयिस्सामि सब्बे सुणाथ साधवो।
पच्छा तब्बिनिच्छयञ्च साधु गण्हन्तु तत्थिका
एवं समाविचारेत्वा युत्तं गण्हन्तु पण्डिता
अयुत्तं पन भड्डेन्तु[३] मा च इस्सा भवन्तु ते ति।

रतनत्तय वण्णना

१. परमसुखुमनयसमन्नागतं सकसमयसमयन्तरगहनविग्गाहणसमत्थं सुविमलविपुलपञ्ञावेय्यत्तियजननं[४] सद्दलक्खणसहितं गाथापादसंखातं वरजनानं पस्सने अखिलनयनसदिसं **सद्दबिन्दुपकरणं** आरभन्तो पठमं ताव सब्बत्थ भयनीवरणसमत्थं रतनत्तयपणामं दस्सेतुं यस्स ञेय्येसू धम्मेसू त्यादिमाह।

एत्थ हि सम्मासम्बुद्धं सधम्मसंघं नत्वा ति इमिना रतनत्तयपणामो वुत्तो। तत्थ तत्थ रतनत्तयवन्दनं ताव बहुधा वित्थारेन्ति। विसेसतो पन रोगन्तराय वूपसमत्थं पत्थेन्ति। वुत्तञ्हि—

---

१. फ-लोकखीण महोदयं;
२. फ-०दं।
३. फ-०ड्डेन्तु;
४. न्य-ञेय्यत्थजननं?।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निपच्चकारस्सेतस्स कतस्स रतनत्तये ।
आनुभावेन सोसेत्वा अन्तराये असेसतो ।।[१]

रतनत्तयवन्दनं हि अत्थतो वन्दनक्रियाभिनिप्फादिका कुसलचेतना। सा हि वन्दितब्बवन्दकानं खेत्तज्झासयसम्पदादिताय च दिट्ठधम्मवेदनीय भूता पुराणकस्स कम्मस्स बलानुप्पदानवसेन पुरिमकम्मनिब्बत्तितस्स विपाकसन्तानस्स रोगन्तरायकरानि उपपीलको पच्छेदककम्मानि विनासेत्वा तं निदानं रोगाद'-उपद्दवसंखातानं रोगन्तरायानं अनभिनिब्बत्तितं करोति। तस्मा रतनत्तयवन्दनकरणं अत्तना समारभितब्बस्स सत्थस्स अनन्तरायेन सम्पज्जनत्थं बालकुलपुत्तानं वन्दना पुब्बंगमाय पटिपत्तिया अनन्तरायेन उग्गहणादि सम्पज्जनत्थञ्च। अयं एत्थ समुदायो,अयं पनावयवत्थो। सम्मासम्बुद्धं सधम्मसंघं नत्वा सद्दबिन्दुपकरणं समारभेति सम्बन्धो।

यस्सा ति पुग्गलनिदस्सनं एतं, ञेय्येसु धम्मेसू ति पञ्ञाविसयनिदस्सनं एतं, नाणुत्तमं ति भवनिदस्सनं एतं, अवेदितन्ति क्रियानिदस्सनं एतं, नत्वा ति कत्तुनिदस्सनं एतं, सधम्मसंघं ति कम्मनिदस्सनं एतं, **सद्दबिन्दु** ति सञ्ञानिदस्सनं एतं, समारभे ति आख्यातक्रियानिदस्सनं एतं। यस्सा ति येन सम्बुद्धेन अवेदितन्ति योजना। ञेय्येसु धम्मेसू ति पद द्वयं निधारनसमुदाये येव अनुमत्तनिधारणियं। तत्थ ञेय्येसू ति ञातब्बं ञेय्यं। सभावलक्खणर-सपच्चुपट्ठानपदट्ठान संखातं धम्मं गम्भीरसागरसदिसं दुब्बिञ्ञेय्यं बालपुथुज्जनेहि न सक्का जानितुं, धम्मस्स गम्भीरसभावत्ता। तं हि निरवसेसतो सब्बञ्ञुतञाणस्स आरम्मणं एव होति, न अनतिक्कमवसेन पवत्तति, तस्मा-यावतं ञाणं तावतकं ञेय्यं, यावतकं ञेय्यं तावतकं ञाणं ति (?) वुत्तं। तं पन वचनं उदाहटं गन्था यामकता[२] भवेय्य, अथ पन समन्तपासादिकाविनयट्ठकथायं वित्थारितं एव। तं पन ओलोकेत्वा यथा इच्छितं एव गहेतब्बं।

सभावं धारेन्ती ति धम्मो। परमत्थसभावा पच्चयेहि धारीयन्ती ति **धम्मा**। धारीयन्ति यथा सभावतो ति **धम्मो**। अथ वा पापके धम्मे धुनाति विद्धंसेती ति **धम्मो**, सलक्खणं धारेती ति **धम्मो**, धारीयति पण्डितेहि न बालेही ति वा **धम्मो**। तेसु ञेय्या च ते धम्मा चा ति **ञेय्यधम्मा**।

तेसु अणति पण्णती ति अणु, मानेत्तब्बं मत्तं, अणुकञ्च तं मत्तञ्चा ति **अणुमत्तं**, अणुमत्तंपमाणं ये सन्ते ति अणुमत्ता, अणुकं मत्तं ति वतब्बे **अणुमत्त**

---

१. अट्ठ॰पृ॰७; २. गन्थनियामकथा?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्ति वुत्तं। कस्मा' अणुकथूलानी' ति पालिया न समेती ति। सच्चं एतं, गाथाबन्धछन्दानुरक्खनत्थं ककारस्स लोपो दट्ठब्बो।

अपी ति उपसग्गो, अपि-सद्दो द्विवाचको गरहत्थे रुचिअत्थे ति। वुत्तं हि- गरहत्थे रुचि-अत्थे[१],अपिसद्दो द्विवाचको ति (?)। तेसु रुचि-अत्थो अधिप्पेतो। अयं पन अम्हाकं खन्ति। केचि पन गरहत्थे इच्छन्ति। तं न युज्जति। कस्मा? 'यो कप्पकोटिही पी, *ति न पमेतत्ता[२] अपि सद्दो' रुचि अत्थे आचरियेन इच्छितो। तं पन अम्हाकं खन्ति एव समेति। अथ पन अञ्ञथा इच्छमाना वीमंसित्वा गहेतब्बा।

विदितब्बं वेदितं, ञाणं विदति जानाति एताया ति वा वेदि, विदञाणे तपच्चयं। न वेदि अवेदि, न' त्थि वेदि एताया ति अवेदि। नमितुना ति नत्वा आचरियो।

सतं धम्मो सद्धम्मो, हनती ति संघो, समग्गं कम्मं समुपगच्छती ति वा संघो। सद्धम्मो च सो संघो चा ति सद्धम्मसंघो। तं ति सम्मासम्बुद्धं।

तत्थ धम्म-सद्दो पन सामञ्ञवचनो धम्मो सभावो परियत्ती ति आदीसु पवत्तति। तेसु पन सभावपरियत्ति इधाधिप्पेतो। सभावपरियत्ति नाम किन्ति चे, मग्गफलनिब्बानसंखातो सभावधम्मो नाम, तेपिटकं बुद्धवचनं परियत्ति धम्मो नामा ति परिहारवचनं कातब्बं।

संघं-सद्दो पन सामञ्ञवचनो। चतुवग्गपञ्चवग्गदसवग्गादिके तथा मग्गट्ठे च फलट्ठे च संघ सद्दो पवत्ती ति चोदना। तेसु पन मग्गट्ठे च फलट्ठे चा[३] ति वेदितब्बा। वुत्तं हि—

मग्गट्ठा च फलट्ठा च अट्ठेवारियपुग्गला,
आदितो सत्त सेखा च असेखा अरहा परो। ति (?)

ञेय्येसू ति विसेसनं, धम्मेसू ति विसेस्यं। विसेसनं नाम बहुतरं नवतिंस विसेसनं तुल्याधिकरणविसेसनं, भिन्नाधिकरणविसेसनं; तुल्याधिकरणविसेसितब्बं, भिन्नाधिकरणविसेसितब्बं, कम्मविसेसितब्बं, कत्तुविसेसितब्बं, करण विसेसितब्बं, सम्पदानविसेसितब्बं, अपादानविसेसितब्बं, अधिकरणविसेसितब्बं, आधारविसेसितब्बं, ओकासविसेसितब्बं, पदेसविसेसितब्बं, भिन्नविसेसितब्बं, अभिन्नविसेसितब्बं, भिन्नाभिन्न विसेसितब्बं, अनुभूतविसेसितब्बं, जाति

---

१. न्य-सो टी-रुचि;　　२. पनेत्थ?;　　३. तु. अट्ठ. पृ-४८४।

* यो कप्पकोटीहि पि अप्पमेय्यं,
कालं करोन्तो अति दुक्करानि।
खेदं गतो लोकहिताय नाथो,
नमो महाकारुणिकस्स तस्स।। सम.पा. I, पृ-३

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

विसेसितब्बं, क्रियाविसेसितब्बं, गुणविसेसितब्बं, दब्बविसेसितब्बं, नाम विसेसितब्बं, भिन्नजातिविसेसितब्बं, अभिन्नजातिविसेसितब्बं, भिन्नाभिन्नजाति-विसेसितब्बं, भिन्नक्रियाविसेसितब्बं, अभिन्नक्रियाविसेसितब्बं, (भिन्नाभिन्नक्रिया विसेसितब्बं, भिन्नगुणविसेसितब्बं) अभिन्नगुणविसेसितब्बं, भिन्नाभिन्नगुणविसेसितब्बं भिन्नदब्बविसेसितब्बं, अभिन्नदब्बविसेसितब्बं, भिन्नाभिन्नदब्बविसेसितब्बं, भिन्ननाम-विसेसितब्बं, अभिन्ननामविसेसितब्बं, भिन्नाभिन्ननामविसेसितब्बं, ति चोदना। तुल्याधिकरणविसेसितब्बं ति कथं तुल्याधिकरण विसेसितब्बन्ति विञ्ञायती ति। अभिन्नपवत्तन्ति निमित्तासद्दा एकस्मिं वत्थुनिपवत्ता तुल्याधिकरणा नामा ति।

यस्सेकत्तविभत्तितं[१] एक संख्याक्रिया पि च।
समानलिङ्गता चेव तुल्याधिकरणं भवे ति ।।[२]

वचनतो, अथ वा भिन्नविसेसनं, दब्बविसेसनं, गुणविसेसनन्ति। होति चेत्थ:

यस्मा हि या भेदञ्ञेय्यं होति तब्बिसेसनं
तञ्च जाति-गुण-क्रिया दब्ब-नाम न्ति नेकधा ति (?) ।।

तस्स विसेसनं तब्बिसेसनं, तस्स विसेस्यभूतस्स अत्थस्स विसेसनं। किं अत्था ति वित्थारेन सद्दसत्थन्तरे येव अतिबहूतरा होन्ति। सचे इध पन वित्थारेन गन्थभीरुका भवेय्य दन्धपञ्ञो, तं नवतिंस विसेसनं नाम बहुतरं किं पयोजनन्ति सन्धाय वुत्तन्ति।

अहं ति पदं समारभे ति कत्ता। कत्ता च नाम पञ्चविधा: संयकत्ता, हेतु कत्ता, कम्म कत्ता, वुत्तकत्ता, अवुत्तकत्ता ति पञ्चधा कत्तुकारणा। तेसं पन भेदतो सयं कत्ता नाम 'सुद्धो पुञ्ञं करोति' त्यादि, हेतु कत्ता नाम 'पुरिसो पुरिसं कम्मं कारेती' त्यादि, कम्म कत्ता नाम 'सयं एव कोट्ठाभिज्जते' त्यादि, वुत्त कत्ता नाम 'पुरिसो रथं करोति' त्यादि, अवुत्तकत्ता नाम 'सूदेन पचते ओदनो' त्यादि। वुत्तं हि—

सयं कत्ता हेतुकत्ता-प-कत्ता पञ्चविधो होती[३] ति (?) तेसु वुत्तकत्ता इधाधिपेत्तो।

कम्मं पन दुविधं वुत्तावुत्तभेदेन। वुत्तकम्मं नाम 'अहिना दट्ठो नरो' त्यादि, अवुत्तकम्मं नाम 'रथं करोति पुरिसो' त्यादि। द्वीसु अवुत्तकम्मं इधाधिप्पेतं। कस्मा

---

१. टी-य सो कता०; २. कच्च० भे० ९२; ३. न्य-नुसारेन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ति चे, दुतिया विभत्तिदस्सनतो। पुन कम्मं नाम तिविधं निप्फत्तिविकतिपत्ति भेदेन। निप्फत्तिकम्मं नाम 'कुटिं करोती' त्यादि, विकतिकम्मं नाम 'कट्ठं झापेती' त्यादि, पत्तिकम्मं नाम 'रूपं पस्सती' त्यादि। तेसु पन पत्तिकम्मं इधाधिप्पेतं। दुविधं पन पत्तिकम्मं कायचित्त भेदेन। काय पत्तिकम्मं नाम 'बुद्धं वन्देती' त्यादि, चित्त पत्तिकम्मं नाम 'आदिच्चं नमस्सती' त्यादि। द्वीसु काय पत्तिकम्मं[१] इधाधिप्पेतं। इच्छितानिच्छितनेविच्छितनानिच्छितकम्म भेदेन तिविधं। 'भत्तं भुञ्जती' त्यादि इच्छितकम्मं, 'विसं गिलती' त्यादि अनिच्छितकम्मं; नेविच्छितनानिच्छितकम्मं नाम 'गामं गच्छन्तो रुक्खमूलं पाविसी' त्यादि। तेसु इच्छितकम्मं गहेतब्बं एव[२]।

कस्मा ति चे, नत्वा ति चे, पुब्बकालकिरियाय कथं जानितब्बं ति। तं हि—

एककत्ता क्रियानेका चेतरं पुब्बकालतं
भावेत्वा ति अमुकस्मिं तं तदत्थक्रिया मता[३] ति ।। (?)

नत्वा पुब्बकालक्रिया ताव पच्छा समारभे ति पदं सन्धाय वुत्तत्ता पुब्बकालक्रिया युत्तं एव होति। नमु धातु, नत्वा ति चेत्थ त्वा-पच्चयो पुब्बकालादीसु चतूसु अत्थेसु दिस्सति। पुब्बकालो इध दट्ठब्बो रतनत्तये। कस्मा ति चे। अपयुत्तितो। सचे हि अपरकालस्मिं गन्थकरणतो पच्छा नमस्सनं सिया। सचे समान कालस्मिं[४] एकक्खणे क्रियाद्वयं भवेय्य। सचे हेतुम्हि, नमस्सन्तो येव गन्थकरणं।

नो करुणाय। अयं आचरियो हि बहुधा पकारेन गन्थे पस्सितुं असक्कोन्ते दन्धपञ्ञे ञत्वा दया उपज्जति: कथं पन इमे पुग्गला सद्दसत्थछेका सियुं; सद्दसत्था हि बहुतरा, इमे पन मन्दपञ्ञा ति। तस्मा दया चे ति इदं सत्थं करोति, नो नमस्सनतो। नमस्सनं पन किं पयोजनन्ति अन्तराय विनासनत्थन्ति। ननु वोचुम्हा—वन्दनं पन विना सत्थस्स पकरणस्स असिज्झनत्थं करोति, सत्थं पन निप्पयोजनं होति। तथा हि वुत्तं—

विना हि मंगलं सेट्ठं पदुमसमिताचरियो।
करोति किर घाटेति सीहो तं वधित्वा गतो[५] ति ।।(?)

---

१. टी-सम्पत्ति. २. द्र. कच्च.भे. ५९,६३।
३. न्य-नुसारेन; ४. न्य-सो; टी.-समानं; ५. न्य-नुसारेन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिविय दिस्सति। सीहो ति कालसीहो इधाधिप्पेतो। त्वा-पच्चयो तीसु साधनेसु कत्तुसाधनं इधाधिप्पेतं, न इतरद्वयं। कस्मा ति चे। अत्थयुत्तितो। सचे हि कम्म साधनवाचको सिया, तं सम्मासम्बुद्धन्ती त्यादि पदेहि सम्बन्धो न युज्जति। कस्मा ति चे। सम्मासम्बुद्धं त्यादि पदानं अवुत्तकम्मत्ता। कथं विञ्ञायती ति चोदना। दिट्ठदुतिया विभत्तितो। दुतिया विभत्ति च अवुत्तो व होति, कथं विञ्ञायती ति। 'कम्मनि दुतियाय क्तो[१]' ति वचनतो, '**वुत्ते तु पठमा होति, अवुत्ते दुतियादयो**[२]' ति (?) वचनतो, सचे भावसाधनं सिया, तदा कम्मनि सम्बन्धनीयं न भवेय्य। सचे कम्मं नो इच्छेय्य, तदा छट्ठी कम्मं एव भवति। कत्तुसाधनं हि युत्तं होति।

अथ खो समारभे ति कत्तुवाचकेन क्रियापदेन समानाधिकरण भावतो तस्सेव विसेसन भावतो च कतु वाचको विजानितब्बो। ननु सामञ्ञं विसेस्यं भेदनं विसेसनं ति (?) वचनतो समारभे ति पदं विसेसनं ति । नत्वा ति हि पदस्स साधनत्तय वाचकत्ता पुब्बकालादि चतुन्नं अत्थानं वाचकत्ता सामञ्ञं जातं। समारभे ति पदस्स कत्तवत्थे येव वाचकत्ता एकन्तपरकालिकत्ता च भेदनं जातं ति। सच्चं एतं, तथा पि एवं इध न दट्ठब्बं। इमा पन समारभे ति पदं विसेस्यं, समारभे ति वुत्ते भुत्वा सयित्वा वत्वा वा यं किञ्चि सब्बकम्मं कत्वा समारभे ति अनियमं होति। नत्वा ति वुत्ते पन सेसं सब्बं पुब्बक्रियं निवन्तेती ति। त्वं तेन भवियमाना क्रियाकामं विय यथा वा भूता। तथा पि अपधानं होती ति वुत्तं।

अनुमत्तं ति पदं पच्चत्तवचनं कम्मानि होति। कथं विञ्ञायती ति चे, यस्सा ति पदं ततिया विभत्तियं एव भजति। यस्सा ति येन सम्मासम्बुद्धेना ति वुत्तत्ता पठमा कम्मनि होती ति। तथा हि वुत्तं:—

यदा च पठम कत्ता दुतिया कम्मं एव च।
यदा च ततिय कत्ता पठमा होति कम्मनी ति ।।(?)

इध पन पच्चत्तवचनं कम्मानि येव होती ति वेदितब्बं। सेसं पन वत्तब्बं न वित्थारेम। सचे वित्थारे गन्थ गरुका भवेय्य तं सद्दसत्थन्तरे येव बहुतरं। वित्थारेत्वा इध पन न वक्खामि, तत्थिके हि गवेसेत्वा गहेतब्बा ति।

तत्थ सप्पति उच्चारीयती ति सद्दो, सद्दीयति कथीयती ति वा सद्दो, सप्पति सोतविञ्ञाणारम्मणभावं आपज्जती ति वा सद्दो, उच्चारीयती ति वा सद्दो।

---

१. कच्च.६२८; २. न्य-नुसारेन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उतुज सद्दो चित्तजो च, तत्थ पच्छिमो इधाधिप्पेतो। कस्मा? सो व मुनिन्दमुखम्बुजसम्भूतो उपादायुपसंखातो सद्दो। सप्प-धातु उच्चारणे ति हि धातु 'रञ्जुदादीहि' ध-दि-द्द किरा क्वचि ज-द-लोपो[१] चा' ति सुत्तेन द पच्चयं कत्वा 'परद्वेभावो ठाने'[२] त्यनेन द-कारस्स द्वेभावं कत्वा रूपसिद्धि वेदितब्बा।

बिन्दति पग्घरती ति बिन्दुः बिन्दपग्घरणे ति हि धातु। 'विद-अन्ते ऊ[३] ति ऊ पच्चयं कत्वा क्वचादि मज्झन्तरादि'[४] सुत्तेन ऊ पच्चयस्स रस्सं कत्वा रूपसिद्धि। बिन्दु विया ति बिन्दु। अथ वा सद्दानं कच्चायनादिनं बिन्दु सद्दबिन्दु, सद्देसु वा कच्चायनादिसु बिन्दु सद्दबिन्दु, सद्दञ्च तं बिन्दु चा ति सद्दबिन्दु। तेसु पठमो तप्पुरिसद्वयं एव लभति। कस्मा ति चे, सद्दबिन्दु ति न वुत्तं। सच्चं एतं सद्दबिन्दु ति पठन्ति। न दोसो ति वचनं आचरियेन वुत्तं। ननु व-कारस्स ब-कारं कत्वा किं पयोजनन्ति चोदना। व-कारस्स ब-कारं अविनाभावतो यथा तं पाली ति युत्तं होति। ल-कारस्स ल-कारं कत्वा पाली ति वुत्तं होति। तथा हिः

सब्ब त्यत्र विकारो हेत्युच्चते अनञ्ञतो ।
तस्स रूपं दुका होति ल-कारस्स तथा पि वा ।।

छिन्द दन्तो यथा नागो कुञ्जरक्खाधिगच्छति ।
एवं पि वण्ण विकारो तब्बोहारं विगच्छती ति ।।(?) वुत्तं होति

अत्थे कथा ति अट्ठकथा, सब्बथा पि यथानुरूपवसेन वण्णविकारं कातब्बं।

सन्धि कप्पो

२. एवं रतनत्तयवन्दनं दस्सेत्वा इदानि अत्तना सम्मारभितस्स पकरणस्स पटिञ्ञात भावं दस्सेतुं कादीरिता त्यादिमाह। तत्थ कादी ति को आदिये सन्ते ति कादयो; ईरितब्बा कथेतब्बा ति ईरिता, ईर-धातु कथने। निमितब्बा संख्या। नवञ्च नवञ्च नवञ्च नवा एकसेसो कातब्बो। नवञ्च तं संख्या चा ति नवसंख्या। टो आदिये सन्ते ति टादयो, यो आदिये सन्ते ति यादियो, पो आदिये सन्ते ति पादयो, सरो च ञो च नो च सर-ञ्ञ-ना। तत्थ कादि अक्खरा नाम यथा क,ख, ग,घ,ङ,च,छ,ज,झा ति नवक्खरा नव संख्या नाम कवीहि कथिता। टाध्यक्खरा नाम यथा ट,ठ,ड,ढ,ण,त,थ,द,धा ति नवक्खरा नव संख्या नाम सद्दसत्थविदूहि वुत्ता। याध्यक्खरा नाम यथा य,र,ल,व,ष,श,स,ह, लाति मे नवक्खरा नव संख्या नाम विञ्ञुहि ईरिता। पाध्यक्खरा नाम यथा प,फ,ब,भ,मा

१. कच्चा॰ ६६३;
२. कच्चा॰ २८।
३. कच्चा॰६१८;
४. कच्चा. ४०५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ति पञ्चक्खरा पञ्च संख्या नाम पण्डितेहि भासिता। सर ञ्ञ-ना ति अट्ठ सरा ञ-ना येव सुञ्ञं नाम चा ति, तं यथा अ-प-ओ, ञ,ना ति पकासिता ति। कमेना ति[१] कमं एव पदच्छेदो। एवं द्वितालीस-अक्खरे लेखणा ति इमे[२] पञ्च वग्गे कत्वा कुलपुत्तानं तिपिटकेस्वेव पटुभावाया ति। तेसु पन क-ट-या ति तयो वग्गा नव संख्या नाम, पादि वग्गा-पञ्च संख्या नाम, सर-ञ्ञ-ना ति दसक्खरा सुञ्ञा नाम। तेसं नाम पभेदतो सञ्ञा पन अत्थाय पञ्च वग्गे कत्वा ति अधिप्पायो। तेसं पन लक्खणं कथं विञ्ञायती ति। तत्थ का ति पदं १ (एकं) लेखं, खा ति पदं २(द्वे) लेखं, प-झा-ति ९(नव) लेखं कातब्बं- १,२,३,४,५,६,७,८,९,। टा ति पदं १ (एकं) लेखं,प-धा-ति पदं९ (नव) लेखं लिखितब्बं एवः १,२,३,४,५,६,७,८,९,। य,र,ल,व,ष,श,स,ह,ळा ति एसेव नयो। पा ति पदं १(एकं) लेखं-प-मा ति पदं५(पञ्च) लेखं कातब्बं: १,२,३,४,५,अ,आ,प,ओ,ञ,ना ति सुञ्ञा नामा ति दट्ठब्बं। सुञ्ञा नाम अट्ठ लक्खणं : बिन्दु कातब्बं ०,०,०,०,०,०,०,०,०,०,०,। इध लेखं उदाहटं : तिंसमे पुरिसे नावुत्यो, ३९०००, ग-झ-अ-ञ-न। इदं पन लेखं सब्बत्थ वेदितब्बं। होति चेत्थः

आदि वग्गा नव संख्या टादि-यादि-वग्गा तथा

पादि-वग्गा पञ्च संख्या आदि नन्ता सुञ्ञा पि च,

एते पञ्च वग्गे ताव पच्छा लेखं करे बुधा[३] ति (?)

तेसं अट्ठ सरानं व्यञ्जनानञ्च एकक्खरं एकपादं बन्धित्वा[४] कुलपुत्तानं मुखमण्डनाय दस्सेन्तो आह—

अ-ददं आ-रणं बुद्धं ----------

अभिवड्ढं पुञ्ञबलं ईरित धम्मं उत्तमं।

ई होति काम किलेसं उ-टि-च्छेद संगं एकं

अनेकमेक पुरेति सम्बोधा च वरुत्तमं

ओहाय लोकं[५] गच्छेय्य हे हेतं पणमामहं

---

१. टी-कमेवा ति; २. टी- मे।

३. न्य-सो; टी.बुधा; ४. न्य-सो; टी-बिन्दित्वा; ५. न्य-सो; टी-लोक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकि-कार-पुप्फं इदं खं चरन्ति विहंगमे
गत-कारे-जने पस्स घटेति वायामं इठ
ङक्खरो सर-निस्साय नत्थेकं पिटकत्तये
तस्मा व अस्स विकारो निग्गहितं ति अव्हयुं
वज्जेय्य पुं महाराजा छड्डे जटं विजटहि
जनेथ आदान भावेन चागमा पुञ्ञसम्पदं
आतब्बं धम्म जातन्ति फुतं रञ्ञतो इट व
ठत्वा पुञ्ञानुभावेन टाही गण्हाही फलदं
वड्ढं वड्ढेन आचायं णहि इणं न गहेय्य
तारेहि न-करं इणं ताहि राजतवानुभा
ददं यन्तान धम्मेन धम्मं गच्छेय्य कामतो
नरेहि अत्तनो गेहे बहिरक्खाहि समणे
वालेसि सरीरं जाता फासु पसे वियो होति
अयं सील विसुद्धानं मरित्वा इध लोकम्हा
याहि सग्गनिवासनं रतिं पेमं राजाजने
लभित्वा अत्तनो गेहं धम्मिकं विय पस्सति
रतनत्तयस्स महा कामधरेहि खत्तिय
सरित्वा इनने अन्ते मणे गणं विनोदये
ळ-ति कीळन्तराजानो अथ तेजेन तादिना ति (१)

एवं द्वेतालीसक्खरे गहेत्वा एकपादं एकक्खरं सुबन्धित्वा राजोवादं दसहि कारणुपायन्ति कस्मा ति चे, एकक्खरं नाम एकपादं बन्धित्वा कत्थचि दिस्सती ति। सच्चं, तं पन एकक्खरं एकपादं नाम ताव होतु, चतुरो अक्खरा गाथा नाम अत्थि, 'साधि मेत्थुत्यादीहि' पोराणवुत्तोदयटीकायं (?) वुत्तं। अथ वा द्वे अक्खरा ति-अक्खरा चतु-अक्खरा च गाथा नाम होन्ती ति:

राजा पातु
सब्बं मच्चं (?)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुदेवो वस्सतु

सब्बस्सं समारं (?)

तथा चतुरो अक्खरा पोराणेहि बन्धिता अत्थि, तं यथा: च,भ,क,सा,ति:

चज दुज्जनसंसग्गं भज साधु समागमं

कर पुञ्ञं अहोरत्तिं सर निच्चं अनिच्चतं ति (?)

तेसं अत्थो अतिविय पाकटो येव।

३. एवं द्वेतालीसक्खरे पञ्च वग्गे कत्वा गाथाबन्धने च दस्सेत्वा इदानि पुब्बलुत्त पर लुत्त सरानं भेदं दस्सेन्तो आह: सरे हेव त्यादि। तत्थ सरा ति सरन्ति गच्छन्ति पवत्तन्ती ति सरा। तेहि एव सद्दो सन्निट्ठानकरणत्थो अधिप्पेतो। पुब्बे भवा पुब्बा, पुब्बे जाता पुब्बा, पुब्बे पवत्ता ति वा पुब्बा। अदस्सनं लोपो, लुप्पनं वा लोपो, पुब्बञ्च तं लोपञ्चा[1] ति पुब्बलुत्तं। पुब्बलुत्तस्स भावो पुब्बलुत्ता ति पि अपरे। वाची ति संख्यावचनं, चतुसट्ठी ति वुत्तं होति। पर लुत्ता परा, परियोसाने लुत्ता परा[2] त्यत्थो। रमा ति संख्यावचनं, द्विपञ्ञासा ति वुत्तं होति। ब्यञ्जनानञ्च आगमट्ठाने वाची, चतुसट्ठी होन्ती ति अत्थो।

दीधरस्सा च अक्खरा यथा सम्भवा ति आदि सद्देन चेत्थ संयोगक्खरानं लोपं संगय्हति। पुब्बलुत्तपरलुत्तसरानं ब्यञ्जनानञ्चागमं पदच्छेदो कातब्बो। तत्थ पुब्बलुत्तसरा ताव वुचयते, तं यथा: 'तत्रायमादि। पर लुत्तसरा नाम यथा: 'चत्तारो मे भिक्खवे' किंसूध, वित्तं त्यादि। सेसा पन सरूपतो सविञ्ञेय्या व,अधिप्पायतो च सुपाकटा येव।

४. एवं पुब्बलुत्त परलुत्तादि भेदं दस्सेत्वा इदानि सन्धिपदच्छेदं दस्सेतुं आह-काकासेना त्यादि। तत्थ पदच्छेदो ताव वुच्चते-को आकासेन आगतो, सो इसि। केन इद्धिं अतिदिस्सति। अरि, अज, आखु, अग्गि, मा, इसिनं, सा, ओतुकं, मेघा, य, इत्थियो ति पदच्छेदो। अरि,अज,आखु,अग्गि,मा,इसिनं, सा,ओतुकं,मेघ, या,इत्थियो ति पदच्छेदो ति अपरे। को ति को जनो, सो इति एव, केन कारणेन,इद्धी ति ञाणं,अति बहुतरा, अरी ति पच्चत्थिका,अजा ति एळको, आखू ति उनदूरो,[3] सा ति सुनखो, ओतुकं ति विळारो,मा ति इन्दु,[4] या ति महिका मत्तिकापुञ्जो, उन्दति खनती ति उन्दूरो,[5] सुसुसद्दं नदती सुनखो,

---

१. न्य-लुत्तं; २. पी-सो; टी-सरा।

३. टी-इन्दुरो; ४. टी-पुञ्ज; ५. टी-रे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामिकं सुणाती ति सुनखो, बिलायं सद्दं राती ति विळारो,विवेगेन सत्ते लाति गण्हाती ति बिलारो, महियं सेती ति महिंसो, महियं रवती ति वा महिका। सा अज पच्चत्थिका, ओतुकं, आखु-पच्चत्थिका,मेघा अग्गि पच्चत्थिका, इत्थी इसीनं पच्चत्थिका, मा या-पच्चत्थिका चा ति सम्बन्धो। सेसं उत्तानत्थं एव। अत्थोपि सुविञ्ञेय्यो वा ति। इदं गाथाबन्धं सन्धिच्छेदपकासनत्थाय कतं ति अधिप्पायो।

इति सन्धिकप्पस्सत्थवण्णनं पठमं।

नाम कप्पो

५. एवं परमविचित्तसन्धिकण्डं दस्सेत्वा इदानि नामकण्ड भेदं दस्सेतुं आह—बुद्धो त्यादि। बुद्धो ति बुद्ध-सद्दो, पुम सद्दो, युवा-सद्दो,सन्त-सद्दो,राज-सद्दो,ब्रह्म-सद्दो,सख-सद्दो यथाक्कमं[१] एतेसं व सा छ अन्तो पुमे येव होती ति बेदितब्बा। निब्बचनं पन एत्थ कत्तब्बं एव। बुज्झति उच्चारीयती ति बुद्धो, बुद्ध-सद्दो। सेसं विचारेत्वा विग्गहो कातब्बो। बुद्धो च पुमो च युवो च सन्तो च राजा च ब्रह्मा च सखा चा ति समाहारद्वन्दो कातब्बो। च सद्दो पन एत्थ समुच्चयत्थो अधिप्पेतो। यति सद्दो च आदि-सद्दो च देही-सद्दो च जन्तु सद्दो च सत्थु-सद्दो च पितु-सद्दो च अभिभू सद्दो च विदू-सद्दो चा ति पुमे येव होन्ती ति दट्ठब्बा। छ अन्ता नाम अ-कारन्त आ-कारन्त ई-कारन्त, उ-कारन्त, ऊ-कारन्त, ओ-कारन्त संखाता होन्ति।

६. एवं पुमलिङ्गादि भेदं दस्सेत्वा इत्थिलिङ्गादिभेदं दस्सेन्तो आह: कञ्ञा त्यादि। तासं पि पदच्छेदो ताव कञ्ञा,अम्मा, रत्ति, इत्थी, पोक्खरणी, नदी, ऊरू,मातु,भू,कातब्बो। अत्थो च विग्गहो च पाकटो येव। इत्थियं एव पञ्च अन्ता होन्ति, यथा: आ-कारन्त, ई-कारन्त, उ-कारन्त, ऊ-कारन्त, ओ-कारन्त संखाता पञ्च अन्ता नाम। एवं इत्थिलिङ्गादिभेदं दस्सेत्वा इदानि नपुंसकलिङ्ग दस्सेन्तो आह—नपुंसके त्यादि। तियन्तं एव नपुंसकलिङ्गा भवन्ति, पद, कम्म, दधि, आयुवसेन विञ्ञायती ति। एव-सद्दो पन एत्थ सन्निट्ठापको अधिप्पेतो[२]। तियन्ता ति-अन्त। 'जिनवचनयुत्तम्हि'[३] लिङ्गञ्च निप्फज्जते[४] ततो च विभत्तियो[५] त्यादि सुत्ते अधिकिच्च 'झलानं इय युव सरे वा' ति[६] सुत्तेन इ-कारस्स इय-आदेसं कत्वा,

---

१. न्य-सो; टी-क्कम्मं;
२. टी-धिप्पेतो।
३. कच्चा॰ ५२;
४. कच्च॰ निपच्चते-सूत्र-५३।
५. कच्चा॰५४;
६. कच्च. ७०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'पुब्ब मधो'[१] त्यादि सुत्तेन 'सरलोपो'[२] त्यादि सुत्तेन,'नये परं युत्ते'[३] सुत्तेन रूपसिद्धि वेदितब्बो।

अ-कारन्त, ई-कारन्त, उ-कारन्त, ओ-कारन्त, संखाता पि अन्ता नपुंसकलिंगे होन्ति। वुत्तं पि च एतं

अन्ता पुमम्हि रसो[४] च उसु च इत्थिलिङ्गिकं
नपुंसके तियन्ता व तेपिटकेसु सञ्ञिता।
न विञ्ञन्तेत्थ सेसा च सन्देहं मा करे बुधो ति (?)
अत्थो पन तिस्साय सिद्धो होती ति।

७. एतं चतुद्दस अन्ते दस्सेत्वा इदानि त्यादि विभत्तियो अन्तेस्वादि भेदं दस्सेन्तो गहिता स्यादि। एत्थ बुद्धो ति आदिकेसु स्यादि विभत्तियो पन अन्त पुमे येव होन्ति। गहित अगहणेन अन्तेही ति योजना। विमला ति संख्यावचनो, तिसतचतुपञ्ञासा ति वुत्तं होति। थ्यन्ति इत्थियं,पञ्चन्तेही ति पञ्च अन्तेही। पुन गहित अगहणन स्यादि विभत्तियो होन्ति। दाधिका ति संख्यावचनो, अट्ठ नव सतं ति वुत्तं होति। स्यादि-विभत्तियो युज्जन्ता पन नपुंसके येव भवन्ति। पुन गहित अगहणेना ति अन्ततो, जनका ति संख्यावचनो, अट्ठ, एकसतं ति वुत्तं होति। तेन वुत्तं—

'तिसंघानि च अन्ते च पुमे स्यादि विभत्तियो
सतं दल्हा इत्थियं हि अट्ठसतं नपुंसके
तेपिटकेसु विञ्ञन्ति न उनं अधिकं पि वा
अन्तट्ठानेन पि णेय्य गहिता गहणेन चा ति (?)

८. एवं पुमादिलिङ्ग भेदञ्च दस्सेत्वा इदानि विभत्तिलोपपधानं दस्सेन्तो आह—पधाना त्यादि। अवयवे न सहवत्ततीति सब्बं, नामञ्च नामञ्च नामानि, सब्बञ्च तं नामञ्चा ति सब्बनामं। समस्सनं समासो, तेसं हितं तद्धितं। सब्बनामञ्च समासो च तद्धितञ्चा ति द्वन्दो। सब्बनामसमासतद्धितसंखाता पधानलिङ्गानुगता एव भवन्ति। अतिलिङ्गा तिलिङ्गविरहितो त्यत्थो। आदिसद्देन उपसग्गादिनं संगण्हति, स्यादयो विभत्तियो ततो निपात उपसग्गट्ठानतो होन्ति। लुत्ता एव

---

१. कच्चा. १०;
२. कच्चा. ८३।
३. कच्च.-११.;
४. न्य.सो; टी-रस्से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धा ति एव सद्दो सन्निट्ठापको अधिप्पेतो। गो ति गो-सद्दो, अन्त विरहितो गो-सद्दो अत्थपधानसंखातो सद्दो सिद्धा[१] येव सुत्तेन अनुरूपतो ति गो-सद्दो दस वाचको होति—

गो-सद्दो सग्ग रंसीसु वजिरानुनेवादिसु[२]
दस्सने नयनन्तेसु[३] पसुम्हि वचने भुवी ति।[४]

सेसं पन वत्तब्बं एव नत्थी ति

इति नामकप्पस्स अत्थवण्णनं दुतीयं।।

कारक कप्पो

९. एवं विचित्तनामकण्डं दस्सेत्वा इदानि कारककण्डं दस्सेन्तो छ कारके त्यादि। छ कारकेसू ति छ कारकेसु समासो होति, सामिस्मिं पन यथारहं ति दट्ठब्बं। कत्तु कम्म-सम्पदान-ओकास-सामि च तद्धितो ति गोत्त-तद्धितादयो सम्भवन्ति।

आख्यातो ति आख्यातविभत्तियो ति साधनस्मिं कत्तुकम्म-भावसाधनेसु सम्भवन्ति। कितका ति कितपच्चयादयो सत्त साधनेसु सम्भवन्ती ति योजना। इमस्मिं पन सत्त साधने तयो पच्चया कित-किच्च-कितकिच्च-भेदेन। तेसु ये पच्चया येभुय्येन कत्तरि वत्तन्ति, ते किता नाम। ये पच्चया भावकम्मेसु वत्तन्ति, ते किच्चा नाम। ये पच्चया सब्बेसु वत्तन्ति, ते कितकिच्चा नामा ति वेदितब्बा। वित्थारो पन उपरि आविभविस्सति।

---

१. न्य-ओ।

२. न्य.-वजिराक्कनिसाकरे।

३. न्य.नयनादिसु।

४. तु.एकक्खरकोस-२४-२५।

गो गोणे थि पुमे सेसे पुमिन्द्रिये जले करे
सग्गे वजिरे वाचायं भुम्यं ञाणे च सूरिये
गीतरि खन्धे गन्धब्बे चन्दे दुक्खे सुगायने
ईसे सुरस्सति-दिसायञ्च गो-सद्दो समुदीरितो ।।

तथा

अभिधानपदीपिकाटीका—४९५

गोणो गो.....
सग्गे करे च वजिरे, बलिबद्धे च गो पुमा
थी सोरभेय्यि नेत्तं'-अम्बु-दिसा-वचन-भूमिसु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करणं कारो, कारो एव कारको। गमन पचनादिकं क्रियं करोति निप्फादेती ति कारको। छ एव कारको छ कारको। तेसु सं धनं अस्स अत्थी ति सामी।तस्मिं समसनं समासो,सद्दो समासीयती ति समासो अत्थो। सम्मा अनुरूपा भवन्ती ति सम्भवा। करोती ति कत्ता, करियते तं ति कम्मं, सं सुट्ठुं आददाति गण्हाती ति सम्पदानं। ओकासं विय आचिक्खती ति ओकासो, सहवत्तती ति सामी। तद्धितं च कत्तु च कम्मञ्च सम्पदानञ्च ओकासञ्च सामी चा ति द्वन्दो। साधेतब्ब साधनं ति एव साधनं। आचिक्खती ति आख्यातो। विभत्तियो कितेतब्बादिका पच्चया। छ कारकेसू ति वत्तब्बे छन्दानुरक्खनत्थं ऊ-कारस्स रस्सं[१] कत्वा ति वेदितब्बं।

सब्बपदेसु पठमा येव होन्ती ति वुत्ते समासतद्धिताख्यातकितकेहि दुतिया च न भवितब्बं। कस्मा? समासतद्धिताख्यातकितकादीहि न वुत्ते दुतियादि यथारहं एव होति।

वुत्ते कम्मादिसामिस्मिं लिङ्गत्थे पथमा सिया ।
न वुत्ते च भवन्तञ्ञा दुतीय अनुरूपतो ति वुत्तं[२] ।।

अत्थो पन सुविजानितब्बं एवं।

११. तदनन्तरं एव कारक[३] सम्बन्धं कत्वा आहः मनसात्यादि। वुत्या ति वुत्तिना, वट्टा ति संसारवट्टा, विवट्टं ति विपञ्चितुकामस्स,[४] भावनन्ति कसिणपरिकम्मादीहि वड्ढनं। तत्थ विग्गहो कातब्बो। मोनं वुच्चति ञाणं, मोनं अस्स अत्थी ति मुनि। को सो भगवा, तस्स वण्णितब्बे वण्णिते। वने वट्टति पुनप्पुनं निब्बत्तती ति वट्टा,संसारा विसेसेन वट्टति कम्मं मुञ्चती ति वट्टं[५]। तस्मा भीयति दस्सती ति भीतो,को सो भिक्खुः, छिन्नभिन्नपटं धारेती ति भिक्खुः संसारभयं इक्खति पस्सती ति वा भिक्खुः किलेसे भिन्दतीति वा भिक्खु; भिक्खति याचती ति वा भिक्खु। भावेति पुनप्पुनं वड्ढेती ति भावना। कसिणपरिकम्मादिकं। संसारो नाम किं ति, खन्ध-धातु-आयतनानं अब्बोच्छिन्नं पवत्तत्ता संसारो ति। तेन आहः

खन्धानञ्च पटिपाटि धातु-आयतनानञ्च।
अब्बोच्छिन्नं पवत्तत्ता संसारो ति पवुच्चती ति[६] ।।

---

१. न्य-लोपं; २. तु.बालावतारो-गा. ३। (कारकप्पकरणां)
३. न्य-सो; टी-कारण; ४. न्य-विमुच्चितु
५. न्य-विवत्तं।
६. वि.मग्ग ५४४; विभं.अ०. १४९; किञ्चि भिन्नं दिस्सति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं वुत्त संसारवट्टं नाम मनसा भावनं मुनिना वुत्ते वण्णिते, बुद्धेन वण्णिते वने भावेति वट्ट विवट्टं भावेति भीतो भिक्खू ति योजना। तस्स अत्थो छन्नं कारकानं एव सिद्धन्ता दस्सेति। कथं? भिक्खु कत्तुकारकं, भावनं कम्मकारकं, वुत्या करण कारकं,[१] वट्टा अपादानकारकं, वने ओकासकारकञ्चा ति दस्सेति। मनसा मुनिनो वुत्या ति गाथाबन्धेन छन्नं कारकानं सिद्धन्ता दस्सेति। अत्थो च सुविञ्ञेय्यो व।

इति कारककप्पस्स अत्थवण्णनं ततीयं।

समास कथो

१२-१३. एवं नयविचित्तकारक कण्डं दस्सेत्वा इदानि समास कण्डं आरभन्तो आह: रासि द्विपदिका त्यादि। तत्थ रासी ति संख्यावचनो, द्विसत्तती ति वुत्तं होति। द्वन्दा ति द्वन्द समासा द्विपदिका रासि, बहुब्बीहिसमासा तुल्याधिकरणा एव लिङ्गेन च वचनेन च विभत्तिना होन्ति। खेमयु सतपञ्चद्वेदस कम्मधारयसमासादयो संखं वीसति दिगु-अव्ययीभाव समासा च हारा अट्ठबीसति। तत्थ द्विपदिका द्वन्दा ति द्वे पदानि द्वेद्वेना वा द्वन्दा। द्वन्दसदिसत्ता अयं पि समासो द्वन्दो ति वुच्चति। लीनं अङ्गं लिङ्ग,लिङ्ग विया तिलिङ्ग। वुच्चते अनेन ति वचनं। च सद्दो अट्ठानपयोगो। तुल्यं समानं अधिकरणं अत्थो यस्स तं तुल्याधिकरणं। बहवो वीहयो यस्स सो बहुब्बीहि, बहुब्बीहि सदिसत्ता अयम्पि समासो बहुब्बीहीति वुच्चति।

तस्स पुरिसो तत्पुरिसो, तप्पुरिसो विया ति तप्पुरिसो, तप्पुरिससदिसत्ता अयम्पि समासो तप्पुरिसो ति वुच्चति। उत्तरपदत्थपधानो तप्पुरिसो ति वुत्तत्ता। कम्मं इव द्वयं धारेति ति कम्मधारयो, यथाकम्मं क्रियञ्च पयोजनञ्च द्वयं धारेति। तथा अयं समासो एकस्स[२] अत्थस्स द्वे नामानि धारेती ति अधिप्पायो।

दिगुणो च ते गवो[३] चा ति द्वेगवो दिगु, संख्यापुब्बनपुंसके कत्तसंखातेहि द्वीहि लक्खणेहि गतो अवगतो ति दिगु, दिगुसदिसत्ता अयं पि समासो दिगू ति वुच्चति।

ब्ययं भवन्ती ति ब्ययीभावा, ब्ययीभावानं पटिपक्खो ति अब्ययीभावो। अब्ययानं अत्थे विभावयन्ती ति वा अब्ययीभावो, विनासनवसेन अनयन्ति पवत्तन्ती ति वा अब्ययं। उपसग्गनिपातपदद्वयं वुत्तञ्च:

---

१. टी.कारणं।

२. न्य-सो; टी.एतस्स;

३. न्य-सो; टी-दिगुवो चा ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न ब्यसो तीसु लिङ्गेसु सब्बासु च विभत्तीसु ।
येसं नत्थि पदानन्तु तानि वच्चन्ति[१] अब्यया ति (?)

अब्यायानं अत्थं भावेती ति अब्ययीभावो। वुत्तञ्च:

सदिसं तीसु लिङ्गेसु सब्बासु[२] च विभत्तिसु
वचनेसु च सब्बेसु यं न व्येति तदव्ययं ति (?)
तीहि लिङ्गेहि यो यस्मा विभत्तीहि[३] च सत्तहि
ब्ययं न पापुणाती ति अब्ययीभावा ति कित्तितो।

सयं कतं मक्कतिको[४] व जालन्ति एत्थ पन द्वे पटिपाटिया अत्थस्स गहेतब्बत्ता अब्ययत्थविभावना नअत्थी ति सयं कतं ति समासो अब्ययीभावो न होति। तथा पुब्बपदत्थपधानो अब्ययीभावो। केचि पन: अब्ययत्थ पुब्बङ्गमत्ता अनब्ययं भवती ति अब्ययीभावो ति पि वदन्ति। अयं पन अम्हाकं खन्ति रुचि। अब्ययत्थपुब्बङ्गमत्ता अनब्ययं पि पदं एकदेसेन अब्ययं भवति एत्था ति अब्ययीभावो। एत्थ च एकदेसग्गहणं 'को' यं मज्झे समुद्दस्मिंति (?) इमाय पालिया समेति, समुद्दस्स मज्झे, मज्झे समुद्दस्मिं ति हि विग्गहो। अत्थो पन समुद्दस्स मज्झे इच्चेव योजेतब्बं। अब्ययीभावो नाम दुविधा नाम पुब्बपदं अब्ययपुब्बपदञ्चा ति। तत्थ गामपति नगरपती त्यादीसु नामपदपुब्बपदो ति, उपनगरं उपगङ्गं त्यादिसु अब्ययपुब्बपदञ्चा ति। वुत्तञ्च:

नाम पुब्बपदो च सो अब्ययपुब्बपदो तथा
नामुपसग्गनिपात-वसेन दुविधा मतो ति (?)

अब्ययीभावो सत्त विभत्तीहि वत्तति। तं यथा: यानि यानि फलानीति यथाफलं, पथमा अब्ययीभावो; सोतं अनु वत्तते ति अनुसोतं, दुतिया; जीवस्स परिमाणे न तिट्ठते ति यावजीवं, ततीया; सद्धाय उपेतो ति उपसद्धं, चतुत्थी; गुणतो उद्धंति उद्धंगुणं, पञ्चमी; नगरस्स अन्तोति अन्तोनगरं, छट्ठी: इत्थियं अधिकिच्च[५] ति अधित्थि, सत्तमी अब्ययीभावो नामा ति वेदितब्बो। अब्ययीभावो नाम निच्चानिच्चवसेन दुविधो वा एकविधो वा ति चोदना। अब्ययीभावो नाम अञ्ञपदस्स विग्गहत्ता पुब्बपधानो अपरपधानो ति चे, पुब्बपधानो ति परिहारो। तथा निच्चो, सो अब्ययीभावो सञ्ञावसेन दीपितो। एको पधानो अब्ययी भावो

---

१. वुच्चन्ति; २. टी. सब्बेसु।
३. न्य. छन्दवसेन. टी.विभत्ति; ४. न्य. °टको; ५. टी. किच्च।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुब्बपदट्ठानं[१] किं पयोजनं। पयोजनं पन वित्थारेन सद्दसत्थन्तरेसु होति। इध पन संखित्तेन वुत्तं। वुत्तञ्च:

द्वन्दा द्विपदिका चेव दस होन्ति च गणना
बहुब्बीहि तप्पुरिसो द्वेसता गणसम्भवा।
कम्मधारयसमासा कजा होन्ति च गणना
दिगु-'ब्यया च समासा दयितन्ति या सञ्ञिता ति (?)
इति समासकप्पस्स अत्थवण्णनं चतुत्थं।

तद्धित कथो

१४. एवं गम्भीरसमासकण्डं दस्सेत्वा इदानि तद्धितकप्पं आरभन्तो आह 'कच्चादितो' त्यादि। कच्चायनगोत्तादितो नियमं नियमनं एव, विना वज्जेत्वा अनेकत्थे सति, सब्बे तद्धितपच्चया णादयो होन्ति एव नियमनं न होति। तत्थ आदि-सद्देन वासुदेवगोत्तादयो। अपि-सद्देन तर त्यादि तद्धितादयो संगय्हति।[२] गोत्ततद्धिता नाम किं तं ति। वासिट्ठ,गोतम, कच्चायन, अग्गिवेस्सन, मोग्गल्लान उकत्त[३] वासुदेव, वच्छ,[४] नारायन,[५] उंकट्ठ[६]-मज्झिम-हीनकण्हादिसंखातेहि जातिगोत्ततद्धितादि दट्ठब्बा[७]। गोत्ततद्धिते अट्ठ पच्चया होन्ति, यथा-ण, णायन, णान, णेय्य, णि, णिक, णेर, णव, इति' मे अट्ठवेदितब्बा[८]। तरत्यादि तद्धिते चत्तारो, तेनाह:

द्वे पच्चयानि एका व द्वीसु सुत्तेसु वत्तते
विकप्पादिग्गहणेन वुत्ता णिकानिका दुबे ति।[९]

---

१. न्य. पुब्बपदपधानं; २. न्य-न्ति; ३. न्य. सकट।
४. टी. °आ; ५. टी. नरन्; ६. न्य. सो; टी. अग्गट्ठ।
७. तु. सद्दसारत्थ जालिनी-४४३-४४४।
वासिट्ठो गोतमो चेव कच्चानो अग्गिवेस्सानो
मोग्गल्लायनो 'च्चादि च उत्तमो ति पवुच्चति
वासुदेवो च वच्छो च नारायनो साकटो पि
मज्झिमो कण्हादि गोत्तं हीनो नामा ति वुच्चते ।।
८. तु. सद्दसारत्थजालिनी-४४५।
णो णायनो च णाणो च णेय्यो णेरो णणो पि च
णि च णिको च अट्ठ एते अपेच्च होन्ति पच्चया। (तु.पि च. कच्चा. ३४६-३५१)
९. तु.कच्चा. ३५२-३५३; सद्दसारत्थजालिनी-४४७ णिक,णिय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रागतद्धिते एको,तेनाह:

रागादितद्धिते एको पच्चयो स-ण-कारको
संखेपेनेव जानेय्य अनेकत्थेसु सोधितो ति[१]।

जाततद्धिते छ पच्चया होन्ति, तेनाह:

सुत्तेन[२] इमिना चेव इम-इय-इक-आदिग्गहणेन च
कियो चापि च सद्देन छ जात्या होन्ति पच्चया ति

समूहतद्धिते तयो पच्चया होन्ति। एको ता-पच्चयो लिङ्गत्तयेसु वत्तति। तेनाह:

कण-णा पच्चया वुत्ता समुहत्थेसु लिङ्गतो
लिङ्गत्तयेन गहितो होति ता-पच्चया इधा ति[३]

ठानतद्धिते एको, तेनाह:

इयो सो पच्चयो एको वत्तति ठानतद्धिते
सद्दसत्थे इय, एय्य ते विधनविचारिता[४] ति

उपमादद्धिते एको, तेनाह:

उपमातद्धिते एको आयितत्तं पवत्तति
सद्दसत्थे इध विय थेरेन न कता इधा ति[५]

निस्सिते पि एको[६] व पच्चयो, सद्दसत्थन्तरे पन द्वे ति। तेनाह:

निस्सिते पच्चया द्विधा लोत्थ अञ्ञत्थ वत्तते
णे एको पच्चयो एव कच्चायने[७] न दीपितो ति

---

१. कच्चा.-३५४-ण।
२. कच्च. ३५५; सद्दसारत्थजालिनी-४४८ इम,इय,इक,किय।
३. टी.पि;तु.सद्दसात्थजालिनी-४४९; कच्च. ३५६-कण,ण;३५७-ता।
४. कच्च. ३५८-इयो, इय, एय्य; सद्दसारत्थजालिनी-४५०।
५. सद्दसारत्थजालिनी-४५१-आयितत्त।
६. न्य. सो' टी-ब्यको।
७. क्य. सो; टी-यन; तु.कच्चा. ३६०; तु.सद्दसारत्थजालिनी-४५२; लो,णे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुलतद्धिते पि एको व सद्दसत्थे पन तयो, यथा:

बहुल्लतद्धिते आलु पच्चये को पवत्तति।
सत्थेसु आलुको चेव थेरेन न कता इधा ति[१]

सेट्ठ-तद्धिते पञ्च पच्चया, यथा:

अधिते पञ्च पच्चया तद्धिते सुविसेसने
तर,तम,इसिक,इय,इट्ठा इच्चेते पञ्च पच्चया ति[२]**।**

अस्सत्थितद्धिते नव पच्चया, सद्दसत्थे पन एकादस, तेनाह:

अस्सत्थि तद्धिते वी च ई-सी-इक-र-वन्तु च
मन्तु च स-ण-कारो च पच्चया नव दीपिता,
सत्थे इध इया चेव थेरेन न कता इधा ति[३]

पकतितद्धिते एको व, वुत्तञ्च:

पकति तद्धिते एको मय पच्चयनामको
बहुपकारो विधीसु ञातब्बं[४] **तद्धितेसिनाति**[५]**।**

पूरणतद्धिते पञ्च, सद्दसत्थे पन सत्त, तेनाह:

पूरणे पच्चया पञ्च इम, ट्ठ, त्ता, तिये पि च
पूरणत्थे पवत्तन्ति ञातब्बो तद्धितेसिना
थ, म, अ-पच्चया सब्बे थेरेन न कता इधा[६] **ति।**

---

१. कच्च. ३६१-आलु; आलुको; तु °सद्दसारत्थजालिनी-४५३।

२. तर,तम,इस्सिक,इय,इट्ठ;तु.कच्च.३६५; एवं सद्दसारत्थजालीनि-४५४

३. तु.कच्च.३६६-३७२-वी च,ई,सी,इक,र,वन्तु,मन्तु,ण,इया। सद्दसारत्थजालिनी-४५४-४५५।

४. न्य. सो; टी.त्तब्ब।

५. सद्दसारत्थजालिनी-४५५; कच्च.३७४-मय।

६. सद्दसारत्थजालिनी-४५६; कच्च.३७५,३७७,३८०,३८४,३८६,३८७ इच्चादि।

इ,म,ठ त्ता,तिय,थ,म,अ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संख्यातद्धिते एको व पच्चयो। वुत्तञ्च:

संख्याय तद्धिते एको पच्चयो को ति दीपितो,
वीसति बीसतद्धितं तस्सोदाहरणं मतं ति[१]
लोपादेसागमाबुद्धि[२] संख्याने पकतीहि च
ञेय्यो[३] सत्थानुसारेन अञ्ञत्र विविधा कता ति। (?)

विभागतद्धिते द्वे, सद्दसत्थे पन तयो, यथाह:

सुत्तेन पच्चयो वुत्तो विभागे धा विभागतो
सो पच्चयो विभागतो च-सद्देन पकासितो
सद्दसत्थे विधं वुत्तो विभागो च विभागतो ति[४] (?)

इमे पन्नरस तद्धितानि। सेसा निधनत्ति[५] ञाणवता सद्दसत्थेसु गहेतब्बं ति कच्चादितो ति एतेन गोत्ततद्धिते साधनत्थं ति दस्सेति। अपी ति पदेन सब्बतद्धिते साधेती ति दस्सेति। अत्थो पन सुविञ्ञेय्यो।

इति तद्धित कप्पस्स अत्थवण्णनं पञ्चमं।

आख्यात कप्पो

१५-१६. एवं परचित्तनयगम्भीरतद्धितकण्डं दस्सेत्वा इदानि आख्यात कण्डं आरभन्तोयं आचारियो आह: 'कत्तरी' त्यादि। कत्तरी ति कत्तुस्मिं, सब्बेते पयोगा पञ्च धातुम्हि होन्ति, नाञ्ञथा। सत्त सतं ते पयोगा पन कम्मे येव होन्ति,तथा नाञ्ञथा। भावे पयोगा विपवत्तन्ति, मेरया सतवीसपञ्चाधिक संख्यावचनो। पञ्च धातुम्हि पयोगा होन्ति, संखेपेन संखित्तेन, मरुमयं सहस्स पञ्चसतवीसपञ्चाधिक संख्यावचने, गमुम्हि[६] पयोगा पन तिगुणा तीहि गुणिता होन्ति। एत्तो पञ्चधातुतो सम्भवानुरूपं गहेतब्बं एव। ते च पयोगा अञ्ञथा धातुसु अनन्ता अपरिमाणा एव। आदेसपच्चयादीहि[७] सम्भवन्ती ति। एत्तावता पयोगा पञ्चधातुम्हि गणनवसेन मरूमयं अञ्ञधातूसु पि येभुय्येन पवत्तन्ता न गणितब्बा।

---

१. सद्दसारत्थजालिनी-४५७; कच्च.-३८०।
२. न्य.-सो; टी॰-लोपादेसोगं।
३. टी. ञो, य्यो;
४. कच्च. ३९९-धा
५. न्य. तद्धितत्थिना (?);
६. पी.सो;टी-गेमुमि।
७. पी.सो;टी-आदेसे पच्चयादि पि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपसिद्धि पकरणं ओलोकेत्वा गहेतब्बं। सेसवचनं एव वत्तब्बं नत्थी ति। अत्थो पन सुपाकटो।

इति आख्यातकप्पस्स अत्थवण्णनं छट्ठं।

कित कप्पो

१७. एवं आख्यातकण्डं दस्सेत्वा इदानि कितकप्पं दस्सेन्तो आह: कितादी त्यादि। सब्बे पच्चया कितादि एकधातुतो सियुं। अनुरूपतो[१] यथासम्भवतो सत्त साधने सति पि पायतो येभुय्येन पवत्तन्ति, एत्थ आदि-सद्देन कितकिच्चपच्चया संगय्हन्ति[२]। अपिसद्देन धातुसाधनानि संगय्हन्ति। कितो आदिये सन्ते ति कितादयो। पटिच्च एतस्मा ति पच्चयो। कितादि एव पच्चया कितादिपच्चया। सह अवयवेन वत्तती ति सब्बं, पयति येभुय्येन पवत्तती ति पायो। पाय सद्दो बाहुल्लवाचको, येभुय्येना ति अत्थो। ये पच्चया बाहुल्लेन कत्तरि पवत्तन्ति, ते किता नाम। ये पच्चया बाहुल्लेन भावकम्मेसु[३] वत्तन्ति, ते किच्चा नाम। ये पच्चया सब्बेसु वत्तन्ति, ते कितकिच्चा नाम वुत्तञ्चेतं:

तयो च पच्चया ञेय्या कितका किच्चका तथा
कितकिच्चकनामञ्च सद्दसत्थे पकासिता।
कितका कत्तरि ञेय्या भावकम्मेसु किच्चका
कितकिच्चा तु सब्बत्थ येभुय्येन पवत्तरे ति (?)

कितपच्चया नाम किं तन्ति पुच्छा। वुत्तं हि एतं:

ण्वु[४],रो,ण,क,त,ति,तु,च तावे[५] इ अन्त,मान,तुं,
तुन, त्वान च इम तेरसे कितपच्चया[६] सियुं।
अनीयो,[७] तब्ब, ण्यो, रिच्च, रिरिय,ख सब्बपच्चया
ते किच्चापच्चया नाम ञातब्बा पच्चयेसिना।
णो च यु क्वि च रम्मो च णु, ण्वु,तु,आवी इध अ
ट्ठ, रट्ठु,[८] आनी,अ,नु,का पन्नरस कितकिच्चा ति

---

१. न्य. सो; टी. अनुरूपगतो;
२. न्य-सो; टी. संगय्हति।
३. न्य-सो;टी-धम्मेसु;
४. न्य. सो; टी-णो।
५. न्य.सो; टी-ताव;
६. टी. तपच्चया।
७. न्य. सो; टी-अनियो;
८. न्य. सो; टी. स्व, तु, रत्थु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कितपच्चया तेरस छहोन्ति किच्चपच्चया
कितकिच्चा पन्नरस चतुतिंस समूहतो ति (?)[1]

सद्दसत्थन्तरे पन कितकिच्चभेदेन द्वेधा वुत्ता ति। तथा पि लक्खणवसेन वुत्तं ति दट्ठब्बं। कितादी ति एतेन कित-किच्च-कितकिच्चये साधेती ति दस्सेति। अपी ति पदेन सत्त[2] साधन वुत्तरूपं[3] ति दस्सेति। अधिप्पायो पन अतिविय पाकटो येव।

इति कितकप्पस्स अत्थवण्णनं सत्तमं।

पकिण्णकं

१९-२०. (एवं कितकण्डं) दस्सेत्वा इदानि अत्तना कत्तब्बस्स पकरणस्स गुणं दस्सेतुं इमिना किञ्चि लेसेन ति आदि आरद्धं। सब्बे पयोगा पन एकेन बिन्दुना ञाणिना कुलपुत्तेन ञाणेन समन्नागता सद्दारञ्ञे सद्दसंखाते आरञ्ञे[4] जिनागमे विहिता सक्का[5] ञातुं पटितुं, बिन्दुरसो[6] बिन्दुरस उपलक्खितो वेगेन

---

१. तेरस कित पच्चया—
रू—कच्च. ५३६-५३७;५४०-५४१,
ण—कच्च. ५२६,५३०-५३१ क—कच्च. ६६३, ६६५, ६६६ (?)
त—कच्च. ५५७-५५९ ति—कच्च. ५५४
तु—कच्च. ५६३ तवे—कच्च.५६३
इ कच्च.५५३; ५७१
अन्त, मान—कच्च.५६७ तुं—कच्च ५६५ तुन, त्वान—कच्च.५६६
छ किच्च पच्चया— अणियो। कच्च. ५४२
तब्ब-कच्च. ५४२ ण्यो-कच्च.५४३
रिच्च—,, ,,५४४ रिरिय- ,, ,, ५५६
ख— ,, ,, ५६२
पन्नरस कितकिच्च पच्चया—
णो—कच्च. ६५६ (?) यु—कच्च.५३५,५४९-५५०।
क्कि—,, ५३२। रम्मो—,, ५३३।
णु—कच्च ६७३। ण्वु—,, ५२९,५३४; तु-कच्च-५२९,५३४
आवी—,, ५२९,५३४ ट्ठ—कच्च.५७४,५७५:६७४।
रट्ठः रत्थु ५६८:५७४ अ—कच्च.५२७,५२८,५२९,५५५
इनि (इन) कच्च. ५६०,५६१
नु—कच्च.५३९। का—कच्च.५९७।

२. टी.सत्ता; ३. ?।
४. न्य-सो; टी संघे अञ्ञे; ५. पी-सो;टी.सत्ता; ६. पी-सिन्धुरसो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सीघगमनेन, इमिना किञ्चि लेसेन इमिना उपायेन ते पयोगे जानित्वान[१] सीघं[२] पवेसाय पुरं[३] पिटकसंखातं पुरं (रम्मं) रमितब्बं नाना नयेहि मग्गो उपायो उजुमग्गं तं कुलपुत्तानं मग्गं उपायं विसोधितो मया ति अधिप्पायो। नानानयेन सद्दारञ्ञेति योजना। पतिसरणं करोती ति पटिकं,पटिविसुं वा करोती ति पटिकं,पतिसरणं करीयति एतेही ति वा पटिकं, पटिकं विया ति पटिकं। तेसु वुद्धी[४] ति आदिना सुत्तेन पटिक-सद्दस्स पिटकादेसो होती ति कते रूपं, सञ्ञियते सञ्ञी, पिटकातिसञ्ञी, पिटकसञ्ञी,[५] पिटकसञ्ञी एव पिटकसञ्ञी, पिटकसञ्ञी यस्स तं पिटकसञ्ञीतं, तस्स भावो पिटकसञ्ञितं[६]।

इति गन्थसारं सद्दबिन्दुविनिच्छयं समत्तं।

यो थूपथूपो व धिरोसमानो[७] जिनस्स धातु पतिट्ठानभूतो[८]
वसीहि कतेहि अनेकनेका कारापयन्ते हरिपुञ्जयस्मिं[९]
सुवण्णपटेहि अच्छादयित्वा हरिस्सरंसीहि[१०] जज्जलमानो
आव्हयितब्बो[११] व नाम रम्मं नानत्त सो नयेन आवुतो[१२]
योन[१३] नगरे अभिवड्ढयन्तो विसुद्धसीलो समणानं इन्दो
लद्धाभिसेखो फुस्सदेव[१५] थेरो राजाधिराजिनोति पूजयित्वा

---

१. न्य.-सो; टी-जानितान।
२. न्य.सो; टी-सिक्खा; ३. पी.सो; टी-रूपं।
४. कच्च.४०६-तेसु वुद्धिलोपागमविकारविपरीतादेसा च।
५. टी.पुनरूत्ति।
६. न्य.—
२० धम्मेन धम्मानुरूपं सोलिपतिना (वा सलपतिना) सहसमुद्देन पथवितले इस्सरेन परत्थ निपकेनेव परेसं अत्थहितावहे निपुणेन, गुरूनामकेन गुरूहि दिन्न,(क्य एवा ति) नामकेन, धम्मराजा धम्मराजेन कच्चायनुत्तरतने कच्चायनाचरियेन उत्त (कथित) सद्दनय अत्थनयसंखातेहि रतनेहि सम्पुण्णे, चित्तगब्भकोणे विचित्रगब्भस्स, ओवरकस्सकोणे, एकदेसे, पदीपो दीपजाला, किञ्चि थोकमत्तं जलितो उज्जालितो।
७. टी. समनो; ८. न्य. सो, टी.-पटिपट्ठान।
९. न्य. सो;टी-परिपञ्च; १०. टी.—हरिसरंसिहि।
११. न्य-सो; टी—अवव्ह; १२. टी.आवत्तो।
१३. योनरट्ठे; १४. टी.लद्धो; १५. टी.फुस्सरेव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तं शूपथूपवरं निस्सय टीकं करोन्तो हरिपुञ्जयस्मिं
सद्दस्स बिन्दु विवरणत्थं सेट्ठस्स गन्थं गन्थसारसारी
एवं सद्दनयगम्भीरे गन्था सद्धानद्धिया सत्तसु धम्मतो
अतिभयिसायं[१] गन्थसारसारं सोतुनं उत्तम[२] तिपिटक जाननं[३]
तस्मा येव च धिरा निपुणा[४] मन्दपञ्ञा च ये एतं
सुमन[५] पटिपकरं वारयेय्यं वसोचित्ते[६] ते भिञ्ञातवारा
पमुदितहदयानं सत्तुपमे गवेय्यं अच्छम्भ सीलवुत्ति[७]
सधुतिपरसति सिहा- नादं नाञ्ञोये देय्युं
धूरे सब्बङ्गसम्पन्ने हरिपुञ्जय[८] नामके
रम्मे साधुजनाकिण्णे जनसुतनिसेविते
वङ्गने सब्बवत्थूहि राजसेट्ठनिवासिते
नगरे गोचरं कत्वा आरामे रम्म नामके
वसिस्सामि आहं एत्थ टीकायं रचिता मया ति

इति भद्दन्त सिरिसद्धम्मकित्ति-महाफुस्सदेव थेरेन रचितो गन्थसारो नाम[९] निट्ठितो, परिपुण्णो, समत्तो।

देवलोके मनुस्से वा संसरन्तो पुनप्पुनं
सब्बेसं पवरो हुत्वा ञाणतिक्खं लभं अहं
मनुस्सलाभं लद्धाहं विरूपो मा भवे मम
सरूपो ञाणसम्पन्नो पहोमि पिटकत्तये।

सद्दबिन्दुटीका निट्ठिता।

●

---

१. टी.ति अभयिसायं।
२. टी. सोतुनमत्तम।
३. टी. भि—
४. टी. पुण्णा।
५. टी. तुमन;
६. टी. पसो—
७. टी. सीहवुत्ति;
८. टी. रिपुञ्चेय्य।
९. टी. गन्थसारोनोध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ-सूची

१. अट्ठसालिनी — सं.सं.वि.वि. वाराणसी।
२. अभिधानपदीपिका टीका।
३. एकक्खरकोस।
४. कच्चायन व्याकरण — तारा प्रकाशन, वाराणसी।
५. कच्चायण भेद।
६. गन्धवंस — पी.टी.एस.लन्दन।
७. वालावतारो — बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी।
८. विभङ्ग अट्ठकथा — नवनालन्दा महाविहार,नालन्दा।
९. विसुद्धि मग्गो — सं.सं.वि.वि. वाराणसी।
१०. सद्दनय।
११. सद्दनय टीका।
१२. सद्दनिस्सय।
१३. सद्दसारत्थ जालिनी।
१४. समन्तपासादिका — नव नालन्दा महाविहार।

साङ्केतिक विवरणं

अट्ठ	—	अट्ठसालिनी
कच्च.	—	कच्चायण व्याकरण
कच्च.भे.	—	कच्चायण भेद
टी	—	सद्दानय टीका
तु.	—	तुलनीय
द्र.	—	द्रष्टव्य
न्य.	—	भदन्त छरातो ॐ न्यनिक के मत।
पी.	—	सद्दनय
फ.	—	फाउसवॉल
वि.भ.अ.	—	विभङ्ग. अट्ठकथा
वि.मग्ग.	—	विसुद्धि मग्गो
सम.पा.	—	समन्तपासादिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य नागार्जुन विरचित

निरौपम्यस्तव एवं परमार्थस्तव

सारांश सहित भूमिका और सम्पादन

प्रो. थुबतन छोगडुब
अध्यक्ष, बौद्धदर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

आचार्य नागार्जुन द्वारा विरचित 'निरौपम्यस्तव' एवं परमार्थस्तव' अत्यन्त दुर्लभ लघु ग्रन्थ हैं। इनके अंग्रेजी अनुवाद के साथ मूल संस्कृत की एक छाया-प्रति हमें अनेक वर्ष पूर्व प्राप्त हुई जो सम्भवत: किसी पश्चिमी देश के ग्रन्थालय से लायी गयी हैं। मूल प्रति में कुछ अस्पष्टता एवं कुछ त्रुटियाँ पायी गयी जिन्हें तिब्बती अनुवाद के आधार पर सुधारने की चेष्टा की हैं। मैं समझता हूं कि मूल पाठ का स्वरूप काफी शुद्ध हो गया हैं। तथापि यदि भाषागत कोई त्रुटी रह गयी हो तो पुन: सुधारने की चेष्टा करूँगा।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन केवल एक दर्शन नहीं है, अपितु दर्शनों के समूह है। किन्हीं विषयों पर विचारसाम्य होने पर भी परस्पर अत्यन्त मतभेद हैं। शब्दसाम्य होने पर भी अर्थभेद अधिक है। विभिन्न शाखाओं तथा उपशाखाओं के होने पर भी मूल दार्शनिक सिद्धान्तों के साम्य की दृष्टि से बौद्ध दर्शनों का चार भागों में वर्गीकरण किया गया है। यथा-वैभाषिक सौत्रान्तिक, योगाचार (विज्ञानवाद) एवं माध्यमिक या शून्यतावाद। वैभाषिक में सर्वास्तिवाद तथा स्थाविरवाद आदि अठारह निकाय हैं। सौत्रान्तिक में आगमानुचारि एवं युक्तत्यनुचारी दो हैं। विज्ञानवाद में भी आगामनुयायी तथा युक्त्यनुयायी दो हैं। माध्यामिकवाद में स्वातान्त्रिकमाध्यमिकवाद एवं प्रासंगिकमाध्यमिकवाद दो हैं।

इन सब दर्शनों के मूल में भगवान् बुद्ध के वे वचन हैं, जिनका उपदेश उन्होंने विभिन्न धातु, अध्याशय, और अधिमुक्ति वाले विनेयजनों के कल्याण के लिए विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न कालों पर दिया गया। बुद्ध के समस्त वचनों का त्रिविध धर्मचक्र-प्रवर्त्तनों में संग्रह हो जाता है।

बुद्ध के उपदेशों का लक्ष्य लोगों को तत्त्वदर्शन कराना होता हैं। वस्तुओं की यथार्थता के दर्शन द्वारा ही अविद्या का प्रहाण सम्भव है। अविद्या के प्रहाण से दु:खों का उन्मूल होता हैं। अत: भगवान् बुद्ध तत्त्वदर्शन द्वारा लोगों को सन्मार्ग में प्रतिष्ठित करते हैं। ऐसा नहीं कि अपने दिव्यबल या शक्ति से लोगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के दु:खों का निवारण करते हों या अपने को प्राप्त ज्ञान का लोगों में स्थानान्तरण कर देते हों। इसीलिए सूत्र में कहा गया है कि—

न प्रक्षालयन्ति मुनयो जलेन पापं नैवापकर्षन्ति करेण जगददु:खम् ।
नैव च संक्रमते ह्यन्येषु स्वाधिगमः सद्धर्मतादेशनया विमोचयन्ति।।

बोधिप्राप्त होने के बाद सर्वप्रथम सारनाथ में बुद्ध ने जो चतुर्विध आर्यसत्य पर आधारित उपदेश प्रथम धर्मचक्र के रूप में दिया था, वह स्वलक्षणसत्ता या स्वभावसत्ता पर आधृत था और मुख्यत: श्रावकवर्गीय स्वभावसत्तावादियों के लिए था। महायानसिद्धान्तवादियों की दृष्टि से यह देशना नेयार्थ देशना है।

गृध्रकूट पर्वत आदि में प्रज्ञा पारमिता सूत्रों की जो देशना की गयी थी और जिनका मुख्य विषय शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध तथा निस्स्वभावता आदि हैं, वे द्वितीय धर्मचक्र कहलाते हैं। वे निस्स्वभावतावद के समर्थकों के लिए थे।

वैशाली आदि स्थानों में स्वाभाव की दृष्टि से धर्मों का विभाजन करके तृतीय धर्मचक्र की देशना की गयी हैं, जिस के विनेयजन श्रावक एवं महायानी दोनों प्रकार के सत्त्व हैं। यही देशना विज्ञानवाद दर्शन का मूलाधार है।

इन तीन धर्मचक्रों को लेकर नेयार्थ एवं नीतार्थ की लम्बी व्याख्या हैं, किन्तु यहाँ केवल माध्यमिकवाद दर्शन के विषय में कतिपय तथ्यों को ही प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनका सम्बन्ध प्रस्तुत लघुग्रन्थों से हैं।

माध्यमिकवाद का प्रारम्भ

माध्यमिकवाद या शून्यतावाद समानार्थक है। मध्यमकवाद का विचार बुद्ध का मूल्यविचार हैं। बुद्ध की दृष्टि से जीवन में भी मध्यमवाद आवश्यक है। अत्यन्त विलासिता पूर्ण जीवन तथा अत्यन्त तपश्चर्या-ये दोनों ही 'अन्त' है। इनसे रहित मध्यमजीवन ही आदर्शजीवन है। नित्य शाश्वत आत्मा का आस्तित्व तथा परलोकगामी चित्त-चैतसिकों का अभाव-ये दो भी 'अन्त' हैं। इन में पतित न होकर मध्यम दृष्टि सम्यग्दृष्टि हैं। नित्य आत्मा की सत्ता नहीं है तथा चित्तधारा पुण्य-पाप आदि के भार को लेकर परलोक जाती हैं। अत: शाश्वत एवं उच्छेद इन दो अन्तों से हटकर मध्यममार्ग पर चला जा सकता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस माध्यमिक सिद्धान्त का चरम उत्कर्ष शून्यतावाद से सम्पन्न होता हैं। शून्यतावाद का उद्‌भव शतसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों से हुआ हैं। शाश्वतान्त अर्थात् स्वभावसत्ता एवं उच्छेदान्त अर्थात् व्यावहारिक असत्ता से रहित माध्यमिकवाद ही शून्यतावाद है। यही शून्यतावाद प्रज्ञापारमिता सूत्रों का साक्षात् प्रमुख विषय हैं। प्रज्ञापारमिता सूत्रों के दर्शनपक्ष के प्रवर्तक नागार्जुन एवं मार्गपक्ष के प्रवर्तक मैत्रेयनाथ हैं। प्रज्ञापारमिता सुत्रों के आधार पर नागार्जुन ने माध्यमिक दर्शन पक्ष की स्थापना की। शून्यतावाद का प्रारम्भ केवल बौद्ध दर्शन में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों में एक अभूतपूर्व घटना है, जिससे मानव चिंतन की दिशा प्रभावित हुई हैं।

नागार्जुन की रचनाएँ

प्रज्ञापारमितासूत्रों के दार्शनिकपक्ष का प्रतितपादन करते हुए नागार्जुन ने अत्यन्त महत्त्वर्पूण छः माध्यमिक शास्त्रों की रचना की हैं जिन्हें 'षड्‌विधमध्यमकशास्त्र' भी कहते हैं। (१) सर्वप्रथम मूलमाध्यमिक कारिका की रनचा की हैं, जिसमें २७ प्रकरण हैं। यह शास्त्र समस्त पुद्‌गल तथा धर्मों की स्वभावसत्ता का निषेध विस्तारपूर्वक करता हैं। दूसरे शब्दों में मूलमाध्यमिक कारिका समस्त जगत् तथा जीव की स्वभावसत्ता का निषेध करती हैं। मूलमाध्यमिक कारिका के प्रकरणों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। जिन प्रकरणों का सम्बन्ध पुद्‌गलात्म के निषेध से हैं, वे प्रथम भाग में तथा जिनका सम्बन्ध मुख्यतः धर्मात्मा के विषेध से हैं, वे द्वितीय भाग में लिए जा सकते है। कुछ प्रकरणों का सम्बन्ध उभय निषेध से भी है, वे उभय वर्ग में लिऐ जा सकते हैं।

मूल माध्यमिककारिका के बाद नागार्जुन ने पाँच और ग्रन्थों की रचना की हैं। जो मूलमाध्यमिक कारिका के परिशिष्ट के रूप में लिखे गये थे। यथा—

२. वैदल्यप्रकरण ३. विग्रहव्यावर्तनी

४. शून्यतासप्तती ५. युक्तिषष्ठिका ६. रत्नावली

नागार्जुन के उक्त छः शास्त्रों में से प्रथम चार ग्रन्थ शून्तयता को मूख्यरूपेण प्रतिपादित करते हैं जो प्रतीत्यसमुत्पाद पर आद्धृत है। युक्तिषष्ठिका एवं रत्नावली शून्यता का आलम्बन करने वाले मार्गों का मुख्यरूपेण प्रतिपादित करते हैं जो मुक्ति का मार्ग हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नागार्जुन की अन्य रचना हैं—

७. महायानविंशिका	८. अक्षरशतक
९. प्रतीत्यसमुत्पादहृदय	१०. भावनाक्रम
११. सूत्रसमुचय	१२. भवसंक्रान्ति
१३. सुहृल्लेख	१४. स्तवगण

स्तवगण या स्तोत्रगण में अनेक स्तव संगृहीत हैं। कोई षट्स्तवगण मानते हैं तो अन्य लोग चतुसस्तव बताते हैं।

तिब्बती में छः स्तव उपलब्ध हैं। यथा—

१. निरौपम्यस्तव	२. परमार्थस्तव
३. लोकोत्तरस्तव	४. धर्मधातुस्तव
५. अविचिन्तनीयस्तव	६. प्रज्ञापारमितास्तोत्र

इन स्तवों में भी शून्यता का प्रतिपादन है, परन्तु मूलमाध्यमिककारिका आदि की तरह युक्तियों द्वारा निस्स्वभावता की व्याख्या विस्तृत नहीं हैं।

जब तक नागार्जुन के दर्शन की रूप रेखा का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक इन स्तवों का अभिप्राय भी अवगत नहीं हो सकता हैं।

विषय समीक्षा

निस्स्वभावता एवं प्रतीत्य समुत्पाद नागार्जुन का वास्तविक दर्शन है तथा वे इस दर्शन को बुद्ध का वास्तविक दर्शन मानते है। इसीलिए आचार्य ने इसी प्रतीत्यसमुत्पाद एवं निस्स्वभावता को लेकर बुद्ध की वन्दना सदा की हैं।

निस्स्वभावतावाद

वस्तुऐं क्योंकि हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होती हैं, इसलिए वे निस्सभाव सिद्ध होती हैं। स्वभावसत्ता होने पर हेतु-प्रत्ययों से उत्पत्ति असम्भव हो जाएगी। जो हेतुप्रत्ययों से उत्पन्न होगा, वह कृतक होगा जो कृतक स्वभाव का होगा, वह कृत्रिम स्वभाव का होगा, क्योंकि जो अकृत्रिम और निरपेक्ष स्वभाव का होता है, उसका हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। नागार्जुन ने मूल मध्यमककारिका के स्वभाव परीक्षा पञ्चदशमं प्रकरण में कहा कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न सम्भवः स्वभावस्य युक्तः प्रत्यय-हेतुभिः ।
हेतु-प्रत्ययसम्भूतः स्वभावः कृतको भवेत् ।।१५/१।।
स्वभावः कृतको नाम भविष्याति पुनः कथम् ।
अकृत्रिमः स्वभावो हि निरपेक्षः परत्र च ।।१५/२।।

स्वभावसत्ता किसी की भी यदि होगी तो उसका अस्तित्व अन्यों पर अपेक्षित नहीं होगा। पदार्थों का अस्तित्व अन्यों पर अपेक्षित हैं। अतः पदार्थों की स्वभावसत्ता अर्थात् अपनी ओर से सत्ता नहीं होती हैं। सभी कल्पना द्वारा स्थापित मात्र हैं।

व्यावहारिक सत्तावाद

सम्पूर्ण जगत् एवं जागतिक पदार्थों के निस्स्वभाव होने पर ही इन की व्यवहारिक या सांवृतिक सत्ता सुरक्षित हैं। निस्स्वभावत्व का अर्थ ऐसा कथमपि नहीं है कि सभी पदार्थ रज्जुसर्पवत् अलीक हैं, अपितु इसका अभिप्राय है कि सभी पदार्थ केवल कल्पित हैं। घट-पटादि वस्तुऐं भी कल्पितमात्र हैं। परन्तु रज्जुसर्प तथा सर्प दोनों कल्पित होने पर भी रज्जुसर्प लोकव्यवहार से बाधित है, पर सर्प लोक व्यवहार से बाधित नहीं है। लोकव्यवहृत सत्ता या कल्पित सत्ता के आधार पर संसार तथा निर्वाण की व्यवस्था की जाती है। ऐसा कथमपि नहीं है कि संसार निस्स्वभाव हो, पर निर्वाण तथा तथागत की स्वभावसत्ता हो। स्वभावास्तित्व की दृष्टि से संसार एवं निर्वाण में कोई भेद नहीं है। शून्यता भी निस्स्वभाव है। अतः सभी पदार्थों के निस्स्वभावत्व होने पर भी शून्यता का स्वभावास्तित्व मानना तथा शून्यतावाद की वेदान्तदर्शन के साथ संमिश्रित करना माध्यमिक दर्शन के अत्यन्त विपरीत है। जिस युक्ति से घटादि पदार्थ निस्स्वभाव सिद्ध होते हैं, उसी युक्ति से निस्स्वभावता भी निस्स्वभाव सिद्ध होती हैं। अतः शून्यता का भी निस्स्वभावत्व सिद्ध होता हैं।

सम्पूर्ण जगत् एवं जागतिक पदार्थ मायावत् एवं प्रतिबिम्बवत् मिथ्या एवं निस्स्वभाव हैं। परन्तु इस का अभिप्राय ऐसा नहीं है कि जगत् एवं जागतिक पदार्थ मिथ्या मात्र हो और उस मिथ्यात्व का अधिष्ठान शून्यता हो जैसा कि वेदान्त दर्शन के अनुसार दृश्य जगत मिथ्यामात्र है; इनका कोई आस्तित्व ही नही है। जगत् की कल्पना केवल भ्रान्तिस्वरूप है। भ्रान्ति का अधिष्ठान ब्रह्म है।

माध्यमिक के अनुसार संवृत्तिसत्य एवं परमार्थसत्य दोनों का स्वभावत्व नहीं है और दोनों का व्यावहारिक या प्रज्ञप्त आस्तित्व है। अतः वेदान्तदर्शन के ब्रह्म तथा नागार्जुन की शून्यता या निस्स्वभावत्व में किञ्चिद् भी सादृश्यता नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग एवं फल की व्यवस्था

निस्स्वभावता एवं व्यवहृतसत्ता के अधार पर संसार एवं निर्वाण की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती हैं। यदि स्वभावास्तित्व हो तो उक्त व्यवस्था असम्भव हो जायगी। नागार्जुन ने कहा है—

सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते ।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यं यस्य न युज्यते ।।

(माध्यमिक कारिका आर्यसत्यपरीक्षा चतुर्विंशतितमं प्रकरणम् कारिका सं. १४)

इसलिए व्यवहृतसत्ता पर आद्धृत सम्भार मार्ग आदि समस्त मार्गों—जो प्रज्ञा एवं करुणात्मक है—कि व्यवस्था है। पुण्यसम्भार तथा ज्ञानसम्भार की व्यस्था है जिन की परिपूर्णता से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

शून्यता एवं करुणा की परिपूर्णता होने पर फल की अवस्था आती है। त्रिविध काय माध्यमिक मार्ग का फल है जो सकलजगत के हितों का सम्पादन करते हैं।

इसलिए नागार्जुन ने महाकरुणा पर आद्धृत धर्मकाय के स्वरूप को दृष्टि में रखकर स्तुति की है।

प्रस्तुत लघुग्रन्थ, स्तवद्वय का सारांश

निरौपम्य स्तव

इस लघुग्रन्थ में २५ कारिकाऐं हैं तथा धर्मकाय स्वरूप शून्यता का मुख्यरूप से वर्णन करते हुए भक्ति पूर्ण शब्दों द्वारा तथागत की स्तुति की गयी है। यथा—

कुदृष्टियों से ग्रस्त इस लोक के हित के सम्पादन में संलग्न एवं निस्स्वभावता के ज्ञाता तुझ जैसे अनुपम को नमस्कार है।

हे नाथ! तुम्हारे बुद्धचक्षु के द्वारा (निस्स्वभावता को प्रत्यक्षतः ज्ञान द्वारा) किञ्चिद भी स्वभावास्तित्व नहीं देखा, वही तुम्हारी अनुत्तर दृष्टि है, क्योंकि वही तत्त्व दर्शन है।

यहाँ (यथार्थ दर्शन क्षेत्र में) न तो बोध होता है और न ही बोधव्य होता है, क्योंकि कि सब निस्स्वभाव है। अहो! तुम उस धर्मता को जानते हो जो परम दुर्बोध है।

तुम ने न तो किसी का उत्पाद किया और न ही किसी का निरोध किया। अर्थात् तुमने स्वभावतः न तो मार्गों का क्रम उत्पन्न किया और न ही क्लेशों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विनाश किया। अपितु संसार एवं निर्वाण आदि की समानरूप से निस्स्वभावता के दर्शन से ही अनुत्तर पद या बुद्धपद (बुद्धत्व) प्राप्त किया।

हे नाथ! तुम स्वभावतः संसार के अपकर्षण (प्रहाण) से निवार्ण की प्राप्ति को नहीं मानते, अपितु तुम ने संसार की अनुपलब्धि अर्थात् संसार की निस्स्भावता से शान्ति (निर्वाण) को प्राप्त किया है।

तुम संक्लेश (संसार) तथा व्यवदान (निर्वाण) दोनों की एकरसता को जानते हो तथा धर्मधातु (निस्स्वभावत्व) में अभेदता के कारण तुम सर्वतः विशुद्ध हो।

हे विभु! तुम ने स्वभावतः एक भी अक्षर विनेयजनों को नहीं बताया; फिर भी समस्त विनेयजनों को धर्मोपदेश की वर्षा से संतृप्त किया, अर्थात् निस्स्वभाव की देशना से सभी को सन्तुष्टी प्रदान की।

इसका कारण यह है कि तुम न तो स्कन्धों में आसक्त हो और न ही धातुओं में और आयतनों में आसक्त हो। अतः सभी धर्मों की प्रति समचित्त तुम्हारा है। अर्थात् सभी धर्म को तुम समानरूप से निस्स्वभाव जानते हो।

हे नाथ! तुम में सत्त्वसंज्ञा (सत्त्व-स्वभावास्त्वि संज्ञा) कभी भी प्रवृत नहीं होती, तथापि दुःखित सत्त्वों के प्रति अत्यधिक करुणावान हो।

हे प्रभु! सुख, दुःख, आत्मा, नैरात्म्य, नित्य और अनित्य आदि की नानाविध विकल्पक बुद्धि तुम्हारी नहीं होती हैं क्योंकि तुमने सम्पूर्ण कल्पना जाल को काट दिया हैं।

धर्मों की न तो कोई स्वभावतः गति होती है और न ही कोई स्वभावतः आगति होती हैं। उसी प्रकार तेरी भी कोई स्वभावतः गति नहीं हैं। न तो कहिं पर राशिभाव से कोई धर्म स्वभावतः स्थित होता है। इस तथ्य को तुम सम्यक् रूप से जानते हो, इस लिए तुम परमार्थविद हो।

सर्वत्र सब के अनुगत होते हुए भी स्वभावतः तुम्हारा उत्पाद कहीं पर भी नही होता तथापि व्यवहारतः तुम्हारा जन्म, धर्मोपदेशना एवं काय-रचना आदि होती है। है महामुनि! तेरा यह स्वरूप अचिन्तनीय है।

तुम इस जगत को एकत्व एवं अनेकत्व से रहित तथा प्रतिश्रुति की भाँति निस्स्वभाव जानते हो तथा तुम यह भी जानते हो कि स्वभावतः किसी की संक्रान्ति तथा किसी का विनाश नहीं होता है। इसलिए तुम अनिन्दित एवं अद्भूत हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे प्रभु! तुम इस संसार को स्वप्न एवं माया सादृश्य शाश्वत तथा उच्छेद रहित और लक्ष्य एवं लक्षण से वर्जित जानते हो; क्योंकि संसार का स्भावास्त्वि नहीं है, इसलिए यह शाश्वत से रहित है। किन्तु इस का व्यवहृतास्तित्व है, इसलिए यह उच्छेद से वर्जित है। संसार स्वभावतः लक्ष्य तथा लक्षणों से परे हैं।

तुमने वासना के मूल रहित समस्त क्लेशों एवं पापों का प्रहाण किया, क्योंकि तुमने क्लोशों के स्वभावसत्ता से शून्यत्व का दर्शन कर अमृत्व (बुद्धत्व) को प्राप्त किया।

हे धीर! तुमने आरूप की तरह रूपों को भी अलक्षण देखा, अर्थात् सभी रूपों को निस्स्वभाव देखा जिससे तुम ने रूप का यथार्थत्व का दर्शन किया। इसलिए तुम्हारा उज्जवल रूपकाय दृष्टिगोचर होता है जो बत्तीस महापूरुष लक्षणों एवं अस्सी-अनुव्यञ्जनों से सुशोभित है।

रूपादि सांवृतिक धर्मों के दर्शन मात्र से सुदृष्टा (सर्वज्ञ) नहीं है, अपितु रूपादि के धर्म अर्थात् उनके निस्सवभावत्व के दर्शन से सुदृष्टा होता है। (रूपादि सांवृतिक धर्म एवं उनकी निस्स्वभावता दोनो को युगपद् प्रत्यक्षतः जाननेवाला ही सर्वज्ञ कहलाता है।)

उक्त प्रकार के तुम्हारे दिव्य काय विनेयजनों के दृष्टिगोचर होते हैं, तथापि तुम्हारे काय में न तो कोई सास्रव छिद्र होते है और न ही माँस, खून तथा हड्डियाँ होती हैं, अपितु तुम्हारे दिव्य रूपकाय आकाश में इन्द्रधातुष की तरह दिखाई देते हैं।

तुम्हारे काय में न तो कोई रोग होता है और न ही कोई अशुचि होती है। तुम्हें कोई भूख आरै प्यास नहीं होती है। तथापि लोकानुवृत्ति के लिए तुम सभी लौकिक प्रक्रियाऐं प्रदर्शित करते हो।

कर्म-आवरण से सम्बद्ध सभी दोषों को तुमने त्याग (प्रहाण) दिये, फिर भी लोकानुकम्पा द्वारा तुम कर्मों की गति को प्रदर्शित करते हो।

हे प्रभु! धर्मधातु में कोई भेद नही होता है, इसलिए यान में भी कोई भेद नही किया जा सकता, तथापि सत्त्वों (जीवों) को सही मार्ग में प्रविष्ट कराने के लिए तुमने त्रिविध यान की देशना की। श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान एवं महायान या बुद्धयान-ये तीन यान हैं। व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार किसी भी यान में प्रवेश कर सकता हैं। किन्तु अन्तिम यान बुद्धयान ही हैं।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

तुम्हारे काय नित्य ध्रुव शिव एवं धर्ममय (धर्मकायस्वरूप) हैं और तुम सर्व विजयी हो, फिर भी विनेयजनों को सन्मार्ग दिखाने के लिए तुमने अपनी निवृत्ति का प्रदर्शन किया अर्थात् तुमने निर्वाणगत होता दिखाया।

तुम्हारी सभी क्रिया अनाभोगेन प्रवृत्त होती हैं विभिन्न लोकधातुओं में संसार से मुक्ति के इच्छुक श्रद्धावान् लोग तुम्हारा जन्म, निर्वाण, अभिसंबोधि-प्राप्ति, धर्मचक्रप्रवर्त्तन आदि देखते हैं। हे नाथ! तुम्हारे पास न तो कोई चिन्ता है और न ही कोई कल्पना एवं कोई प्रकम्पन है, तथापि तुम जगत में बुद्ध के सभी चरित्र अनाभोगेन सम्पन्न करते हो।

इस प्रकार अचिन्त्य एवं अप्रमेय सुगत को गुणों के पुष्पों से अलङ्कृत किया, इस से मुझे जो कुशल और पुण्य प्राप्त होगा, उसी से समस्त जीव एवं प्राणी अत्यन्त दुर्ज्ञेय, गम्भीर बुद्धधर्म के पात्र हों।

परमार्थस्तव का सारांश

इस स्तव में केवल ११ कारिकाऐं हैं। इस में परमार्थ या शून्यता के यथार्थ ज्ञाता होने की दृष्टि से बुद्ध की स्तुति की गयी हैं। बुद्ध का वास्तविक रूप धर्मकाय है और धर्मकाय परमार्थसत्य है तथा शून्यतास्वरूप है। उस धर्मकाय के साक्षात्कार की दृष्टि से बुद्ध की स्तुति करना इस स्तव का मुख्य विषय है। इस में भी भक्तिपूर्ण शब्दों में स्तुति है। यथा—

हे नाथ! धर्मकाय तो अनुपन्न है, अनालय है, लोक-उपमाओं से अतीत है तथा वाक् पथ से अतीत है, अर्थात् अनिर्वचनीय है, इसलिए यह समझ में नही आता कि तेरी स्तुति कैसे की जाय।

तथापि तुम्हारा स्वरूप यथार्थ में जैसा भी हो लोकप्रज्ञाप्ति या लौकिकव्यवहृत समझ कर मैं तथता के ज्ञाता के रूप में बड़ी भक्ति से तुम्हारी स्तुति करूँगा।

हे नाथ! स्वभावतः अनुत्पन्न होने के कारण तुम्हारी कोई उत्पत्ति नहीं है। न तो तुम्हारी गति है और नही तुम्हारी आगति है, क्योंकि तुम निःस्वभाव स्वरूप के हो, अतः तुम को नमस्कार है।

तुम्हारा स्वरूप धर्मकाय है, अपितु न तो तुम भावस्वरूप हो और न ही अभावस्वरूप हो। तुम उच्छेदस्वरूप भी नहीं हो, क्योंकि तुम व्यवहारतः सत् हो और शाश्वत स्वरूप भी नहीं हो क्योंकि तुम स्वभावतः असत् हो। तुम न तो नित्य हो और न ही अनित्य हो। तुम नित्य इसलिए नहीं हो, क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम सदा जगत के हित सम्पादन हेतु क्रियाशील हो। अनित्य इसलिए नहीं हो, क्योंकि तुम यावत् संसार जगत् हित के लिए विद्यमान रहते हो। इसलिए इन द्वैतों से परे तुम को नमस्कार है।

तुम्हारे वास्तविक काय धर्मकाय का न तो लाल रंग है और न ही हरा, स्वर्ण, पीला, काला तथा सफेद रंग आदि होते है। वर्णविहीन तुम को नमस्कार हैं।

उसी प्रकार तुम्हारे धर्मधातुस्वरूप धर्मकाय में न तो महानता है और न ही अल्पत्व, दीर्घत्व एवं परिमण्डलत्व है। तुम तो अपरिमित गति को प्राप्त हो। अतः तुम जैसे अपरिमित को नमस्कार है।

उसी प्रकार तुम न तो दूर में स्थित हो और न ही समीप में, आकाश मे, पृथ्वी में, संसार में और निर्वाण मे स्थित हो, क्योंकि स्वभावतः तुम किसी भी स्थान में स्थित नहीं हो। अस्थान तुम को नमस्कार है।

हे महागम्भीर! इस प्रकार तुम सभी धर्मों में स्थित नहीं हो अपितु धर्मधातुगति प्राप्त हो। तुमने परम गम्भीर धर्मकाय को प्राप्त किया। इसलिए तुम को नमस्कार है।

इस पद्धति से स्तुति हो सकती है; इससे भिन्न किस प्रकार स्तुति की जा सकती है, अर्थात् नहीं की जा सकती है। क्योंकि सभी धर्म स्वभावतः शून्य है। इस स्थिति में कौन किस की स्तुति कर सकता हैं। अर्थात् स्भावत्व की दृष्टि से स्तुतिकर्त्ता एवं जिस की स्तुति की जा रही है, वे दोनों ही अनुपलब्ध हैं।

तुम तो स्वभावतः उत्पाद एवं विनाश वर्जित हो तथा जिसका अन्त और मध्य नहीं हो तो उसका ग्रहण और ग्राह्य भी नहीं हो सकता हैं। अतः कौन तुम्हारी स्तुति कर सकता है। अर्थात् स्वभावतः कोई भी किसी की स्तुति नहीं कर सकता हैं।

स्वभावतः गतागत एवं गति वर्जित सुगत की स्तुति करने से जो पुण्य होगा, उसी से इस लोक को सौगत गति प्राप्त हो।

इस प्रकार व्यवहृत सत्ता एवं परमार्थसत्य दोनों का प्रतिपादन करते हुए त्रिकाय की स्तुति की गयी हैं।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरौपम्यस्तव

THE HYMN TO THE INCOMPARABLE ONE

निरौपभ्यं नमस्तुभ्यं निःस्वभाववेदिने ।
यस्त्वं दृष्टिविपन्नस्य लोकस्यास्य हितोद्यतः ।।१।।

O incomparable One, homage unto Thee, Who knowest (the thruth that phenomena) have no essence of their own! Thou art eager of the benefit of this world, misled by different theories.

न च नाम त्वया किंचिदृष्टं बौद्धेन चक्षुषा ।
अनुत्तरा च ते नाथ दृष्टिस्तत्त्वदर्शिनी ।।२।।

Nothing is seen by Thyself with the eye of the enlightened One, Sublime, O Lord, is thy view which perceives the truth.

न बौद्धा न च बोधव्यमस्तीह परमार्थतः ।
अहो परमदुर्बोधां धर्मतां बुद्धवानसि ।।३।।

From the standpiont of metaphysical truth there in neither knower nothing to be known. Oh! Thou knowest the reality very difficult to be known.

न त्वयोत्पादितः कश्चिद्धर्मो नापि निरोधितः ।
समतादर्शनैव प्राप्तं पादमनुत्तरम् ।।४।।

Thou dost nither create nor destroy anything; having perceived the sameness of everything, thou reachedst the most sublime condition.

न संसारापकर्षेण त्वया निर्वाणमीप्सितम् ।
शान्तिस्तेऽधिगता नाम संसारानुपलब्धितः ।।५।।

Thou dost not take nirvāṇa as the suppression of saṇsāra, since thou, O Lord dost not perceive any saṃsāra, thou obtainedst quiescence.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वं विवेदैकरसतां संक्लेशव्यवदानयोः ।
धर्मधात्वविनिर्भेदाद्विशुद्धश्चासि सर्वतः ।।६।।

Thou knowest that the defilement of passion and the purification of virtue have the same taste; since no discrimination is possible in the reality thou art completely pure.

नोदाहृतं त्वया किञ्चिदेकमप्यक्षरं विभो ।
कृत्स्नश्च वैनेयजनो धर्मवर्षेण तर्पितः ।।७।।

Thou, O Master, didst not utter a single syllable, and (yet) the entire (mass of) people fit to be converted was gratified shawer of the law.

न तेऽस्ति सक्ति स्कन्देषु धातुष्वायतनेषु च ।
आकाशसमचित्तस्त्वं सर्वधर्मेष्वनिश्रितः ।।८।।

Thou art not adherent to the skandhas to the dhātus, or to the āyatanas, Thou art mind only (as infinite and pure) as the ether, nor dost Thou reside in any contingent thing (dharma).

सत्त्वसंज्ञा च ते नाम सर्वथा न प्रवर्त्तते ।
दुःखार्तेषु च सत्त्वेषु त्वमतीव कृपात्मकः ।।९।।

The notion of being does not occure to Thee at all, and yet Thou art exceedingly compassionate towards all beings tortured by sorrw and pain.

सुखदुःखात्मनैरात्म्यनित्यानित्यादिषु प्रभो ।
इति नानाविकल्पेषु बुद्धिस्तव न सज्जते ।।१०।।

Thy mind, O Lord, is not attached to those multifarious opinions as regards pleasure and pain, existence of an ego, nonexistence of an ego affirmation of some-eternal being, negation of some eternal being.

न गतिर्नागतिः काचिद्धर्माणामिति ते मति:[१] ।
न क्वचिद्राशिभावोऽतोऽसि परमार्थवित् ।।११।।

Thy belief is that thing do not go (changing into some other condition) nor do they come (into existence by the agency of some force); nor dost Thou admit that there is a whole as the conglomeration of many parts. therefore Thou knowest the absolut truth.

१. तिब्बती अनुवाद में 'गति' है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वत्रानुगतश्चासि न च जातोऽसि कुत्रचित् ।
जन्मधर्मशरीराभ्यामचिन्त्यस्त्वं महामुने ।।१२।।

Thou art followed everywhere, but Thou art born nowhere; oh great ascetic, Thou art beyond our though, as regards attributes of birth and corporeity.

एकानेकत्वरहितं प्रतिश्रुत्कोपमं जगत् ।
संक्रान्तिनाशापगतं बुद्धावांस्त्वमनिन्दितः ।।१३।।

Thouh the irreproaehable One, didst understand that this world is neither unity nor multiplicity; it is like an echo, it is subject neither to changing (into other forms) nor to destruction.

शाश्वतोच्छेदरहितं लक्ष्यलक्षणवर्जितम् ।
संसारमवबुद्धस्त्वं स्वप्नमायादिवत्प्रभो ।।१४।।

Thou, my Lord didst know that the cycle of existence is neither eternal nor impermanent, that in it there is no predicable nor predicate, (since it is) similar to a dream or to a magic play.

वासनामूलपर्यन्ताः क्लेशास्तेऽनघ निर्जिताः ।
क्लेशप्रकृतितश्चैव त्वयामृतमुपार्जितम् ।।१५।।

All defilements which have their root and their fruit in the faculty of projecting new karmic series have been completely over come by Thee, immaculate One by (realizing) the nature of the defilements thou obthinest immortality.

अलक्षणं त्वया धीर दृष्टं रूपमरूपवत् ।
लक्षणोज्वलगात्रश्च दृश्यसे रूपगोचरे ।।१६।।

O thou, firm in resolve, Thou didst see the world of material appearances as devoid of any predicate and like immaterial. Still in the material sphere Thou appearest with a body shinig with the (thirty two) marks of the great man.

न च रूपेण दृष्टेन पूर्णमित्यभिधीयसे ।
धर्मे दृष्टे सुदृष्टोऽसि धर्मता न च दृश्यते ।।१७।।

But even if Thy appearance has been seen, it cannot be said that thouhast been seen, When object has been seen, Thou art well seen, but reality is not the object of vision.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शौषिर्यं नास्ति ते काये मांसास्थिरुधिरं न च ।
इन्द्रायुधमिवाकाशे कायं दर्शितवानसि ।।१८।।

Thy body has not the nine holes (as mortal beings have) it has no flash no bones; no blood, still Thou manifestedst a body (which is a merereflex) just as the rainbow in the sky.

नामयो नाशुचिः काये क्षुत्तृष्णासम्भवो न च ।
त्वया लोकानुवृत्त्यर्थं दर्शिता लौकिको क्रिया ।।१९।।

Neither disease nor impurity are in Thy body; it is not subject to hunger or thirst and still in order to comply with the world, Thou hast shown a worldly behaviour.

कर्मावरणदोषश्च सर्वथानघ नास्ति ते ।
त्वया लोकानुकम्पार्थं कर्मप्लुतिः प्रदर्शिता ।।२०।।

O impeccable One, no fault whatsoever (caused) by the obstruction of the action can be found in Thee; still on sccount of thy pity for this world Thou hast shown (an apparent) diving into karman.

धर्मधातोरसम्भेदाद्यानभेदोऽस्ति न प्रभो ।
यानत्रितयमाख्यातं त्वया सत्त्वावतारतः ।।२१।।

Since the reality cannot be differentiated there are no different vehicles (of liberation); only in order to convert living beings (accorading to their different tendencies and maturity) Thou preachedst the three vehicles.

नित्यो ध्रुवः शिवः कायस्तव धर्ममयो जिनः ।
विनेयजनहेतोश्च दर्शिता विर्वृतिस्त्वया ।।२२।।

The body is eternal, imperishable, auspicious, it is the very low, it is the Victorious one, still on account of the people to be converted (to the path of salvation) Thou showedst Thy passing away into nirvāṇa.

लोकधातुष्वमेयेषु त्वद्भक्तैः पुनरीक्षसे ।
च्युतिजन्मभिसंबोधिचक्रनिर्वृतिलालसैः ।।२३।।

In the infinite universe Thou art now and then behold by those who have faith in Thee, and are anxious (to become Buddhas and to imitate Thy) descending upon earth, Thy birth Thy illumination, Thy preaching, thy entering into nirveṇa.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न तेऽस्ति मन्यना नाथ न विकल्पो न चेङ्गना ।
अनाभोगेन ते लोके बुद्धकृत्यं प्रवर्तते ।।२४।।

No feeling, O Lord , no ideation, no motion in Theeh. Thou art accomplishing in this world the duty of a Buddha, without participating in it.

इति सुगतमचिन्त्यमप्रमेयं गुणकुसुमैरवकीर्य यन्मयाप्तम् ।
कुशलमिह भवन्तु तेन सत्त्वाः परमगम्भीरमुनीन्द्रधर्मभाजः ।।२५।।

।। इति निरौपम्यस्तवः समाप्तः ।।

I have spreed over the perfect One, who is beyond our thoughts and any limitation, the flowers of his very attributes. Through the merit which I have begot may all living beings in this world participate in the extremely deep low of the sublime ascetic.

परमार्थस्तवः

The Hyumn the Supreme Reality

कथं स्तोष्यामि ते नाथमनुत्पन्नमनालयम् ।
लोकोपमामतिक्रान्तं वाक्पथातीतगोचरम् ।।१।।

How can I praise Thee, O lord, (since Thou art) unborn, residing in no place, surpassing any wordly comparison, abiding in the sphere which is beyond the path of words.

तथापि यादृशो वासि तथतार्थेषु गोचरः ।
लोकप्रज्ञप्तिमागम्य स्तोष्येऽहं भक्तितो गुरुम् ।।२।।

Any haw, having recourse to worldly convention, I shall praise my Master with devotion, as Thou art (only) accessible in the sense of reality.

अनुत्पन्नस्वभावेन उत्पादस्ते न विद्यते ।
न गतिर्नागतिर्नाथास्वभावाय नमोऽस्तु ते ।।३।।

Since Thou hast the nature of the unborn for Thee there in no birth no coming, no going. Homage unto Thee O lord who art devoid of any essence.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न भावो नाप्यभावोऽसि नोच्छेदो नापि शाश्वतः ।
न नित्यो नाप्यनित्यस्त्वमद्वयाय नमोऽस्तु ते ।।४।।

Thou art neither existence nor non-existence neither impermanent nor perennial, neither eternal nor non-enternal. Homage unto Thee who art beyond any duality.

न रक्तो हरिसमांजिष्टो वर्णस्ते नोतलभ्यते ।
न पीतकृष्णशुक्लो वाऽवर्णाय नमोऽस्तु ते ।।५।।

No colour is percevied in Thee, neither red nor green nor scarlet, neither yellow nor black nor white. Homage Unto Thee, who art without collour.

न महान्नापि ह्रसोऽसि न दीर्घपरिमण्डलः ।
अप्रमाणगतिं प्राप्तोऽप्रमाणाय नमोऽस्तु ते ।।६।।

Thou art neither big nor small, neither long nor globular. Thou hast reached the stage of the limitless. Homage unto Thee, the unlimited One.

न दूरे नापि चासन्ने नाकाशे नापि वा क्षितौ ।
न संसारे न निर्वाणेऽस्थिताय नमोऽस्तु ते ।।७।।

Thou art neither faraway nor near, neither in the sky nor in the earth, neither in the cycle of existence nor in Nirvan Homage unto Thee who dost reside in no plase.

अस्थितः सर्वधर्मेषु धर्मधातुगतिं गतः ।
परां गंभीरतां प्राप्तो गंभीराय नमोऽस्तु ते ।।८।।

Thou dost not stay in any dharma, but art gone into the condition of the absolute and hast obtained the sublime deepness, Homage unto thee the deep One.

एवं स्तुतः स्तुतो भूयादथवा किमुत स्तुतः ।
शून्येषु सर्वधर्मेषु कः स्तुतः केन वा स्तुतः ।।९।।

Praised in this way, let Him be praised; but has He been praiseed? When all dharmas are void who in praised or by whom can he be praised?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कस्त्वां शक्नोति संस्तोतुमुत्पादव्ययवर्जितम् ।
यस्य नान्तो न मध्यं वा ग्राहो ग्राह्यं न विद्यते ।।१०।।

Who can praise Thee, as Thou art devoid of birth and decay, and since neither end nor middling, neither perception nor perceived exist for Thee?

न गतं नागतं स्तुत्वा सुगतं गतिवर्जितम् ।
तेन पुण्येन लोकोऽयं व्रजतां सौगतीं गतिम् ।।११।।

।। परमार्थस्तवः समाप्तः ।।

I have praised the Well gone (sugata) who is neither gone nor come, and who is deviod of any going. Through the merit so acquired may this world go along the path of the well gone.

the Hyum the Supreme Reality ends.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org